पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : १२

संपादक
पं० दलसुख मालवणिया
डॉ० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग ४

कर्मसाहित्य और आगमिक प्रकरण

लेखक
डॉ० मोहनलाल मेहता
प्रो० हीरालाल र० कापडिया

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: १२ :

सम्पादक :
पं० दलसुख मालवणिया
डॉ० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग ४

कर्म-साहित्य व आगमिक प्रकरण

लेखक :
डॉ० मोहनलाल मेहता
व
प्रो० हीरालाल र० कापड़िया

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणमी–५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मान्यता प्राप्त)
आई० टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी–५
फोन : ३११४६२

प्रकाशन-वर्ष :
प्रथम संस्करण सन् १९६८
द्वितीय संस्करण सन् १९९१

मूल्य : [redacted] रुपए

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी–१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का यह चतुर्थ भाग है। इस दिशा में हम आधा मार्ग तय कर चुके हैं। हमारा शेष श्रम और भार हल्का हो गया अनुभव हो सकता है। प्रस्तुत भाग के विद्वान् लेखकों के प्रति प्रकाशक आभार व्यक्त करते हैं। उन्होंने उचित परिश्रम से जैन साधारण और विशेष पर महान् उपकार किया है। जैन वाङ्मय के अध्ययन की एक दिशा को सुगम एवं सरल बनाया है।

इस भाग के विषयों में जैन दर्शन का परम अंग 'कर्मवाद' भी है। लेखकों ने इस ग्रन्थ के प्रारंभ में ही उसके संबंध में विवरण दिया है। गुरु नानकजी[1] ने अपने अतुलनीय शब्दों में इसी भाव को "करनी आपो आपनी, क्या नेड़े क्या दूर" से उसके प्रथम पाद को कि "चंगयायियाँ बुरयायियाँ वाचे धरम हुदूर" की स्पष्टता की है। लेखकों ने 'कर्मवाद' के पाँच सिद्धान्त इस प्रकार लिखे हैं :—

१. प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल जरूर होता है। दूसरे शब्दों में कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती।

२. यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन में नहीं मिलता तो उसके लिए भविष्य में जीवन धारण करना अनिवार्य है।

(यह तर्क संगत है। प्राणी का जीवन पौद्गलिक (भौतिक) शरीर के साधन से ही व्यतीत होता है। पुद्गल ही 'जीव' का अनादि काल से साथी है और उसके भवान्तर का कारण है।)

३. कर्म का करनेवाला और भोगनेवाला स्वतन्त्र आत्मतत्त्व एक भव से दूसरे भव में गमन करता रहता है। किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह

---

१. पवन गुरु पानी पिता माता धरत महत।
दिवस रात दोरा दाई दाया खेले सगल[1] जगत॥
चंगयायियाँ[2] बुरयायियाँ[3] वाचे[4] धरम हुदूर[5]।
करनी आपो आपनी क्या नेड़े[6] क्या दूर[7]॥
जिनही नाम ध्याया गए मुसक्कत[8] घाल[9]।
नानक ते मुख उजले कीती छुट्टी[10] नाल॥

१. सकल। २. अच्छाइयाँ। ३. बुराइयाँ। ४. देख रहा है। ५. दूर से या अलग से। ६. समीपस्थ हो। ७. या दूर हो। ८. कष्ट। ९. नष्ट कर गए। १०. उनके मुख उजले तो हुए ही, साथ ही छुटकारा भी हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक निश्चित कालमर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्धन करता है। कर्मों की इस भोग-बन्धन की परम्परा को तोड़ना भी उसकी शक्ति से बाहर नहीं है।

(कोई एक पौद्गलिक अवस्था, जिसमें नरक भी है, सदैव अनन्त अग्नि में जलने, दाँत पीसने या रोते रहने की अवस्था नहीं है।)

४. जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य है। व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दुख में जो असामञ्जस्य या असमानता नजर आती है वह कर्मजन्य ही है।

५. कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। इसके अलावा जितने भी हेतु नजर आते हैं, वे सब सहकारी अथवा निमित्तभूत हैं।

विश्व षड्द्रव्यों से प्रणीत है। ये द्रव्य अनादि-अनन्त सदैव और स्वयमेव विद्यमान हैं। उनमें से एक द्रव्य 'अजीव' है। वह प्रायः वही है जिसे वर्तमान में विज्ञान 'मेटर' कहता है। 'जीव' के प्राणतत्त्व के विपरीत यह अप्राणतत्त्व है जो अस्थिर और अनन्त परिवर्तन स्वभावी है। जैन विचारानुसार 'अजीव' तत्त्व प्राणी के शरीर में 'जीव' तत्त्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध में तो है ही, साथ ही उसके अनुसार सोचने से, बोलने से या क्रियाशील होने से प्रतिक्षण उस 'अजीव' द्रव्य के सूक्ष्म परमाणुओं को प्राणी आकर्षित करता रहता है। इसके मूल में प्राणी के चिन्तन, वाणी और क्रिया की तीव्रता भी कारण बनती रहती है। कर्म को कार्य करने के लिए बाहरी शक्ति की जरूरत नहीं है। वह स्वयमेव क्रियाशील है। क्रोध, मान, माया और लोभ जो लीला रचते हैं उसका अलग प्रकरण है।

यह विषय बड़ा गम्भीर है। जैन दार्शनिकों ने इस पर उतने ही विस्तार से आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा हिस्सा आगमिक प्रकरणों से सम्बन्धित है। इसका एक प्रकरण योग और अध्यात्मविषयक है।

हर एक प्रकरण में विद्वान् लेखकों ने ज्ञात साहित्य का विस्तृत परिचय दिया है। खोज के मार्ग में यह परिचय बहुत उपयोगी होगा।

इस ग्रन्थ को विद्वज्जगत् और जनता के अध्ययनार्थ प्रस्तुत करके अति संतोष का अनुभव करते हैं।

रूपमहल
फरीदाबाद
३०. १२. ६८

हरजसराय जैन
मन्त्री,
श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

यह जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का चतुर्थ भाग है। इसे पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रकाशित तीन भागों का विद्वत्समाज व सामान्य पाठकवृन्द ने हार्दिक स्वागत किया। प्रस्तुत भाग भी विद्वानों व अन्य पाठकों को उसी तरह पसन्द आएगा, ऐसा विश्वास है।

पूर्व प्रकाशित तीनों भाग आगम-साहित्य से सम्बन्धित थे। प्रस्तुत भाग का सम्बन्ध आगमिक प्रकरणों एवं कर्म-साहित्य से है। जैन साहित्य के इस विभाग में सैकड़ों ग्रन्थों का समावेश होता है। कर्म-साहित्य से सम्बन्धित पृष्ठ मेरे लिखे हुए हैं तथा आगमिक प्रकरणों का परिचय जैन साहित्य के विशिष्ट विद्वान् प्रो० हीरालाल र० कापड़िया ने गुजराती में लिखा जिसका हिन्दी अनुवाद प्रो० शान्तिलाल म० वोरा ने किया है। मैं इन दोनों विद्वानों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत भाग के सम्पादन में भी पूज्य पं० दलसुखभाई का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। ग्रंथ के मुद्रण के लिए संसार प्रेस का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५
२४-१२-६८

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

द्वितीय संस्करण

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आगमिक प्रकरणों व कर्मसाहित्य के परिचयात्मक विवरण पर आधारित चतुर्थ खण्ड का प्रथम संस्करण सन् १९६८ में प्रकाशित हुआ था। विगत वर्ष से उसकी प्रतियाँ विक्रय हेतु उपलब्ध नहीं थीं। इसकी उपयोगिता एवं इसकी माँग को दृष्टि में रखकर हमने इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया। इसमें प्रथम संस्करण की सामग्री ही यथावत रूप में रखी गई है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की उपयुक्त व्यवस्था संस्थान के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने की अतः सर्वप्रथम मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। प्रूफ संशोधन का कार्य संस्थान के शोधाधिकारी डॉ० अशोक कुमार सिंह सहशोधाधिकारी डॉ० शिव प्रसाद, श्री दीनानाथ शर्मा, एवं शोध सहायक डॉ० इन्द्रेशचन्द्र सिंह ने सम्पन्न किया, इस सहयोग के लिए हम उनके आभारी हैं।

अन्त में इस ग्रन्थ के सुन्दर एवं शीघ्र छपाई हेतु में वर्धमान मुद्रणालय वाराणसी के संचालकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मन्त्री

भूपेन्द्रनाथ जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत पुस्तक में

कर्म-साहित्य

१. कर्मवाद	[illegible]–२६
कर्मवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य	६
कर्मविरोधी मान्यताएँ	७
कर्मवाद का मन्तव्य	११
कर्म का अर्थ	१२
कर्मबन्ध का कारण	१३
कर्मबन्ध की प्रक्रिया	१४
कर्म का उदय और क्षय	१५
कर्मप्रकृति अर्थात् कर्मफल	१५
कर्मों की स्थिति	२१
कर्मफल की तीव्रता-मन्दता	२२
कर्मों के प्रदेश	२२
कर्म की विविध अवस्थाएँ	२२
कर्म और पुनर्जन्म	२६
२. कर्मप्राभृत	२७–५९
कर्मप्राभृत की आगमिक परम्परा	२७
कर्मप्राभृत के प्रणेता	२८
कर्मप्राभृत का विषय-विभाजन	२९
जीवस्थान	३०
क्षुद्रकबन्ध	४८
बन्धस्वामित्वविचय	५०
वेदना	५१
वर्गणा	५६
महाबन्ध	५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. कर्मप्राभृत की व्याख्याएँ ६०–८७

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म ६०

शामकुण्डकृत पद्धति ६०

तुम्बुलूरकृत चूडामणि व पंजिका ६०

समन्तभद्रकृत टीका ६१

बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति ६१

धवलाकार वीरसेन ६१

धवला टीका ६२

४. कषायप्राभृत ८८–९८

कषायप्राभृत की आगमिक परंपरा ८८

कषायप्राभृत के प्रणेता ८९

कषायप्राभृत के अर्थाधिकार ९०

कषायप्राभृत की गाथासंख्या ९१

विषय-परिचय ९१

५. कषायप्राभृत की व्याख्याएँ ९९–१०६

यतिवृषभकृत चूर्णि १००

वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला १०३

६. अन्य कर्मसाहित्य १०७–१४२

दिगम्बरीय कर्मसाहित्य १०९

श्वेताम्बरीय कर्मसाहित्य ११०

शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति ११४

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ १२१

चन्द्रर्षिमहत्तरकृत पंचसंग्रह १२४

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ १२६

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ १२६

जिनवल्लभकृत सार्धशतक १२८

देवेन्द्रसूरिकृत नव्य कर्मग्रन्थ १२८

नव्य कर्मग्रन्थों की व्याख्याएँ १३२

भावप्रकरण १३३

बंधहेतूदयत्रिभंगी १३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधोदयसत्ताप्रकरण १३३
नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार १३३
गोम्मटसार की व्याख्याएँ १४०
लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) १४१
लब्धिसार की व्याख्याएँ १४२
पंचसंग्रह १४२

आगमिक प्रकरण

१. आगमिक प्रकरणों का उद्भव और विकास १४३–१४७
२. आगमसार और द्रव्यानुयोग १४८–१९२
आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ १४९
प्रवचनसार १४९
समयसार १५१
नियमसार १५४
पंचास्तिकायसार १५६
आठ पाहुड़ १५८
जीवसमास १६५
जीवविचार १६६
पण्णवणातइयपयसंगहणी १६७
जीवाजीवाभिगमसंगहणी १६७
जम्बूद्वीपसमास १६७
समयखित्तसमास अथवा खेत्तसमास १६८
क्षेत्रविचारणा १६९
खेत्तसमास १७०
जंबूदीवसंगहणी १७०
संगहणी १७१
संखित्तसंगहणी अथवा संगहणिरयण १७२
विचारछत्तीसियासुत्त १७३
पवयणसारुद्धार १७४
सत्तरिसयठाणपयरण १८०
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसार	१८१
नवतत्तपयरण	१८२
अंगुलसत्तरि	१८३
छट्ठाणपयरण	१८३
जीवाणुसासण	१८४
सिद्धपंचासिया	१८५
गोयमपुच्छा	१८६
सिद्धान्तार्णव	१८६
वनस्पतिसप्ततिका	१८७
कालशतक	१८७
शास्त्रसारसमुच्चय	१८७
सिद्धान्तालापकोद्धार, विचारामृतसंग्रह अथवा विचारसंग्रह	१८७
विंशतिस्थानकविचारामृतसंग्रह	१८८
सिद्धान्तोद्धार	१८८
चच्चरी	१८८
वीसिया	१८९
कालसरूवकुलय	१८९
आगमियवत्थुविचारसार	१९०
सूक्ष्मार्थविचारसार अथवा सार्धशतकप्रकरण	१९१
प्रश्नोत्तररत्नमाला अथवा रत्नमालिका	१९१
सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय	१९२
३. धर्मोपदेश	**१९३–२२६**
उवएसमाला	१९३
उवएसपय	१९५
उपदेशप्रकरण	१९५
धम्मोवएसमाला	१९६
उवएसमाला	१९६
उवएसरसायण	१९७
उपदेशकंदली	१९८
हितोपदेशमाला-वृत्ति	१९८
उवएसचिंतामणि	१९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबोधचिन्तामणि	१९९
उपदेशरत्नाकर	२००
उपदेशसप्ततिका	२०१
उपदेशतरंगिणी	२०२
आत्मानुशासन	२०२
धर्मसार	२०३
धर्मबिंदु	२०३
धर्मरत्नकरण्डक	२०४
धम्मविहि	२०४
धर्मामृत	२०५
धर्मोपदेशप्रकरण	२०७
धर्मसर्वस्वाधिकार	२०७
भवभावणा	२०७
भावनासार	२०८
भावनासंधि	२०८
बृहन्मिथ्यात्वमथन	२०९
दरिसणसत्तरि अथवा सावयधम्मपयरण	२०९
दरिसणसुद्धि अथवा दरिसणसत्तरि	२०९
सम्मत्तपयरण अथवा दंसणसुद्धि	२०९
सम्यक्त्वकौमुदी	२१०
सद्धिसय	२११
दाणसीलतवभावणाकुलय	२१२
दाणुवएसमाला	२१२
दानप्रदीप	२१२
सीलोवएसमाला	२१४
धर्मकल्पद्रुम	२१५
विवेगमंजरी	२१६
विवेगविलास	२१७
वद्धमाणदेसणा	२१८
वर्द्धमानदेशना	२१९
संबोहपयरण अथवा तत्तपयासग	२२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबोहसत्तरि २२०
सुभाषितरत्नसंदोह २२१
सिन्दूरप्रकर २२२
सूक्तावली २२२
वज्जालग्ग २२२
नीतिधनद यानी नीतिशतक २२३
वैराग्यधनद यानी वैराग्यशतक २२३
पद्मानन्दशतक यानी वैराग्यशतक २२४
अणुसासणंकुसकुलय २२४
रयणत्तयकुलय २२४
गाहाकोस २२४
मोक्षोपदेशपंचाशत २२४
हिओवएसकुलय २२५
उवएसकुलय २२५
नाणप्पयास २२५
धम्माधम्मवियार २२५
सुबोधप्रकरण २२५
सामण्णगुणोवएसकुलय २२५
आत्मबोधकुलक २२६
विद्यासागरश्रेष्ठिकथा २२६
गद्यगोदावरी २२६
कुमारपालप्रबंध २२६
दुवालसकुलय २२६
४. योग और अध्यात्म २२७–२६६
सभाष्य योगदर्शन की जैन व्याख्या २२८
योग के छः अंग २२९
योगनिर्णय २२९
योगाचार्य की कृति २३०
हारिभद्रीय कृतियाँ २३०
योगबिंदु २३०
योगशतक २३३
योगदृष्टिसमुच्चय २३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय	२३७
जोगविहाणवीसिया	२३८
परमप्पयास	२३९
जोगसार	२४०
योगसार	२४१
योगशास्त्र अथवा अध्यात्मोपनिषद्	२४२
ज्ञानार्णव, योगार्णव अथवा योगप्रदीप	२४७
ज्ञानार्णवसारोद्धार	२४८
ध्यानदीपिका	२४८
योगप्रदीप	२४९
झाणज्झयण अथवा झाणसय	२५०
ध्यानविचार	२५२
ध्यानदण्डकस्तुति	२५४
ध्यानचतुष्टयविचार	२५५
ध्यानदीपिका	२५५
ध्यानमाला	२५५
ध्यानसार	२५५
ध्यानस्तव	२५५
ध्यानस्वरूप	२५५
अनुप्रेक्षा	२५५
बारसाणुवेक्खा	२५५
बारसानुवेक्खा अथवा कार्तिकेयानुप्रेक्षा	२५६
द्वादशानुप्रेक्षा	२५६
द्वादशभावना	२५६
द्वादशभावनाकुलक	२५६
शान्तसुधारस	२५६
समाधितंत्र	२५७
समाधितंत्र अथवा समाधिशतक	२५७
समाधिद्वात्रिंशिका	२५८
समताकुलक	२५८
साम्यशतक	२५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्मकल्पद्रुम २५९
अध्यात्मरास २६१
अध्यात्मसार २६१
अध्यात्मोपनिषद् २६२
अध्यात्मबिंदु २६३
अध्यात्मोपदेश २६३
अध्यात्मकमलमार्तंड २६३
अध्यात्मतरंगिणी २६४
अध्यात्माष्टक २६४
अध्यात्मगीता २६४
गुणस्थानक्रमारोह, गुणस्थानक अथवा गुणस्थानरत्नराशि २६४
गुणस्थानकनिरूपण २६५
गुणस्थानद्वार २६५
गुणट्ठाणकमारोह २६५
गुणट्ठाणसय २६५
गुणट्ठाणमग्गणट्ठाण २६५
उपशमश्रेणिस्वरूप और क्षपकश्रेणिस्वरूप २६६
खवग-सेढी २६६
ठिइ-बंध २६६

५. अनगार और सागार का आचार २६७–२९२
प्रशमरति २६७
पंचसुत्तय २६८
मूलायार २६९
पंचनियंठी २६९
पंचवत्थुग २७०
दंसणसार २७१
दर्शनसारदोहा २७१
श्रावकप्रज्ञप्ति २७१
सावयपण्णत्ति २७१
रत्नकरंडकश्रावकाचार २७२
पंचासग २७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मसार	२७४
सावयधम्मतंत	२७४
नवपयपयरण	२७५
उपासकाचार	२७६
श्रावकाचार	२७७
श्रावकधर्मविधि	२७७
श्राद्धगुणश्रेणिसंग्रह	२७८
धर्मरत्नकरंडक	२७९
चेइअवंदणभास	२७९
संघाचारविधि	२८०
सावगविहि	२८०
गुरुवंदणभास	२८०
पच्चक्खाणभास	२८१
मूलसुद्धि	२८१
आराहणा	२८२
आराहणासार	२८४
आराधना	२८५
सामायिकपाठ किंवा भावनाद्वात्रिंशिका	२८५
आराहणापडाया	२८५
संवेगरंगशाला	२८५
आराहणासत्थ	२८५
पंचलिंगी	२८६
दंसणसुद्धि	२८६
सम्यक्त्वालंकार	२८६
यतिदिनकृत्य	२८६
जइजीयकप्प	२८७
जइसामायारी	२८७
पिंडविसुद्धि	२८८
सड्ढजीयकप्प	२८८
सड्ढदिणकिच्च	२८८
सड्ढविहि	२८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	विषयनिग्रहकुलक	२९०
	प्रत्याख्यानसिद्धि	२९०
	आचारप्रदीप	२९०
	चारित्रसार	२९१
	चारित्रसार किंवा भावनासारसंग्रह	२९१
	गुरुपारतंतथोत्त	२९२
	धर्मलाभसिद्धि	२९२
६.	विधि-विधान, कल्प, मंत्र, तंत्र, पर्व और तीर्थ	२९३–३२४
	दशभक्ति	२९३
	आवश्यकसप्तति	२९६
	सुखप्रबोधिनी	२९६
	सम्मत्तुपायणविहि	२९६
	पच्चक्खाणसरूव	२९६
	संघट्टक	२९७
	सामाचारी	२९८
	प्रश्नोत्तरशत किंवा सामाचारीशतक	२९९
	पडिक्कमणसामायारी	३००
	सामायारी	३००
	पोसहविहिपयरण	३००
	पोसहियपायच्छित्तसामायारी	३०१
	सामायारो	३०१
	विहिमग्गप्पवा	३०१
	प्रतिक्रमक्रमविधि	३०३
	पर्युषणाविचार	३०४
	श्राद्धविधिविनिश्चय	३०४
	दशलाक्षणिकव्रतोद्यापन	३०४
	दशलक्षणव्रतोद्यापन	३०५
	पइट्ठाकप्प	३०५
	प्रतिष्ठाकल्प	३०५
	प्रतिष्ठासारसंग्रह	३०७
	जिनयज्ञकल्प	३०७
	रत्नत्रयविधान	३०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूरिमंत्र	३०७
सूरिमंत्रकल्प	३०८
सूरिमंत्रबृहत्कल्पविवरण	३०८
वर्धमानविद्याकल्पोद्धार	३०८
बृहत् ह्रींकारकल्प	३०९
वर्धमानविद्याकल्प	३१०
मंत्रराजरहस्य	३१०
विद्यानुशासन	३१०
विद्यानुवाद	३१०
भैरव-पद्मावतीकल्प	३११
अद्भुतपद्मावतीकल्प	३१५
रक्तपद्मावती	३१५
ज्वालिनीकल्प	३१६
कामचाण्डालिनीकल्प	३१६
भारतीकल्प अथवा सरस्वतीकल्प	३१६
सरस्वतीकल्प	३१७
सिद्धयंत्रचक्रोद्धार	३१७
सिद्धयंत्रचक्रोद्धार-पूजनविधि	३१७
दीपालिकाकल्प	३१८
सेत्तुंजकप्प	३१९
उज्जयन्तकल्प	३१९
गिरिनारकल्प	३२०
पवज्जाविहाण	३२०
यन्त्रराज	३२१
यन्त्रराजरचनाप्रकार	३२१
कल्पप्रदीप अथवा विविधतीर्थकल्प	३२१
चेइयपरिवाडी	३२४
तीर्थमालाप्रकरण	३२४
तित्थमालाथवण	३२४
तीर्थमालास्तवन	३२४
अनुक्रमणिका	३२५
सहायक ग्रन्थों की सूची	३८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम प्रकरण

कर्मवाद

भारतीय तत्त्वचिन्तन में कर्मवाद का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाकों के अतिरिक्त भारत के सभी श्रेणियों के विचारक कर्मवाद के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान आदि पर कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सुख-दुःख एवं सांसारिक वैविध्य का कारण ढूँढ़ते हुए भारतीय विचारकों ने कर्म के अद्भुत सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। भारत के जनसाधारण की यह सामान्य धारणा रही है कि प्राणियों को प्राप्त होने वाला सुख अथवा दुःख स्वकृत कर्मफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीव अनादि काल से कर्मवश हो विविध भवों में भ्रमण कर रहा है। जन्म एवं मृत्यु की जड़ कर्म है। जन्म और मरण ही सबसे बड़ा दुःख है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' का तात्पर्यार्थ यही है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नहीं। कर्मवाद की स्थापना में यद्यपि भारत की सभी दार्शनिक एवं नैतिक शाखाओं ने अपना योगदान दिया है फिर भी जैन परम्परा में इसका जो सुविकसित रूप दृष्टिगोचर होता है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है। जैन आचार्यों ने जिस ढंग से कर्मवाद का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्य है। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आचारपरम्परा का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। जैन दर्शन एवं जैन आचार की समस्त महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ व धारणाएँ कर्मवाद पर अवलम्बित हैं।[1]

कर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त ये हैं :

---

१. कर्मवाद का मूल सम्भवतः जैन-परम्परा में है। कर्मवाद की उत्पत्ति के ऐतिहासिक विवेचन के लिए देखिए—पं० दलसुख मालवणिया : आत्म-मीमांसा, पृ० ७९–८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल अवश्य होता है। दूसरे शब्दों में कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। इस सिद्धान्त को कार्य-कारणभाव अथवा कर्म-फलभाव कहते हैं।

२. यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन में प्राप्त नहीं होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है।

३. कर्म का कर्ता एवं भोक्ता स्वतन्त्र आत्मतत्त्व निरन्तर एक भव से दूसरे भव में गमन करता रहता है। किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित कालमर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्धन करता है। कर्मों की इस परम्परा को तोड़ना भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है।

४. जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य हैं। व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दुःख में जो असामञ्जस्य अथवा असमानता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मजन्य ही है।

५. कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। तदतिरिक्त जितने भी हेतु दृष्टिगोचर होते हैं वे सब सहकारी अथवा निमित्तभूत हैं।

कर्मवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य :

प्राणी अनादिकाल से कर्मपरम्परा में उलझा हुआ है। पुराने कर्मों का भोग एवं नये कर्मों का बन्धन अनादि काल से चला आ रहा है। प्राणी अपने कृतकर्मों को भोगता जाता है तथा नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणी सर्वथा कर्माधीन है अर्थात् वह कर्मबन्धन को नहीं रोक सकता। यदि प्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन ही माना जाएगा तो वह अपनी आत्मशक्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कैसे कर सकेगा। दूसरे शब्दों में प्राणी को सर्वथा कर्माधीन मानने पर इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता। प्रत्येक क्रिया को कर्ममूलक मानने पर प्राणी का न अपने पर कोई अधिकार रह जाता है, न दूसरों पर। ऐसी दशा में उसकी समस्त क्रियाएँ स्वचालित यन्त्र की भाँति स्वतः संचालित होती रहेंगी। प्राणी के पुराने कर्म स्वतः अपना फल देते रहेंगे एवं उसकी तत्कालीन निश्चित कर्माधीन परिस्थिति के अनुसार नये कर्म बँधते रहेंगे जो समयानुसार भविष्य में अपना फल प्रदान करते हुए कर्मपरम्परा को स्वचालित यन्त्र की भाँति बराबर आगे बढ़ाते रहेंगे। परिणामतः कर्मवाद नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद[1] में परिणत

१. Determinism or Necessitarianism.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाएगा तथा इच्छा-स्वातन्त्र्य अथवा स्वतन्त्रतावाद[१] का प्राणी के जीवन में कोई स्थान न रहेगा।

कर्मवाद को नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नहीं कह सकते। कर्मवाद का यह तात्पर्य नहीं कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं। कर्मवाद यह नहीं मानता कि प्राणी जिस प्रकार कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है उसी प्रकार कर्म का उपार्जन करने में भी परतन्त्र है। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार प्राणी को अपने किये हुए कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु नवीन कर्म का उपार्जन करने में वह किसी सीमा तक स्वतन्त्र है। कृतकर्म का भोग किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह सत्य है किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि प्राणी अमुक समय में अमुक कर्म ही उपार्जित करे। आन्तरिक शक्ति एवं बाह्य परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए प्राणी नये कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। इतना ही नहीं, वह अमुक सीमा तक पूर्वकृत कर्मों को शीघ्र या देर से भी भोग सकता है अथवा उनमें पारस्परिक परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार कर्मवाद में सीमित इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्थान अवश्य है, यह मानना पड़ता है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का अर्थ कोई यह करे कि 'जो चाहे सो करे' तो कर्मवाद में वैसे स्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है। प्राणी अपनी शक्ति एवं बाह्य परिस्थिति की अवहेलना करके कोई कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार वह परिस्थितियों का दास है उसी प्रकार उसे अपने पराक्रम की सीमा का भी ध्यान रखना पड़ता है। इतना होते हुए भी वह कर्म करने में सर्वथा परतन्त्र नहीं अपितु किसी हद तक स्वतन्त्र है। कर्मवाद में यही इच्छा-स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार कर्मवाद नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद के बीच का सिद्धान्त है—मध्यमवाद है।

कर्मविरोधी मान्यताएँ :

कर्मवाद को अपने विरोधी अनेक वादों का सामना करना पड़ता है। विश्व-वैचित्र्य के कारणों की गवेषणा करते हुए कुछ विचारक इस तथ्य की स्थापना करते हैं कि काल ही संसार की उत्पत्ति आदि का कारण है। कुछ विचारक स्वभाव को ही विश्व का कारण मानते हैं। कुछ विचारकों के मत से नियति ही सब कुछ है। कुछ विचारक यदृच्छा को ही जगत् का कारण मानते हैं। कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो पृथ्वी आदि भूतों को ही संसार का कारण मानते हैं।

---

१. Freedom of Will or Libertarianism.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ विचारकों का मत है कि पुरुष अथवा ईश्वर ही इस जगत् का कर्ता है।[१] यहाँ हम संक्षेप में इन मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत करते हैं।[२]

कालवाद—कालवादियों की मान्यता है कि संसार के समस्त पदार्थ तथा सुख-दुःख कालमूलक हैं। काल ही समस्त भूतों की सृष्टि करता है, उनका संहार करता है। काल ही प्राणियों के समस्त शुभाशुभ परिणामों का जनक है। काल ही प्रजा का संकोच और विस्तार करता है। इस प्रकार काल ही जगत् का आदि-कारण है। अथर्ववेद में एक कालसूक्त है जिसमें बताया गया है कि काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के ही आधार पर समस्त भूत रहते हैं। काल के ही कारण आँखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है, काल प्रजापति का भी पिता है, काल सर्वप्रथम देव है, काल से बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है, काल सर्वोच्च ईश्वर है इत्यादि।[3] महाभारत में भी काल की सर्वोच्चता स्वीकार की गई है। उसमें बताया गया है कि कर्म अथवा यज्ञयागादि सुख-दुःख के कारण नहीं हैं। मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। समस्त कार्यों का काल ही कारण है इत्यादि।[४]

स्वभाववाद—स्वभाववादी की मान्यता है कि संसार में जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म आदि कोई भी कारण जगत्-वैचित्र्य की रचना में समर्थ नहीं। बुद्धचरित में स्वभाववाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि काँटों का नुकीलापन, पशु-पक्षियों की विचित्रता आदि सभी स्वभाव के कारण ही हैं। किसी भी प्रवृत्ति में इच्छा अथवा प्रयत्न का कोई स्थान नहीं है।[५] सूत्रकृतांगवृत्ति (शीलांककृत) में भी यही बताया गया है कि काँटों की तीक्ष्णता, मृग-पक्षियों का विचित्रभाव आदि सब कुछ स्वभावजन्य ही हैं। गीता

---

१. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १, २.

२. देखिए—Dr. Mohan Lal Mehta : Jaina Psychology, पृ० ६–१२; पं० महेन्द्रकुमार जैन : जैनदर्शन, पृ० ८७–११९; पं० दलसुख मालवणिया : आत्ममीमांसा, पृ० ८६–९४.

३. अथर्ववेद, १९, ५३-४,

४. कालेन सर्वं लभते मनुष्यः……………
—शान्तिपर्व, २५, २८, ३२.

५. बुद्धचरित, ५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है।[1] स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक ही मानता है। वह जगत् की विचित्रता का कोई नियन्त्रक अथवा नियामक नहीं मानता।

नियतिवाद—नियतिवादियों का मत है कि संसार में जो कुछ होना होता है वही होता है अथवा जो होना होता है वह अवश्यमेव होता है। घटनाओं का अवश्यम्भावित्व पूर्वनिर्धारित है। दूसरे शब्दों में संसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। प्राणी के इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं है अथवा यों कहिए कि इच्छा-स्वातन्त्र्य नाम की कोई चीज ही नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा इसी मत का समर्थक था। वह मानता था कि व्यक्ति केवल अपने अज्ञान के कारण ऐसा सोचता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ। जो कुछ होना होगा, अवश्य होगा। भविष्य भी उसी प्रकार सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनीय है जिस प्रकार अतीत अर्थात् भूत। यही कारण है कि आशा अथवा भय निरर्थक है। इसी प्रकार किसी की प्रशंसा करना अथवा किसी पर दोष मढ़ना भी व्यर्थ है।

बौद्ध त्रिपिटकों एवं जैनागमों में नियतिवाद के विषय में अनेक बातें उपलब्ध होती हैं। दीघनिकाय के सामञ्जफल सुत्त में मंखली गोशालक के नियतिवाद का वर्णन किया गया है। गोशालक मानता था कि प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है। वे कारण के बिना ही अपवित्र होते हैं। इसी प्रकार प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नहीं है। हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता है, ऐसी बात नहीं है। न बल है, न वीर्य है, न शक्ति अथवा पराक्रम ही है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश हैं, दुर्बल हैं, वीर्यविहीन हैं। उनमें नियति, जाति,, वैशिष्ट्य एवं स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छः जातियों में से किसी एक जाति में रहकर सब दुःखों का उपभोग किया जाता है। चौरासी लाख महाकल्पों के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दुःख का नाश हो जाता है।

जैन आगमों में भी नियतिवाद अथवा अक्रियावाद का रोचक वर्णन किया गया है। उपासकदशांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र), सूत्रकृतांग आदि[2] में

---

१. भगवद्गीता, ५, १४. २. उपासकदशांग, अध्ययन ६-७; व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५; सूत्रकृतांग, २, १, १२; २, ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। बौद्ध त्रिपिटकों में पकुध कात्यायन एवं पूरण कश्यप[1] को भी इसी मत का समर्थक बताया गया है।

यदृच्छावाद—यदृच्छावादियों की मान्यता है कि किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। कोई भी घटना निष्कारण अर्थात् अकस्मात् ही होती है। न्यायसूत्रकार के शब्दों में यदृच्छावाद का मन्तव्य है कि अनिमित्त अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति होती है।[2] यदृच्छावाद, अकस्मात्वाद और अनिमित्तवाद एकार्थक हैं। इनमें कार्यकारणभाव अथवा हेतुहेतुमद्भाव का सर्वथा अभाव है।

भूतवाद—भूतवादी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मानते हैं। भूतों के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र जड़ अथवा चेतन तत्त्व जगत् में विद्यमान नहीं है। जिसे हम आत्मतत्त्व अथवा चेतनतत्त्व कहते हैं वह इन्हीं चतुर्भूतों की एक परिणतिविशेष है जो परिस्थितिविशेष में उत्पन्न होती है और उस परिस्थिति की अनुपस्थिति में स्वतः नष्ट हो जाती है—बिखर जाती है। जिस प्रकार चूना, सुपारी, कत्था, पान आदि का विशिष्ट संयोग अथवा सम्मिश्रण होने पर लाल रंग उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के विशिष्ट सम्मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।[3] चैतन्य हमेशा शरीर से सम्बद्ध रहता है एवं शरीर का नाश होते ही—भूत-चतुष्टय के संयोग में कुछ गड़बड़ी होते ही चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। अतः इस लोक के अतिरिक्त अन्य लोक की सत्ता स्वीकार करना मूर्खता का द्योतक है। मनुष्य-जीवन का एक मात्र ध्येय ऐहलौकिक आनन्द है। पारलौकिक सुख-सम्प्राप्ति के जितने भी तथाकथित साधन हैं, सब व्यर्थ हैं। ऐहलौकिक सुख को छोड़ कर किसी अन्य सुख की कल्पना करना अपने-आपको धोखा देना है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उपयोगिता ही आचार-विचार का मानदण्ड है।

डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त भी भौतिकवाद का ही एक परिष्कृत रूप है। इसके अनुसार प्राणियों की शारीरिक एवं प्राणशक्ति का क्रमशः विकास होता है। जड़ तत्त्वों के विकास के साथ ही साथ चेतन तत्त्व का भी विकास होता जाता है। यह चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व का ही एक अंग हैं, उससे सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं।

---

१. दीघनिकाय : सामञ्ञफल सुत्त. २. न्यायसूत्र, ४, १, २२.
३. सर्वदर्शनसंग्रह, परिच्छेद १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषवाद—पुरुषवादियों के मतानुसार इस संसार का रचयिता, पालनकर्ता एवं हर्ता पुरुषविशेष अर्थात् ईश्वर है। प्रलयावस्था में भी उसकी ज्ञानादि शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। पुरुषवाद में सामान्यतः दो मतों का समावेश है : ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए तथा वटवृक्ष प्ररोह अर्थात् जटाओं के लिए हेतुभूत है उसी प्रकार पुरुष अर्थात् ब्रह्म समस्त जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति एवं संहार के प्रति निमित्तभूत है।[1] इस प्रकार ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों का उपादानकारण है। ईश्वरवाद की मान्यता के अनुसार स्वयंसिद्ध जड़ और चेतन द्रव्यों के पारस्परिक संयोजन में ईश्वर निमित्तकारण है। ईश्वर की इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वह विश्व का नियन्त्रक एवं नियामक है।

कर्मवाद का मन्तव्य :

कर्मवाद के समर्थक उपर्युक्त मान्यताओं का समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि जिस प्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नहीं अपितु कारणसाकल्य पर अवलम्बित है उसी प्रकार कर्म के साथ-साथ कालादि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। कर्म वैचित्र्य का प्रधान कारण है जबकि कालादि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से पुरुषार्थ का पोषण होता है तथा प्राणियों में आत्मविश्वास व आत्मबल उत्पन्न होता। अपने सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यत्र ढूँढ़ने की अपेक्षा अपने में ही ढूँढ़ना अधिक युक्तियुक्त है। आचार्य हरिभद्र आदि की मान्यता है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों में से किसी एक को ही कार्यनिष्पत्ति का कारण मानना और शेष कारणों की अवहेलना करना मिथ्या धारणा है। सम्यग् धारणा यह है कि कार्यनिष्पत्ति में उक्त सभी कारणों का यथोचित समन्वय किया जाये।[2] दैव—कर्म—भाग्य और पुरुषार्थ के विषय में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं दैव प्रधान होता है तो कहीं पुरुषार्थ।[3] दैव और पुरुषार्थ के सम्यक् समन्वय से ही अर्थसिद्धि होती है।

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड (पं० महेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पादित), पृ० ६५.

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २, ७९-८०.

३. आप्तमीमांसा, का० ८८-९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर अथवा पुरुष—ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति,स्थिति एवं संहार का कारण अथवा नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि अन्य कारणों से ही प्राणियों के जन्म, जरा, मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतों से भी ज्ञान, सुख, दुःख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मों की सिद्धि नहीं की जा सकती। जड़भूतों के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता स्वीकार करना अनिवार्य है क्योंकि मूर्त जड़ अमूर्त चैतन्य को कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसमें जिस गुण का सर्वथा अभाव होता है उससे वह गुण कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसा न मानने पर कार्यकारणभाव की व्यवस्था व्यर्थ हो जाएगी। परिणामतः हम भूतों को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए बाध्य न होंगे। ऐसी अवस्था में किसी कार्य का कारण ढूंढना ही निरर्थक होगा। अतः जड़ और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हुए कर्ममूलक विश्व-व्यवस्था मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। प्राणी का कर्मविशेष अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार स्वतः फल प्रदान करने में समर्थ होता है। इस कार्य के लिए किसी अन्य नियन्त्रक, नियामक अथवा न्यायदाता की आवश्यकता नहीं होती।

कर्म का अर्थ :

साधारणतया 'कर्म' शब्द का अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया किया जाता है। कर्मकाण्ड में यज्ञ आदि क्रियाएँ कर्म के रूप में प्रचलित हैं। पौराणिक परम्परा में व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाएँ कर्मरूप मानी जाती हैं। व्याकरणशास्त्र में कर्ता जिसे अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है अर्थात् जिसपर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है उसे कर्म कहा जाता है। न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमनरूप पाँच सांकेतिक कर्मों में कर्म शब्द का व्यवहार किया जाता है। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है: भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल—जडतत्त्वविशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा—चेतनतत्त्व के साथ मिलजुल जाता है, द्रव्यकर्म कहलाता है।

जैन-परम्परा में जिस अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है उस अर्थ में अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है: माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि। माया, अविद्या और प्रकृति शब्द वेदान्त दर्शन में उपलब्ध हैं। अपूर्व शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। वासना शब्द दर्शन से विशेष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से प्रसिद्ध है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शनों में उपलब्ध है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार शब्द विशेषतया न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया है।[1] इस प्रकार चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में अथवा किसी-न-किसी नाम से कर्म की सत्ता स्वीकार की है। कर्म आत्मतत्त्व का विरोधी है। यह आत्मा के ज्ञानादि गुणों के प्रकाशन में बाधक होता है। कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर ही आत्मा अपने यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित होती है—अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित होती है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम स्वरूपावस्था अथवा विशुद्धावस्था है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जीव पुराने कर्मों का क्षय करता हुआ नवीन कर्म का उपार्जन करता रहता है। जब तक प्राणी के पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते एवं नवीन कर्मों का आगमन बन्द नहीं हो जाता तब तक उसकी भवबन्धन से मुक्ति नहीं होती। एक बार समस्त कर्मों का विनाश हो जाने पर पुनः कर्मोपार्जन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मबन्धन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण अथवा सिद्धि कहते हैं।

कर्मबन्ध का कारण :

जैन-परम्परा में कर्मोपार्जन अथवा कर्मबन्ध के सामान्यतया दो कारण माने गये हैं : योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। क्रोधादि मानसिक आवेग कषायान्तर्गत हैं। यों तो कषाय के अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु मोटे तौर पर उसके दो भेद किये गये हैं : राग और द्वेष। राग-द्वेषजनित शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है किन्तु जो क्रिया कषायजनित होती है उससे होनेवाला कर्मबन्ध विशेष बलवान् होता है जबकि कषायरहित क्रिया से होनेवाला कर्मबन्ध अति निर्बल एवं अल्पायु होता है। उसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। दूसरे शब्दों में योग और कषाय दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं किन्तु इन दोनों में प्रबल कारण कषाय ही है।

---

१. देखिये—पं० सुखलालजीकृत कर्मविपाक के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पृ० २३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैयायिक तथा वैशेषिक मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण मानते हैं। योग एवं सांख्य दर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेदज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना गया है। वेदान्त आदि दर्शनों में अविद्या अथवा अज्ञान को कर्मबन्ध का कारण बताया गया है। बौद्धों ने वासना अथवा संस्कार को कर्मोपार्जन का कारण माना है। जैन परम्परा में संक्षेप में मिथ्यात्व कर्मबन्ध का कारण माना गया है। जो कुछ हो, यह निश्चित है कि कर्मोपार्जन का कोई भी कारण क्यों न माना जाए, राग-द्वेषजनित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का प्रधान कारण है। राग-द्वेष की न्यूनता अथवा अभाव से अज्ञान, वासना अथवा मिथ्यात्व कम हो जाता अथवा नष्ट हो जाता है। राग-द्वेषरहित प्राणी कर्मोपार्जन के योग्य विकारों से सदैव दूर रहता है। उसका मन हमेशा अपने नियन्त्रण में रहता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया :

जैन कर्मग्रन्थों में कर्मबन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब चारों ओर से कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है। जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान रहती है[1] उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं, अन्य नहीं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में अधिकता होने पर परमाणुओं की संख्या में भी अधिकता होती है एवं प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर परमाणुओं की संख्या में भी न्यूनता होती है। गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना जैन कर्मवाद की परिभाषा में प्रदेश-बन्ध कहलाता है। इन्हीं परमाणुओं की ज्ञानावरण (जिन कर्मों से आत्मा की ज्ञान-शक्ति आवृत होती है) आदि अनेक रूपों में परिणति होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है। प्रदेश-बन्ध में कर्म-परमाणुओं का परिमाण अभिप्रेत है जबकि प्रकृति-बन्ध में कर्म-परमाणुओं की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मों की भिन्न-भिन्न परमाणु-संख्या होती है। दूसरे शब्दों में विभिन्न कर्मप्रकृतियों के विभिन्न कर्मप्रदेश होते हैं। जैन कर्मशास्त्रों में इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया

१. जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा शरीरव्यापी है। देह से बाहर आत्मतत्त्व विद्यमान नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि किस कर्म-प्रकृति के कितने प्रदेश होते हैं एवं उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है। कर्मरूप से गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के कर्मफल के काल एवं विपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय आत्मा के अध्यवसाय अर्थात् कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। कर्मविपाक के काल तथा तीव्रता-मन्दता के इस निश्चय को क्रमशः स्थिति-बन्ध तथा अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कषाय के अभाव में कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूखे वस्त्र पर रज अच्छी तरह न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म-परमाणु उससे सम्बद्ध न होते हुए केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाते हैं। ईर्यापथ (चलना-फिरना आदि आवश्यक क्रियाएँ) से होनेवाला इस प्रकार का निर्बल कर्मबन्ध असांपरायिक बन्ध कहलाता है। सकषाय कर्म-बन्ध को सांपरायिक बन्ध कहते हैं। असांपरायिक बन्ध भव-भ्रमण का कारण नहीं होता। साम्परायिक बन्ध से ही प्राणी को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

कर्म का उदय और क्षय :

कर्म बँधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते। कुछ समय तक वैसे ही पड़े रहते हैं। कर्म के इस फलहीन काल को जैन परिभाषा में अबाधाकाल कहते हैं अबाधाकाल के व्यतीत होने पर ही बद्धकर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय कहलाता है। कर्म अपने स्थिति-बन्ध के अनुसार उदय में आते हैं एवं फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इसी का नाम निर्जरा है। जिस कर्म की जितनी स्थिति का बन्ध होता है वह कर्म उतनी ही अवधि तक क्रमशः उदय में आता है। दूसरे शब्दों में कर्म-निर्जरा का भी उतना ही काल होता है जितना कर्म-स्थिति का। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं तब प्राणी कर्म-मुक्त हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

कर्मप्रकृति अर्थात् कर्मफल :

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं : १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३, वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, और ८. अन्तराय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाती प्रकृतियाँ हैं क्योंकि इनसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) का घात होता है। शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करतीं। इतना ही नहीं, ये आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नहीं अपितु पौद्गलिक—भौतिक है। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है। दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है। मोहनीय सुख—आत्म-सुख—परमसुख-शाश्वतसुख के लिये घातक है। अन्तराय से वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। वेदनीय अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख का कारण है। आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नाम के कारण जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं। गोत्र प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ हैं : १. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनःपर्यय, मनःपर्यव अथवा मनःपर्यायज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों अथवा शब्दों के पठन तथा श्रवण से होनेवाले अर्थज्ञान का निरोध करता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना होनेवाले रूपी द्रव्यों के ज्ञान को आवृत करता है। मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म मनःपर्यायज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना संज्ञी—समनस्क—मन वाले जीवों के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म केवलज्ञान अर्थात् लोक के अतीत, वर्तमान एवं अनागत समस्त पदार्थों को युगपत्—एक साथ जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं : १. चक्षुदर्शनावरण, २. अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा, ६. निद्रा-निद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचलाप्रचला और ९. स्त्यानर्द्धि—स्त्यानगृद्धि। आँख के द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुर्दर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थ का साधारण आभासमात्र होता है। चक्षुर्दर्शन को आवृत करने वाला कर्म चक्षु-दर्शनावरण कहलाता है। आँख को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करने वाला कर्म अचक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध होने का नाम अवधिदर्शन है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। संसार के अखिल त्रैकालिक पदार्थों का सामान्यावबोध केवलदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण के नाम से प्रसिद्ध है। निद्रा आदि अंतिम पाँच प्रकृतियाँ भी दर्शनावरणीय कर्म का ही कार्य हैं। सोया हुआ जो प्राणी थोड़ी-सी आवाज से जग जाता है अर्थात् जिसे जगाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता उसकी नींद को निद्रा कहते हैं। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उस कर्म का नाम भी निद्रा है। जो सोया हुआ प्राणी बड़े जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि से बड़ी मुश्किल से जगता है उसकी नींद एवं तन्निमित्तक कर्म दोनों को निद्रानिद्रा कहते हैं। खड़े-खड़े बैठे-बैठे नींद लेने का नाम प्रचला है। उसका हेतुभूत कर्म भी प्रचला कहलाता है। चलते-फिरते नींद लेने का नाम प्रचलाप्रचला है। तन्निमित्तभूत कर्म को भी प्रचलाप्रचला कहते हैं। दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्यविशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करने का नाम स्त्यानर्द्धि—स्त्यानगृद्धि है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उसका नाम भी स्त्यानर्द्धि अथवा स्त्यानगृद्धि है।

वेदनीय अथवा वेद्य कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं: साता और असाता। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःख का संवेदन होता है उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं। आत्मा को विषयनिरपेक्ष स्वरूप-सुख का संवेदन किसी भी कर्म के उदय की अपेक्षा न रखते हुए स्वतः होता है। इस प्रकार का विशुद्ध सुख आत्मा का निजी धर्म है। वह साधारण सुख की कोटि से ऊपर है।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो उत्तर-प्रकृतियाँ हैं: दर्शनमोह अर्थात् दर्शन का घात और चारित्रमोह अर्थात् चारित्र का घात। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने का नाम दर्शन है। यह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मगुण है। इस गुण का घात करनेवाले कर्म का नाम दर्शनमोहनीय है। जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र का घात करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है। दर्शनमोहनीय कर्म के पुनः तीन भेद हैं: सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय। सम्यक्त्व-मोहनीय के दलिक—कर्मपरमाणु शुद्ध होते हैं। यह कर्म शुद्ध—स्वच्छ परमाणुओं वाला होने के कारण तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु इसके उदय से आत्मा को स्वाभाविक सम्यक्त्व—कर्मनिरपेक्ष सम्यक्त्व—क्षायिकसम्यक्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होने पाता। परिणामतः उसे सूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन में शंकाएँ हुआ करती हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के दलिक अशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से प्राणी हित को अहित समझता है और अहित को हित। विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं होने पाता। मिश्रमोहनीय के दलिक अर्धविशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को न तो तत्त्वरुचि होती है, न अतत्त्वरुचि। इसका दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय है। यह सम्यक्त्व-मोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्रितरूप है जो तत्त्वार्थ श्रद्धान और अतत्त्वार्थ-श्रद्धान इन दोनों अवस्थाओं में से शुद्ध रूप से किसी भी अवस्था को प्राप्त नहीं करने देता। मोहनीय के दूसरे मुख्य भेद चारित्र-मोहनीय के दो भेद हैं: कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। कषाय-मोहनीय मुख्यरूप से चार प्रकार का है: क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधादि चारों कषाय तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से पुनः चार-चार प्रकार के हैं: अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस प्रकार कषायमोहनीय कर्म के कुल सोलह भेद हुए जिनके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरतिरूप श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। इसकी अवधि एक वर्ष है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। इसकी स्थिति चार महीने की है। संज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात-चारित्ररूप सर्वविरति प्राप्त नहीं कर सकता। यह एक पक्ष की स्थिति वाला है। उपर्युक्त कालमर्यादाएँ साधारण दृष्टि—व्यवहार नय से हैं। इनमें यथासंभव परिवर्तन भी हो सकता है। कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं।[1] नोकषाय के नौ भेद हैं: १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्रीवेद, ८. पुरुषवेद और ९. नपुंसकवेद। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ संभोग करने की इच्छा होती है। पुरुषवेद के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ संभोग करने की इच्छा होती है। नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ संभोग करने की कामना होती है। यह वेद

१. कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभोग की कामना के अभाव के रूप में नहीं अपितु तीव्रतम कामाभिलाषा के रूप में है जिसका लक्ष्य स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इसकी निवृत्ति—तुष्टि चिरकाल एवं चिरप्रयत्नसाध्य है। इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल २८ उत्तर-प्रकृतियाँ—भेद होते हैं: ३ दर्शनमोहनीय + १६ कषायमोहनीय + ९ नोकषायमोहनीय।

आयु कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं: १. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यञ्चायु और ४. नरकायु। आयु कर्म की विविधता के कारण प्राणी देवादि जातियों में रह कर स्वकृत नानाविध कर्मों को भोगता एवं नवीन कर्म उपार्जित करता है। आयु कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है। आयु दो प्रकार की होती है: अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। इसी का प्रचलित नाम अकाल-मृत्यु है। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो अर्थात् नियत समय पर ही समाप्त हो उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं।

नाम कर्म की एक सौ तीन उत्तरप्रकृतियाँ हैं। ये प्रकृतियाँ चार भागों में विभक्त हैं: पिण्डप्रकृतियाँ, प्रत्येकप्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक। इन प्रकृतियों के कारणरूप कर्मों के भी वे ही नाम हैं जो इन प्रकृतियों के हैं। पिण्डप्रकृतियों में पचहत्तर प्रकृतियों का समावेश है: १. चार गतियाँ—देव, नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य; २. पाँच जातियाँ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय; ३. पाँच शरीर—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; ४. तीन उपांग—औदारिक, वैक्रिय और आहारक (तैजस और कार्मण शरीर के उपांग नहीं होते); ५. पंदरह बन्धन—औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-आहारक, आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण; ६. पाँच संघातन—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; ७. छः संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिक और सेवार्त; ८. छः संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड; ९. शरीर के पाँच वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और सित; १०. दो गन्ध—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध; ११. पाँच रस—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर; १२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठ स्पर्श—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष; १३. चार आनुपूर्वियाँ—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी; १४. दो गतियाँ—शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति। प्रत्येक प्रकृतियों में निम्नोक्त आठ प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं: पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात। त्रसदशक में निम्न प्रकृतियाँ हैं: त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति। स्थावरदशक में त्रसदशक से विपरीत दस प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं: स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति। इस प्रकार नाम कर्म की उपर्युक्त एक सौ तीन (७५ पिण्ड-प्रकृतियाँ + ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ + १० त्रसदशक + स्थावरदशक) उत्तर-प्रकृतियाँ हैं।[1] इन्हीं प्रकृतियों के आधार पर प्राणियों के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है।

गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं: उच्च और नीच। जिस कर्म के उदय से प्राणी उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करता है उसे उच्चैर्गोत्र कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म नीच कुल में होता है उसे नीचैर्गोत्र कर्म कहते हैं। उत्तम कुल का अर्थ है संस्कारी एवं सदाचारी कुल। नीच कुल का अर्थ है असंस्कारी एवं आचारहीन कुल।

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरकृतियाँ हैं: दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। जिस कर्म के उदय से दान करने का उत्साह नहीं होता वह दानान्तराय कर्म है। जिस कर्म का उदय होने पर उदार दाता की उपस्थिति में भी दान का लाभ अर्थात् प्राप्ति न हो सके वह लाभान्तराय कर्म है। अथवा योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना लाभान्तराय कर्म का कार्य है। भोग की सामग्री मौजूद हो और भोग करने की इच्छा भी हो फिर भी जिस कर्म के उदय से प्राणी भोग्य पदार्थों का भोग न कर सके वह भोगान्तराय कर्म है। इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग न कर सकना उपभोगान्तराय कर्म का फल

१. नाम कर्म से सम्बन्धित विशेष विवेचन के लिए देखिए—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग अर्थात् कर्मविपाक (पं० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवादसहित), पृ० ५८–१०५; Outlines of Jaina Philosophy (M. L. Mehta), पृ० १४२–५; Outlines of Karma in Jainism (M. L. Mehta), पृ० १०–१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं वे भोग्य हैं तथा जो पदार्थ बार-बार भोगे जाते हैं वे उपभोग्य हैं। अन्न, जल, फल, आदि भोग्य पदार्थ हैं। वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि उपभोग्य पदार्थ हैं। जिस कर्म के उदय से प्राणी अपने वीर्य अर्थात् सामर्थ्य—शक्ति—बल का चाहते हुए भी उपयोग न कर सके उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। इस तरह आठ प्रकार के मूल कर्मों अथवा मूल कर्म-प्रकृतियों के कुल एक सौ अठावन भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं :

१. ज्ञानावरणीय कर्म	....	....	५
२. दर्शनावरणीय कर्म	....	....	९
३. वेदनीय कर्म	....	....	२
४. मोहनीय कर्म	....	....	२८
५. आयु कर्म	....	....	४
६. नाम कर्म	....	....	१०३
७. गोत्र कर्म	....	....	२
८. अन्तराय कर्म	....	....	५
		योग	१५८

कर्मों की स्थिति :

जैन कर्मग्रन्थों में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न स्थितियाँ (उदय में रहने का काल) बताई गई है जो इस प्रकार हैं :

कर्म	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
१. ज्ञानावरणीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
२. दर्शनावरणीय	,,	,,
३. वेदनीय	,,	बारह मुहूर्त
४. मोहनीय	सत्तर कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
५. आयु	तेंतीस सागरोपम	,,
६. नाम	बीस कोटाकोटि सागरोपम	आठ मुहूर्त
७. गोत्र	,,	,,
८. अन्तराय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि समय के विविध भेदों के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। इससे जैनों की काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता :

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का आधार तन्निमित्तक कषायों की तीव्रता-मन्दता है। जो प्राणी जितना अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा उसके पापकर्म अर्थात् अशुभकर्म उतने ही प्रबल एवं पुण्यकर्म अर्थात् शुभकर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषायमुक्त एवं विशुद्ध होगा उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एवं पापकर्म उतने ही अधिक दुर्बल होंगे।

कर्मों के प्रदेश :

प्राणी अपनी कायिक आदि क्रियाओं द्वारा जितने कर्मप्रदेश अर्थात् कर्म-परमाणुओं का संग्रह करता है। वे विविध प्रकार के कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध होते हैं। आयु कर्म को सबसे कम हिस्सा मिलता है। नाम कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्र कर्म का हिस्सा भी नाम कर्म जितना ही होता है। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इनमें से प्रत्येक कर्म को प्राप्त होता है। इन तीनों का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म के हिस्से में जाता है। सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तरप्रकृतियों—उत्तरभेदों में विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बद्ध कर्म के प्रदेशों की न्यूनता-अधिकता का यही आधार है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ :

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। ये अवस्थाएँ कर्म के बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित हैं। इनका हम मोटे तौर पर ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं: १. बन्धन, २. सत्ता, ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उद्वर्तना, ६. अपवर्तना, ७. संक्रमण, ८. उपशमन, ९. निधत्ति, १०. निकाचन, ११. अबाध।[1]

१. **बन्धन**—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का बँधना अर्थात् क्षीर-नीरवत् एकरूप हो जाना बन्धन कहलाता है। बन्धन के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारम्भ होती हैं। बन्धन चार प्रकार का होता है: प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबंध अथवा रसबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

---

१. देखिए—आत्ममीमांसा, पृ० १२८–१३१; Jaina Psychology. पृ० २५–९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **सत्ता**—बद्ध कर्म-परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। इसी अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए विद्यमान रहते हैं।

३. **उदय**—कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम उदय है। उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म-पुद्गल का नाश क्षय अथवा निर्जरा कहलाता है।

४. **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जैन कर्मवाद कर्म की एकान्त नियति में विश्वास नहीं करता। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले फल पकाये जा सकते हैं उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पूर्व बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है। सामान्यतः जिस कर्म का उदय जारी होता है उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा संभव होती है।

बन्धन, सत्ता, उदय और उदीरणा में कितनी कर्म-प्रकृतियाँ (उत्तरप्रकृतियाँ) होती हैं, इसका भी जैन कर्मशास्त्रों में विचार किया गया है। बन्धन में कर्म-प्रकृतियों की संख्या एक सौ बीस, उदय में एक सौ बाईस, उदीरणा में भी एक सौ बाईस तथा सत्ता में एक सौ अठावन मानी गई है। नीचे की तालिका[1] में इन चारों अवस्थाओं में रहनेवाली उत्तरप्रकृतियों की संख्या दी जाती है :

	बन्ध	उदय	उदीरणा	सत्ता
१. ज्ञानावरणीय कर्म	५	५	५	५
२, दर्शनावरणीय कर्म	९	९	९	९
३. वेदनीय कर्म	२	२	२	२
४. मोहनीय कर्म	२६	२८	२८	२८
५. आयु कर्म	४	४	४	४
६. नाम कर्म	६७	६७	६७	१०३
७. गोत्र कर्म	२	२	२	२
८. अन्तराय कर्म	५	५	५	५
योग	१२०	१२२	१२२	१५८

सत्ता में समस्त उत्तरप्रकृतियों का अस्तित्व रहता है जिनकी संख्या एकसौ अठावन है। उदय में केवल एक सौ बाईस प्रकृतियाँ रहती हैं क्योंकि इस अवस्था में पंदरह बंधन तथा पाँच संघातन—नाम कर्म की ये बीस प्रकृतियाँ अलग से नहीं

१. कर्मविपाक (पं० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवाद), पृ० १११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिनी गई हैं अपितु पाँच शरीरों में ही उनका समावेश कर दिया गया है। साथ ही वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन चार पिण्डप्रकृतियों की बीस उत्तरप्रकृतियों के स्थान पर केवल चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं। इस प्रकार कुल एक सौ अठावन प्रकृतियों में से नाम कर्म की छत्तीस (बीस और सोलह) प्रकृतियाँ कम कर देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं जो उदय में आती हैं। उदीरणा में भी ये ही प्रकृतियाँ रहती हैं क्योंकि जिस प्रकृति में उदय की योग्यता रहती है उसी की उदीरणा होती है। बन्धनावस्था में केवल एक सौ बीस प्रकृतियों का ही अस्तित्व माना गया है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय कर्मों का बन्ध अलग से न होकर मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के रूप में ही होता है क्योंकि (कर्मजन्य) सम्यक्त्व और सम्यक्-मिथ्यात्व मिथ्यात्व की ही विशोधित अवस्थाएँ हैं। इन दो प्रकृतियों को उपर्युक्त एक सौ बाईस प्रकृतियों में से कम कर देने पर एक सौ बीस प्रकृतियाँ बाकी बचती हैं जो बन्धनावस्था में विद्यमान रहती हैं।

५. **उद्वर्तना**—बद्धकर्मों की स्थिति और अनुभाग—रस का निश्चय बंधन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थितिविशेष अथवा भावविशेष—अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति तथा अनुभाग में वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है। इस अवस्था को उत्कर्षण भी कहते हैं।

६. **अपवर्तना**—बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। यह अवस्था उद्वर्तना से बिल्कुल विपरीत है। इसका दूसरा नाम अपकर्षण भी है। इन अवस्थाओं की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि किसी कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है। अपने प्रयत्नविशेष अथवा अध्यवसायविशेष की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। एक समय हमने कोई अशुभ कार्य किया अर्थात् पापकर्म किया और दूसरे समय शुभ कार्य किया तो पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति आदि में यथा-सम्भव परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार शुभ कार्य द्वारा बाँधे गये कर्म की स्थिति आदि में भी अशुभ कार्य करने से समयानुसार परिवर्तन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के अध्यवसायों के अनुसार कर्मों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए जैन कर्मवाद को इच्छा-स्वातन्त्र्य का विरोधी नहीं माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. **संक्रमण**—एक प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है। संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तरप्रकृतियों में ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं। दूसरे शब्दों में सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण माना गया है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं। इस नियम के अपवाद के रूप में आचार्यों ने यह भी बताया है कि आयु कर्म की प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय में तथा दर्शनमोहनीय को तीन उत्तर-प्रकृतियों में ही (कुछ अपवादों को छोड़ कर) परस्पर संक्रमण होता है। इस प्रकार आयु कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय व दर्शनमोहनीय की तीन उत्तरप्रकृतियाँ उपर्युक्त नियम के अपवाद हैं।

८. **उपशमन**—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती उसे उपशमन कहते हैं। इस अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण की संभावना का अभाव नहीं होता। जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि उस अवस्था में रहती हुई अपना कार्यविशेष नहीं करती किन्तु आवरण हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने को तैयार हो जाती है उसी प्रकार उपशमन-अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

९. **निधत्ति**—कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। इस अवस्था में उद्वर्तना और अपवर्तना की असंभावना नहीं होती।

१०. **निकाचन**—कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचन है जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा ये चारों अवस्थाएँ असम्भव होती हैं। इस अवस्था का अर्थ है कर्म का जिस रूप में बंध हुआ उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना। इसी अवस्था का नाम नियति है। इसमें इच्छास्वातन्त्र्य का सर्वथा अभाव रहता है। किसी-किसी कर्म की यही अवस्था होती है।

११. **अबाध**—कर्म का बँधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना उसकी अबाध-अवस्था है। इस अवस्था के काल को अबाधकाल कहते हैं। इसपर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

उदय के लिए अन्य परम्पराओं में प्रारब्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सत्ता के लिए संचित, बन्धन के लिए आगामी अथवा क्रियमाण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकाचन के लिए नियतविपाकी, संक्रमण के लिए आवापगमन, उपशमन के लिए तनु आदि शब्दों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[1]

कर्म और पुनर्जन्म :

कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलस्वरूप परलोक अथवा पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में प्राप्त नहीं होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है। पुनर्जन्म एवं पूर्वभव न मानने पर कृत कर्म का निर्हेतुक विनाश—कृतप्रणाश एवं अकृत कर्म का भोग—अकृतकर्मभोग मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन्हीं दोषों से बचने के लिए कर्मवादियों को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनों प्रकार की भारतीय परम्पराओं में कर्ममूलक पुनर्जन्म[2] की सत्ता स्वीकार की गयी है।

जैन कर्मसाहित्य में समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया गया है : मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक और देव। मृत्यु के पश्चात् प्राणी अपने कर्म के अनुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में जाकर जन्म ग्रहण करता है। जब जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने के लिए जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचा देता है। आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए नासा-रज्जु अर्थात् 'नाथ' का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे बैल को इधर-उधर ले जाने के लिए नाथ की सहायता अपेक्षित होती है उसी प्रकार जीव को एक गति से दूसरी गति में पहुँचने के लिए आनुपूर्वी नाम कर्म की मदद की जरूरत पड़ती है। समश्रेणी--ऋजुगति के लिए आनुपूर्वी की आवश्यकता नहीं रहती अपितु विश्रेणी—वक्रगति के लिए रहती है। गत्यन्तर के समय जीव के साथ केवल दो प्रकार का शरीर रहता है : तैजस और कार्मण। अन्य प्रकार के शरीर (औदारिक अथवा वैक्रिय) का निर्माण वहाँ पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है।

●

१. देखिए—योगदर्शन तथा योगविंशिका (पं० सुखलालजी द्वारा सम्पादित), प्रस्तावना, पृ० ५४; Outlines of Indian Philosophy (P. T. Srinivasa Iyengar), पृ० ६२.

२. इन परम्पराओं की पुनर्जन्म एवं परलोक विषयक मान्यताओं के लिए देखिए—आत्ममीमांसा, पृ० १३४-१५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय प्रकरण

कर्मप्राभृत

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचारांगादि ग्रन्थ आगमरूप से मान्य हैं जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में कर्मप्राभृत एवं कषायप्राभृत, को आगमरूप मान्यता प्राप्त है। कर्मप्राभृत को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, आगमसिद्धान्त, षट्खण्डागम, परमागम, खंडसिद्धान्त, षट्खण्डसिद्धान्त आदि नामों से जाना जाता है। कर्म-विषयक प्ररूपणा के कारण इसे कर्मप्राभृत अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है। आगमिक एवं सैद्धान्तिक ग्रंथ होने के कारण इसे आगमसिद्धान्त, परमागम, खंडसिद्धान्त आदि नाम दिये जाते हैं। चूंकि इसमें छः खण्ड हैं अतः इसे षट्खण्डागम अथवा षट्खण्डसिद्धान्त कहा जाता है।

कर्मप्राभृत की आगमिक परंपरा :

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम)[1] का उद्गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग है जो कि अब लुप्त है। दृष्टिवाद के पाँच विभाग हैं : परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेद हैं। इन्हीं को चौदहपूर्व कहा जाता है। इनमें से अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के आधार से कर्मप्राभृत नामक षट्खण्डागम की रचना की गई।

अग्रायणीय पूर्व के निम्नोक्त चौदह अधिकार हैं : १. पूर्वान्त, २. अपरान्त, ३. ध्रुव, ४. अध्रुव, ५. चयनलब्धि, ६. अर्धोपम, ७. प्रणिधिकल्प, ८. अर्थ, ९. भौम, १०. व्रतादिक, ११. सर्वार्थ, १२. कल्पनिर्याण, १३. अतीत सिद्ध-बद्ध, १४. अनागत सिद्ध-बद्ध। इनमें से पंचम अधिकार चयनलब्धि के

---

१. (अ) प्रथम पाँच खंड धवला टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—सम्पादक : डा० हीरालाल जैन; प्रकाशक : शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, सन् १९३९-१९५८

(आ) छठा खंड (महाबन्ध) हिन्दी अनुवादसहित—सम्पादक : पं० सुमेरुचन्द्र व फूलचन्द्र; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४७-१९५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीस प्राभृत हैं जिनमें चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति है।[1] इस कर्मप्रकृति प्राभृत से ही षट्खंडसिद्धान्त की उत्पत्ति हुई है।

कर्मप्राभृत के प्रणेता :

षट्खण्डसिद्धान्तरूप कर्मप्राभृत आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की रचना है। इन्होंने प्राचीन कर्मप्रकृति प्राभृत के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया। कर्मप्राभृत (षटखण्डागम) की धवला टीका में उल्लेख है कि सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में स्थित धरसेनाचार्य ने अंगश्रुत के विच्छेद के भय से, महिमा नगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। आचार्यों ने लेख का प्रयोजन भलीभाँति समझकर शास्त्र धारण करने में समर्थ दो प्रतिभासम्पन्न साधुओं को आन्ध्र देश के वेन्नातट से धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेन ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र व शुभ वार में उन्हें ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया। क्रमशः व्याख्यान करते हुए आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की एकादशी के पूर्वाह्न में ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति से प्रसन्न हुए भूतों ने उन दो साधुओं में से एक की पुष्पावली आदि से भारी पूजा की जिसे देख कर धरसेन ने उसका नाम 'भूतबलि' रखा। दूसरे की भूतों ने पूजा कर अस्त-व्यस्त दंतपंक्ति को समान कर दिया जिसे देखकर धरसेन ने उसका नाम 'पुष्पदन्त' रखा। वहाँ से प्रस्थान कर उन दोनों ने अङ्कुलेश्वर में वर्षावास किया। वर्षावास समाप्त कर आचार्य पुष्पदन्त वनवास गये तथा भट्टारक भूतबलि द्रमिलदेश पहुँचे। पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर (सत्प्ररूपणा के) बीस सूत्र बना कर जिनपालित को पढ़ा कर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस सूत्र देखकर तथा पुष्पदन्त को अल्पायु जान कर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (महाकम्मपयडिपाहुड) के विच्छेद की आशंका से द्रव्यप्रमाणानुगम से प्रारम्भ कर आगे की ग्रंथ-रचना की। अतः इस खण्डसिद्धान्त की अपेक्षा से भूतबलि और पुष्पदन्त भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। इस प्रकार मूलग्रन्थकर्ता वर्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रंथकर्ता गौतमस्वामी हैं तथा उपग्रन्थकर्ता राग-द्वेष-मोहरहित भूतबलि-पुष्पदन्त मुनिवर हैं।[2]

---

१. अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम ॥ ४५ ॥

—षट्खण्डागम, पुस्तक ९, पृ० १३४.

२. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ६७–७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्खण्डागम के प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त हैं तथा शेष समस्त ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। धवलाकार ने पुष्पदन्त-रचित जिन बीस सूत्रों का उल्लेख किया है वे सत्प्ररूपणा के बीस अधिकार ही हैं क्योंकि उन्होंने आगे स्पष्ट लिखा है कि भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम से अपनी रचना प्रारम्भ की। सत्प्ररूपणा के बाद जहाँ से संख्याप्ररूपणा अर्थात् द्रव्यप्रमाणानुगम प्रारंभ होता है वहाँ पर भी धवलाकार ने कहा है कि अब चौदह जीवसमासों के अस्तित्व को जान लेने वाले शिष्यों को उन्हीं जीवसमासों के परिमाण के प्रतिबोधन के लिए भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं : संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाण-पडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।[1]

आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय विविध प्रमाणों के आधार पर वीर-निर्वाण के पश्चात् ६०० और ७०० वर्ष के बीच सिद्ध होता है।[2]

कर्मप्राभृत का विषय-विभाजन :

कर्मप्राभृत के छहों खण्डों की भाषा प्राकृत (शौरसेनी) है। आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रों में सत्प्ररूपणा अंश तथा आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रों में शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा।

कर्मप्राभृत के छः खण्डों के नाम इस प्रकार हैं : १. जीवस्थान, २. क्षुद्रकबन्ध, ३. बंधस्वामित्वविचय, ४. वेदना, ५. वर्गणा, ६. महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाएं हैं। आठ अनुयोगद्वार इनसे सम्बन्धित हैं : १. सत्, २. संख्या (द्रव्यप्रमाण), ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शन, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव, ८. अल्पबहुत्व। नौ चूलिकाएँ ये हैं : १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. स्थानसमुत्कीर्तन, ३-५. प्रथम-द्वितीय-तृतीय महादण्डक, ६. उत्कृष्टस्थिति, ७, जघन्यस्थिति, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति, ९. गति-आगति। इस खंड का परिमाण १८००० पद है।

क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अधिकार हैं : १. स्वामित्व, २. काल, ३. अन्तर, ४. भंगविचय, ५. द्रव्यप्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम, ७. स्पर्शनानुगम, ८. नाना-जीव-काल, ९. नाना-जीव-अन्तर, १०. भागाभागानुगम, ११. अल्पबहुत्वानुगम।

---

१. वही, पुस्तक ३, पृ० १.

२. वही, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० २१-३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धस्वामित्वविचय में निम्न विषय हैं : कर्मप्रकृतियों का जीवों के साथ बन्ध, कर्मप्रकृतियों की गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियाँ, परोदय बंधरूप प्रकृतियाँ।

वेदना खण्ड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार हैं। कृति सात प्रकार की है : १. नामकृति, २. स्थापनाकृति, ३. द्रव्यकृति, ४. गणनाकृति, ५. ग्रन्थकृति, ६. करणकृति, ७. भावकृति। वेदना के सोलह अधिकार हैं : १. निक्षेप, २. नय, ३. नाम, ४. द्रव्य, ५. क्षेत्र, ६. काल, ७. भाव, ८. प्रत्यय, ९. स्वामित्व, १०. वेदना, ११. गति, १२. अनन्तर, १३. सन्निकर्ष, १४. परिमाण, १५. भागाभागानुगम, १६. अल्पबहुत्वानुगम। इस खण्ड का परिमाण १६००० पद है।

वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार बंधनीय है जिसमें वर्गणाओं का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंध इन चार अधिकारों का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक-प्रमाण महाबन्ध नामक छठे खण्ड में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार के बन्धों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इस महाबंध की प्रसिद्धि महाधवल के नाम से भी है।

जीवस्थान :

प्रारम्भ में आचार्य ने निम्नोक्त मंगलमंत्र दिया है :

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

इस मंत्र द्वारा ग्रंथकार ने अरिहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं लोक के सब साधुओं को नमस्कार किया है।

चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) के अन्वेषण के लिए आचार्य ने चौदह मार्गणास्थानों का उल्लेख किया है : १. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्यत्व, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञा, १४. आहार।[१]

इन्हीं चौदह जीवसमासों के निरूपण के लिए सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वार कहे गये हैं।[२]

---

१. सू० २–४ (पुस्तक १). २. सू० ७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **सत्प्ररूपणा**—सत्प्ररूपणा में दो प्रकार का कथन होता है : ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से ।[1]

ओघ की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि जीव हैं, असंयत-सम्यग्दृष्टि जीव हैं, संयतासंयत जीव हैं, प्रमत्तसंयत जीव हैं, अप्रमत्तसंयत जीव हैं, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक जीव हैं, अनिवृत्ति-बादर साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक जीव हैं, सूक्ष्म-साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक जीव हैं, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छदमस्थ जीव हैं, क्षीण-कषाय-वीतराग-छदमस्थ जीव हैं, सयोगकेवली अथवा सयोगिकेवली जीव हैं, अयोगकेवली अथवा अयोगिकेवली जीव हैं, सिद्ध जीव हैं : ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥ ९ ॥ सासणसम्माइट्ठी ॥ १० ॥ सम्मामिच्छाइट्ठी ॥ ११ ॥ असंजद-सम्माइट्ठी ॥ १२ ॥ संजदा-संजदा ॥ १३ ॥ पमत्तसंजदा ॥ १४ ॥ अप्पमत्तसंजदा ॥ १५ ॥ अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥ अणियट्टि-बादर-सांपराइयपविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥१७॥ सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १८ ॥ उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥ खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ २० ॥ सजोगकेवली ॥ २१ ॥ अजोगकेवली ॥ २२ ॥ सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

आदेश की अपेक्षा से गत्यनुवाद से नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति एवं सिद्धगति है : आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

नारकी प्रारंभ के चार गुणस्थानों में होते हैं । तिर्यञ्च प्रथम पाँच गुणस्थानों में होते हैं । मनुष्य चौदहों गुणस्थानों में पाये जाते हैं । देव प्रारंभिक चार गुण-स्थानों में होते हैं ।[2]

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव शुद्ध तिर्यञ्च होते हैं । संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक के तिर्यञ्च मिश्र हैं । मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक के मनुष्य मिश्र हैं । इससे आगे शुद्ध मनुष्य हैं ।[3]

इन्द्रिय की अपेक्षा से एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय जीव हैं । एकेन्द्रिय दो प्रकार के हैं : बादर और सूक्ष्म । बादर दो प्रकार के हैं : पर्याप्त

---

१. सू० ८. २. सू० २५–२८. ३. सू० २९–३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अपर्याप्त। सूक्ष्म भी दो प्रकार के हैं : पर्याप्त और अपर्याप्त। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। पंचेन्द्रिय दो तरह के हैं : संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी और असंज्ञी पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।[१]

एकेन्द्रिय यावत् असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) से लेकर अयोगिकेवली (गुणस्थान) तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। इससे आगे (सिद्धावस्था में) अनिन्द्रिय जीव हैं।[२]

काय की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और अकायिक जीव हैं। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक बादर तथा सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। बादर तथा सूक्ष्म पुनः पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। वनस्पतिकायिक दो प्रकार के हैं : प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येकशरीर दो प्रकार के हैं : पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारण शरीर दो प्रकार के हैं : बादर और सूक्ष्म। बादर और सूक्ष्म पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। त्रसकायिक भी पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं।[३]

पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक त्रसकायिक होते हैं। बादर एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त बादरकायिक होते हैं। त्रस और स्थावर—इन दोनों कायों से रहित जीव अकायिक हैं।[४]

योग की अपेक्षा से जीव मनोयोगी, वचनयोगी एवं काययोगी होते हैं। अयोगी जीव भी होते हैं। मनोयोग चार प्रकार का है : १. सत्यमनोयोग, २. मृषामनोयोग, ३. सत्यमृषामनोयोग, ४. असत्यमृषामनोयोग।[५]

सामान्यतया मनोयोग तथा विशेषतया सत्यमनोयोग एवं असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। मृषामनोयोग एवं सत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ तक होता है।[६]

वचनयोग भी चार प्रकार का है : १. सत्यवचनयोग, २. मृषावचनयोग, ३. सत्यमृषावचनयोग, ४. असत्यमृषावचनयोग। सामान्यरूप से वचनयोग तथा

१. सू० ३३–३५, २. सू० ३६–३८, ३. सू० ३९–४२.
४. सू० ४३–४६. ५. सू० ४७–४९. ६. सू० ५०–५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषरूप से असत्यमृषावचनयोग द्वीन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है। सत्यवचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। मृषावचनयोग एवं सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ तक होता है।[१]

काययोग सात प्रकार का है : १. औदारिक काययोग, २. औदारिकमिश्रकाययोग, ३. वैक्रियिककाययोग, ४. वैक्रियिकमिश्रकाययोग, ५. आहारककाययोग, ६. आहारकमिश्रकाययोग, ७. कार्मणकाययोग। इनमें से औदारिककाययोग एवं औदारिकमिश्रकाययोग तिर्यञ्चों व मनुष्यों के होता है। वैक्रियिककाययोग एवं वैक्रियिकमिश्रकाययोग देवों व नारकियों के होता है। आहारककाययोग एवं आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त संयतों के होता है। कार्मणकाययोग विग्रहगतिसमापन्न जीवों तथा समुद्घातगत केवलियों के होता है।[२]

सामान्यतः काययोग तथा विशेषतः औदारिककाययोग एवं औदारिकमिश्रकाययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है। वैक्रियिककाययोग एवं वैक्रियिकमिश्रकाययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक होता है। आहारककाययोग एवं आहारकमिश्रकाययोग प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है। कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है।[3]

मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। वचनयोग एवं काययोग द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होता है। काययोग एकेन्द्रिय जीवों के होता है।[४] इस कथन का तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय के एक ही योग (काययोग) होता है, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त दो योग (काययोग और वचनयोग) होते हैं, शेष जीवों के तीनों योग होते हैं।

मनोयोग एवं वचनयोग पर्याप्तकों के ही होता है, अपर्याप्तकों के नहीं। काययोग पर्याप्तकों के भी होते हैं एवं अपर्याप्तकों के भी।[५]

छः पर्याप्तियाँ व छः अपर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं एकेन्द्रिय के चार पर्याप्तियाँ होती हैं।[६]

---

१. सू. ५२–५५. २. सू. ५६–६०. ३. सू. ६१–६४.
४. सू. ६५–६७. ५. सू. ६८–६९. ६. सू. ७०–७५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औदारिककाययोग, वैक्रियिककाययोग एवं आहारककाययोग पर्याप्तकों के होता है। औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग एवं आहारकमिश्र-काययोग अपर्याप्तकों के होता है।[१]

प्रथम पृथ्वी के नारकी मिथ्यादृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। द्वितीय पृथ्वी से लेकर सप्तम पृथ्वी तक के नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं एवं अपर्याप्तक भी, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं।[२]

तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एवं संयतासंयत गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। योनिवाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि एवं संयतासंयत गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं।[3]

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत एवं संयत गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं।[४] स्त्रियाँ मिथ्यादृष्टि एवं सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होती हैं व अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, एवं संयतासंयत[५] गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होती हैं।[६]

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। भवनवासी, वानव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देव व देवियाँ तथा सौधर्म एवं ईशान कल्पवासिनी देवियाँ—ये सब मिथ्यादृष्टि एवं सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-

---

१. सू. ७६–७८. २. सू. ७९–८३. ३. सू. ८४–८८. ४. सू. ८९–९१,
५. षट्खण्डागम (पुस्तक १, पृ० ३३२) के हिन्दी अनुवाद में संयत गुणस्थान का भी उल्लेख है। टिप्पणी में लिखा है : अत्र 'संजद' इति पाठशेषः प्रतिभाति।
६. सू. ९२–९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यादृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। सौधर्म-ईशान से लेकर उपरिम ग्रैवेयक के उपरिम भाग तक के विमानवासी देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। अनुदिशों एवं विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित व सर्वार्थसिद्धिरूप अनुत्तर विमानों में रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी।[१]

वेद की अपेक्षा से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा अपगतवेद वाले जीव होते हैं। स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। नपुंसकवेद वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाये जाते हैं। इससे आगे जीव अपगतवेद अर्थात् वेदरहित होते हैं।[२]

नारकी चारों गुणस्थानों में शुद्ध अर्थात् केवल नपुंसकवेदी होते हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं। मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं तथा आगे वेदरहित होते हैं। देव चारों गुणस्थानों में स्त्रीवेद व पुरुषवेद—इन दो वेदों से युक्त होते हैं।[3]

कषाय की अपेक्षा से जीव क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी एवं अकषायी (कषायरहित) होते हैं। क्रोधकषायी, मानकषायी एवं मायाकषायी एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। लोभकषायी एकेन्द्रिय से लेकर सूक्ष्म-साम्परायिक-शुद्धि-संयत गुणस्थान तक होते हैं। उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली गुणस्थान में अकषायी होते हैं।[४]

ज्ञान की अपेक्षा से जीव मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी एवं केवलज्ञानी होते हैं। मत्यज्ञानी तथा श्रुताज्ञानी एकेन्द्रिय से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं।

१. सू० ९४–१००.
२. सू० १०१–१०४.
३. सू० १०५–११०.
४. सू० १११–११४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों को होता है। यह पर्याप्तकों को ही होता है, अपर्याप्तकों को नहीं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में प्रारम्भ के तीनों ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञान से, श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान से तथा अवधिज्ञान विभंगज्ञान से मिश्रित होता है। आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्ययज्ञानी प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। केवलज्ञानी सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध—इन तीन अवस्थाओं मे होते हैं।[1]

संयम की अपेक्षा से जीव सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत व असंयत होते हैं। संयत प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली तक होते हैं। सामायिकशुद्धिसंयत व छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। परिहारशुद्धिसंयत प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत—इन दो गुणस्थानों में होते हैं। सूक्ष्मसांपरायिकशुद्धिसंयत केवल सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत गुणस्थान में ही होते हैं। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन चार गुणस्थानों में होते हैं। संयतासंयत एक संयतासंयत गुणस्थान में ही होते हैं। असंयत एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं।[2]

दर्शन की अपेक्षा से जीव चक्षुर्दर्शनी, अचक्षुर्दर्शनी, अवधिदर्शनी एवं केवलदर्शनी होते हैं। चक्षुर्दर्शनी चतुरिन्द्रिय से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। अचक्षुर्दर्शनी एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। अवधिदर्शनी असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। केवलदर्शनी सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध—इन तीन अवस्थाओं में होते हैं।[3]

लेश्या की अपेक्षा से जीव कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या एवं अलेश्यावाले होते हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या तथा कापोतलेश्या वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त होते हैं। तेजोलेश्या तथा पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त

१. सू० ११५-१२२. २. सू० १२३-१३०. ३. सू० १३१-१३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। शुक्ललेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं। इसके आगे जीव अलेश्या वाले अर्थात् लेश्यारहित होते हैं।[१]

भव्यत्व की अपेक्षा से जीव भव्यसिद्धिक एवं अभव्यसिद्धिक होते हैं। भव्यसिद्धिक एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक होते हैं। अभव्यसिद्धिक एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते हैं।[२]

सम्यक्त्व की अपेक्षा से जीव सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि होते हैं। सम्यग्दृष्टि तथा क्षायिकसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं। वेदकसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं। उपशमसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एक सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं। मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते हैं।[3]

प्रथम पृथ्वी के नारकी असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एवं उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। द्वितीयादि पृथ्वी के नारकी असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते अपितु वेदकसम्यग्दृष्टि तथा उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।[४]

तिर्यञ्च असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एवं उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं तथा संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते किन्तु वेदकसम्यग्दृष्टि एवं उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। योनि वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च असंयतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत दोनों गुणस्थानों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते अपितु शेष दो सम्यग्दर्शनों से युक्त होते हैं।[५]

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत एवं संयत गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एवं उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।[६]

देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि तथा उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। भवनवासी, वानव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देव और

---

१. सू० १३६–१४०. २. सू० १४१–१४३. ३. सू० १४४–१५०.
४. सू० १५३–१५५. ५. सू० १५८–१६१. ६. सू० १६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवियाँ तथा सौधर्म एवं ईशान कल्पवासिनी देवियाँ असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते, शेष दो प्रकार के सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं।[१]

संज्ञा की अपेक्षा से जीव संज्ञी एवं असंज्ञी होते हैं। संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। असंज्ञी एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं।[२]

आहार की अपेक्षा से जीव आहारक एवं अनाहारक होते हैं। आहारक एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं। विग्रहगतिसमापन्न जीव, समुद्घातगत केवली, अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं।[3]

२. **द्रव्यप्रमाणानुगम**—सत्प्ररूपणा की तरह द्रव्यप्रमाणानुगम में भी दो प्रकार का कथन होता है : ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से : दव्वपमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥ १ ॥

ओघ की अपेक्षा से द्रव्यप्रमाण से प्रथम गुणस्थानवर्ती अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कितने हैं ? अनन्त हैं : ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, अणंता ॥ २ ॥

कालप्रमाण से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत नहीं होते : अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रमाण से मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त लोकप्रमाण है : खेत्तेण अणंताणंता लोगा ॥ ४ ॥

उपर्युक्त तीनों प्रमाणों का ज्ञान ही भावप्रमाण है : तिण्हं पि अधिगमो भावपमाणं ॥ ५ ॥

सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक (प्रत्येक गुणस्थान में) द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।[४]

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? कोटिपृथक्त्वप्रमाण हैं।[५]

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? संख्येय हैं।[६]

---

१. सू० १६८–१६९. २. सू० १७२–१७४. ३. सू० १७५–१७७.
४. सू० ६ (पुस्तक ३), ५. सू० ७. ६. सू० ८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमश्रेणी के चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो या तीन तथा उत्कृष्टतया चौवन हैं। काल की अपेक्षा से संख्येय हैं।[1]

क्षपकश्रेणी के चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में तथा अयोगिकेवली गुणस्थान में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्टतया एक सौ आठ हैं। काल की अपेक्षा से संख्येय हैं।[2]

सयोगिकेवली गुणस्थान में प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो या तीन तथा उत्कृष्टतया एक सौ आठ जीव होते हैं। काल की अपेक्षा से यह संख्या लक्ष-पृथक्त्व होती है।[3]

द्रव्यप्रमाणानुगमविषयक यह कथन ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से है। आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से एतद्विषयक कथन इस प्रकार है :

गति की अपेक्षा से नरकगतिगत नारकियों में मिथ्यादृष्टि जीव असंख्येय होते हैं। ये असंख्येयासंख्येय अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत हो जाते हैं।[4] सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान समझना चाहिए।[5]

तिर्यञ्चगतिगत तिर्यञ्चों में मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक का सम्पूर्ण कथन सामान्यवत् है।[6] पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असंख्येयासंख्येय अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं।[7] सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक का कथन सामान्य तिर्यञ्चों के समान है।[8] योनिवाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असंख्येय हैं, आदि।[9]

मनुष्यगतिगत मनुष्यों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं तथा असंख्येयासंख्येय अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं। ये जगश्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। इस श्रेणी का आयाम असंख्येय कोटि योजन है। सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थान में संख्येय मनुष्य होते हैं। प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान है।[10] स्त्रियों में मिथ्यादृष्टि कोटाकोटाकोटि के ऊपर यथा कोटाकोटाकोटाकोटि के

१. सू० ९–१०. २. सू० ११–१२. ३. सू० १३–१४.
४. सू० १५–१६. ५. सू० १८. ६. सू० २४.
७. सू० २५–२६. ८. सू० २८. ९. सू० ३३–३६.
१०. सू० ४०–४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे छठे वर्ग के ऊपर तथा सातवें वर्ग के नीचे हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक प्रत्येक गुणस्थान में संख्येय स्त्रियाँ होती हैं।[१]

देवगतिगत देवों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं तथा असंख्येयासंख्येय अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि तथा असंयतसम्यग्दृष्टि देवों का वर्णन सामान्यवत् है। भवनवासी देवों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय होते हैं, इत्यादि।[२]

इन्द्रिय की अपेक्षा से एकेन्द्रिय अनन्त हैं, अनन्तानन्त अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत नहीं होते तथा अनन्तानन्त लोकप्रमाण हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय असंख्येय हैं, असंख्येय[3] अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं, इत्यादि। पंचेन्द्रियों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक का कथन सामान्यवत् है।[४]

काय की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक, बादरतेजस्कायिक, बादर वायुकायिक, बादर वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर तथा इन पाँच के अपर्याप्त, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक तथा इन चार के पर्याप्त एवं अपर्याप्त असंख्येय लोकप्रमाण हैं। बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक एवं बादर वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर के पर्याप्त असंख्येय हैं, आदि। त्रसकायिक एवं त्रसकायिक-पर्याप्तों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं, असंख्येयासंख्येय अवसर्पिणियों व उत्सर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं, इत्यादि।[५]

योग की अपेक्षा से पंचमनोयोगियों एवं त्रिवचनयोगियों में मिथ्यादृष्टि कितने हैं? देवों के संख्यातवें भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक का कथन सामान्यवत् है। प्रमत्तसंयत से लेकर सयोगिकेवली तक संख्येय हैं।[६] वचनयोगियों एवं असत्यमृषा-वचनयोगियों में मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि आदि सामान्यवत् हैं।[७] काययोगियों एवं औदारिक-काययोगियों में मिथ्यादृष्टि सामान्यवत् हैं तथा सासादनसम्यग्दृष्टि आदि मनोयोगियों के समान हैं। औदारिकमिश्र-काययोगियों में मिथ्यादृष्टि एवं सासादन-सम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं तथा असंयतसम्यग्दृष्टि एवं सयोगिकेवली संख्येय

१. सू० ४८–४९. २. सू० ५३–७३.
३. यहाँ अर्थसंदर्भ की दृष्टि से 'असंख्येयासंख्येय' शब्द होना चाहिए।
४. सू० ७४–८६. ५. सू० ८७–१०२. ६. सू० १०३–१०५.
७. सू० १०६–१०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वैक्रियिक-काययोगियों में मिथ्यादृष्टि देवों के संख्यातवें भागप्रमाण न्यून हैं तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। वैक्रियिकमिश्र-काययोगियों में मिथ्यादृष्टि देवों के संख्यातवें भागप्रमाण हैं तथा सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। आहारक-काययोगियों में प्रमत्तसंयत चौवन हैं। आहारकमिश्र-काययोगियों में प्रमत्तसंयत संख्येय हैं। कार्मण-काययोगियों में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि तथा असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् एवं सयोगिकेवली संख्येय हैं।[1]

वेद की अपेक्षा से स्त्रीवेदियों में मिथ्यादृष्टि देवियों से कुछ अधिक हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक का प्ररूपण सामान्यवत् है। प्रमत्त-संयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक संख्येय हैं। पुरुषवेदियों में मिथ्यादृष्टि देवों से कुछ अधिक हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक का प्ररूपण सामान्य के समान है। नपुंसकवेदियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक का कथन सामान्यवत् है। प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक संख्येय नपुंसकवेदी हैं। अपगतवेदियों में तीन प्रकार के उपशमक प्रवेशतः एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टतः चौवन हैं तथा तीन प्रकार के क्षपक, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[2]

कषाय की अपेक्षा से क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी एवं लोभकषायी मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत तक सामान्यवत् हैं तथा प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिकरण तक संख्येय हैं।

लोभकषायी सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत उपशमक तथा क्षपक, अकषायी उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[3]

ज्ञान की अपेक्षा से मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवों में मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। विभंगज्ञानियों में मिथ्यादृष्टि देवों से कुछ अधिक है तथा सासादनसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुत-ज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवों में असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान है। इतनी विशेषता है कि अवधिज्ञानियों में प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ तक संख्येय प्राणी होते हैं। मनःपर्यायज्ञानियों में प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषायवीतराग-

१. सू० ११०–१२३. २. सू० १२४–१३४. ३. सू० १३५–१४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छद्मस्थ तक प्राणिसंख्या संख्येय है। केवलज्ञानियों में सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[१]

संयम की अपेक्षा से संयतों में प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली तक प्राणिसंख्या सामान्यवत् है। सामायिक एवं छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयतों में प्रमत्त-संयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक और क्षपक तक का निरूपण सामान्य की तरह है। परिहारविशुद्धिसंयतों में प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्त-संयत संख्येय हैं। शेष कथन सामान्यवत् है।[२]

दर्शन की अपेक्षा से चक्षुर्दर्शनी मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं। शेष प्ररूपण सामान्य के समान है।[3]

लेश्या की अपेक्षा से कृष्णलेश्या, नीललेश्या एवं कापोतलेश्या वाले जीवों में मिथ्यादृष्टि यावत् असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। तेजोलेश्या वालों में मिथ्यादृष्टि ज्योतिष्क देवों से कुछ अधिक हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् संयता-संयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं। पद्मलेश्या वालों में मिथ्यादृष्टि संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनियुक्त प्राणियों के संख्यातवें भागप्रमाण हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् संयतासंयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्त-संयत संख्येय हैं। शुक्ललेश्यायुक्त जीवों में मिथ्यादृष्टि यावत् संयतासंयत पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं, अपूर्वकरण यावत् सयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[४]

भव्यत्व की अपेक्षा से भव्यसिद्धिकों में मिथ्यादृष्टि यावत् अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। अभव्यसिद्धिक अनन्त हैं।[५]

सम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि यावत् अयोगि-केवली सामान्यवत् हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् है, संयतासंयत यावत् उपशान्त-कषायवीतरागछद्मस्थ संख्येय हैं, चारों (घाती कर्मों के) क्षपक, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। वेदकसम्यग्-दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि यावत् अप्रमत्तसंयत सामान्यवत् हैं। उपशम-सम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि एवं संयतासंयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत यावत् उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ संख्येय हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि सामान्य प्ररूपणा के ही समान हैं।[६]

---

१. सू० १४१-१४७। २. सू० १४८-१५४। ३. सू० १५५-१६१।
४. सू० १६२-१७१। ५. सू० १७२-१७३। ६. सू० १७४-१८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञा की अपेक्षा से संज्ञियों में मिथ्यादृष्टि देवों से कुछ अधिक हैं, सासादन-सम्यग्दृष्टि यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ सामान्यवत् हैं। असंज्ञी अनन्त हैं।[1]

आहार की अपेक्षा से आहारकों में मिथ्यादृष्टि यावत् सयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। अनाहारकों में मिथ्यादृष्टि आदि कार्मणकाययोगियों के सदृश हैं तथा अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[2]

३. **क्षेत्रानुगम**—क्षेत्रानुगम में भी दो प्रकार का कथन होता है : ओघ अर्थात् सामान्य की दृष्टि से और आदेश अर्थात् विशेष की दृष्टि से।[3]

सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सर्वलोक में रहते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् अयोगिकेवली लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। सयोगिकेवली लोक के असंख्यातवें भाग में अथवा असंख्येय भागों में अथवा सर्वलोक में रहते हैं।[4]

विशेष की अपेक्षा से नरकगति में उत्पन्न मिथ्यादृष्टि यावत् असंयतसम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं, इत्यादि।[5]

४. **स्पर्शनानुगम**—स्पर्शनानुगम की अपेक्षा से भी दो प्रकार का कथन होता है : सामान्य की दृष्टि से और विशेष की दृष्टि से। सामान्य की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि जीवों ने सारा लोक स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों ने लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया है, इत्यादि।[6] विशेष की दृष्टि से नारकियों में मिथ्यादृष्टियों ने लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया है, इत्यादि।[7]

५. **कालानुगम**—काल की अपेक्षा से सामान्यतया मिथ्यादृष्टि नाना जीवों की अपेक्षा से सर्वदा होते हैं। एक जीव की अपेक्षा से काल तीन प्रकार का है : अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से सादि-सान्त जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्टतया अर्धपुद्गलपरिवर्तन से कुछ कम है। सासादनसम्यग्दृष्टि नाना जीवों की अपेक्षा से जघन्यतया एक समय तक तथा उत्कृष्टतया पल्योपम के असंख्यातवें भाग पर्यन्त होते हैं। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट काल छः आवलिकाएँ हैं। इसी प्रकार सम्यक्-मिथ्यादृष्टि आदि के विषय में भी यथावत् समझना चाहिए।[8] विशेष की अपेक्षा से नारकियों में

---

१. सू० १८५-१८९. २. सू० १९०-१९२. ३. सू० १ (पुस्तक ४).
४. सू० २-४. ५. सू० ५-९२. ६. सू० १-१० (स्पर्शनानुगम).
७. सू० ११-१८५. ८. सू० १-३२ (कालानुगम).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यादृष्टि नाना जीवों की अपेक्षा से सर्वदा होते हैं। एक जीव की अपेक्षा से यह काल जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्टतया तैंतीस सागरोपम है, इत्यादि।[1]

६. **अन्तरानुगम**—अन्तरानुगम[2] में भी दो प्रकार का कथन होता है: सामान्य की अपेक्षा से और विशेष की अपेक्षा से। सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीवों का नाना जीवों की दृष्टि से अन्तर नहीं है अर्थात् वे निरन्तर हैं। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट दो छासठ (एक सौ बत्तीस) सागरोपम से कुछ कम अन्तर है। सासादनसम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्-मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा से जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर अर्धपुद्गलपरिवर्तन से कुछ कम है। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों के विषय में यथावत् समझ लेना चाहिए।[3]

विशेष की अपेक्षा से नरकगतिस्थित मिथ्यादृष्टि एवं असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों का नाना जीवों की दृष्टि से अन्तर नहीं है। एक जीव की दृष्टि से इनका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तैंतीस सागरोपम से कुछ कम है। इसी प्रकार आगे भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[4]

७. **भावानुगम**—सामान्यतया मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव, सासादन-सम्यग्दृष्टि के पारिणामिक भाव, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक भाव एवं असंयतसम्यग्दृष्टि के औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयतत्व औदयिक भाव से होता है। संयतासंयत, प्रमत्त-संयत एवं अप्रमत्तसंयत के क्षायोपशमिक भाव, चार उपशमकों के औपशमिक भाव तथा चार क्षपकों, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली के क्षायिक भाव होता है।[5]

---

१. सू० ३३-३४२.
२. विवक्षित गुणस्थान से गुणस्थानान्तर में संक्रमण होने पर पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति जब तक नहीं होती तब तक का काल अन्तर कहा जाता है।
३. सू० १-२० (पुस्तक ५). ४. सू० २१-३९७.
५. सू० १-९ (भावानुगम).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषतया नरकगतिस्थित मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव, सासादनसम्यग्दृष्टि के पारिणामिक भाव, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक भाव होता है, आदि।[1]

८. अल्पबहुत्वानुगम—सामान्यतया अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानों में उपशमक जीव प्रवेश की अपेक्षा से तुल्य हैं तथा सब गुणस्थानों से अल्प हैं। उपशान्त-कषायवीतरागछद्मस्थ भी उतने ही हैं। तीन प्रकार के क्षपक उनसे संख्येयगुणित हैं। क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं। सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली प्रवेश की अपेक्षा से तुल्य तथा पूर्वोक्त प्रमाण हैं।[2]

विशेषतया नारकियों में सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि उनसे संख्येयगुणित हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि सम्यक्-मिथ्यादृष्टियों से असंख्येयगुणित हैं। मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टियों से असंख्येय गुणित हैं।[3] इस प्रकार अल्प-बहुत्व का विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।[4] यहाँ तक जीवस्थान के सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों का अधिकार है। इसके बाद प्रकृतिसमु-त्कीर्तन आदि नौ चूलिकाएँ हैं।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं: १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं: १. आभिनिबोधिक-ज्ञानावरणीय, २. श्रुतज्ञानावरणीय, ३. अवधिज्ञानावरणीय, ४. मनःपर्ययज्ञाना-वरणीय, ५. केवलज्ञानावरणीय। दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियाँ हैं: १. निद्रानिद्रा, २. प्रचलाप्रचला, ३. स्त्यानगृद्धि, ४. निद्रा, ५. प्रचला, ६. चक्षुर्दर्शनावरणीय, ७. अचक्षुर्दर्शनावरणीय, ८. अवधिदर्शनावरणीय, ९. केवल-दर्शनावरणीय। वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय कर्म की अट्ठाईस, आयु कर्म की चार, नाम कर्म की बयालीस (पिण्डप्रकृतियाँ), गोत्र कर्म की दो और अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।[5]

२, स्थानसमुत्कीर्तन—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों का बन्ध करने वाले का एक ही भाव में स्थान अर्थात् अवस्थान होता है। यह बंधस्थान मिथ्या-दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा संयत के होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीन बंधस्थान हैं: नौ प्रकृतियों से सम्बन्धित, छः प्रकृतियों से सम्बन्धित और चार प्रकृतियों से सम्बन्धित। नौ

---

१. सू० १०-९३.
२. सू० १-६ (अल्पबहुत्वानुगम).
३. सू० २७-३०.
४. सू० ३१-३८२.
५. सू० १-४६ (पुस्तक ६).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियों से सम्बन्धित बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि अथवा सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। छः प्रकृतियों से सम्बन्धित बन्धस्थान सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा संयत के होता है। चार प्रकृतियों से सम्बन्धित बन्धस्थान केवल संयत के होता है। वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों का एक ही बन्धस्थान है। यह मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा संयत के होता है। मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान हैं : बाईस प्रकृतिसम्बन्धी, इक्कीस प्रकृतिसम्बन्धी, सत्रह प्रकृतिसम्बन्धी, तेरह प्रकृतिसम्बन्धी, नौ प्रकृतिसम्बन्धी, पाँच प्रकृतिसम्बन्धी, चार प्रकृतिसम्बन्धी, तीन प्रकृतिसम्बन्धी, दो प्रकृतिसम्बन्धी और एक प्रकृतिसम्बन्धी। आयु कर्म की चार प्रकृतियों का बन्ध करने वाले का एक ही भाव में अवस्थान होता है। नाम कर्म के आठ बन्धस्थान हैं : इकतीस प्रकृतिसम्बन्धी, तीस प्रकृतिसम्बन्धी, उनतीस प्रकृतिसम्बन्धी, अट्ठाईस प्रकृतिसम्बन्धी, छब्बीस प्रकृतिसम्बन्धी, पचीस प्रकृतिसम्बन्धी, तेईस प्रकृतिसम्बन्धी और एक प्रकृतिसम्बन्धी। गोत्र कर्म की दोनों प्रकृतियों का एक ही बन्धस्थान है। अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियों का बन्धस्थान भी एक ही है।[१]

३. **प्रथम महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलहों कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा प्रकृतियों को बाँधता है, आयु कर्म को नहीं बाँधता, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर आदि प्रकृतियों को बाँधता है।[२]

४. **द्वितीय महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख देव अथवा सातवीं पृथ्वी के नारकी के अतिरिक्त अन्य नारकी पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, सातावेदनीय आदि प्रकृतियों को बाँधता है, आयु कर्म को नहीं बाँधता, इत्यादि।[३]

५. **तृतीय महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख सातवीं पृथ्वी का नारकी पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलहों कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा प्रकृतियों को बाँधता है, आयु कर्म को नहीं बाँधता, तिर्यग्गति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर आदि प्रकृतियों को बाँधता है, उद्योग प्रकृति को कदाचित् बाँधता है, कदाचित् नहीं बाँधता, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त आदि प्रकृतियों को बाँधता है।[४]

---

१. सू० १-११७ (स्थानसमुत्कीर्तन). २. सू० १-२ (प्रथम महादण्डक).
३. सू० १-२ (द्वितीय महादण्डक). ४. सू० १-२ (तृतीय महादण्डक).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **उत्कृष्टस्थिति**—पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, असातावेदनीय तथा पाँचों अन्तराय कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल (अनुदयकाल) तीन हजार वर्ष है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी कर्म-प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पन्द्रह कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष है। मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है। इसका आबाधाकाल सात हजार वर्ष है। सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल चार हजार वर्ष है। इसी प्रकार शेष कर्म-प्रकृतियों के विषय में भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[1]

७. **जघन्यस्थिति**—पाँचों ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, संज्वलनलोभ और पाँचों अन्तराय कर्म-प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है। इनका आबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। पाँच दर्शनावरणीय और असातावेदनीय कर्म-प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम सागरोपम का $\frac{3}{7}$ भाग है। इनका भी आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त तथा आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार अन्य कर्म-प्रकृतियों के विषय में भी यथावत् समझना चाहिए।[2]

८. **सम्यक्त्वोत्पत्ति**—जीव जब इन्हीं सब कर्मों की अन्तःकोटाकोटि की स्थिति का बन्ध करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है, इत्यादि।[3]

९. **गति-आगति**—जो जीव मिथ्यात्वसहित प्रथम नरक में जाते हैं उनमें से कुछ मिथ्यात्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं। कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादन-सम्यक्त्वसहित निकलते हैं। कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते हैं। सम्यक्त्वसहित वहाँ जानेवाले सम्यक्त्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं। द्वितीय से लेकर षष्ठ नरक तक के कुछ जीव मिथ्यात्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित ही निकलते हैं, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं तथा कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते हैं। सप्तम नरक के जीव मिथ्यात्वसहित ही निकलते हैं।[4]

---

१. सू० ४–४४ (उत्कृष्टस्थिति). २. सू० ३–४३.
३. सू० ३–१६ (सम्यक्त्वोत्पत्ति). ४. सू० ४४–५२ (गति-आगति).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ जीव मिथ्यात्वसहित तिर्यञ्चगति में जाकर मिथ्यात्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते हैं, कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते हैं, कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित ही निकलते हैं तथा कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते हैं। सम्यक्त्वसहित वहाँ जाने वाले सम्यक्त्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं। इसी प्रकार अन्य गतियों के प्रवेश-निष्क्रमण के विषय में भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[1]

मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकल कर कितनी गतियों में जाते हैं ? दो गतियों में जाते हैं : तिर्यञ्चगति में तथा मनुष्यगति में। तिर्यञ्चगति में जाने वाले नारकी पंचेन्द्रियों में जाते हैं, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में नहीं। पंचेन्द्रियों में भी संज्ञियों में जाते हैं, असंज्ञियों में नहीं। संज्ञियों में भी गर्भोपक्रान्तिकों में जाते हैं, सम्मूर्च्छिमों में नहीं। गर्भोपक्रान्तिकों में भी पर्याप्तकों में जाते हैं, अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में भी संख्येय वर्ष की आयु वालों में जाते हैं, असंख्येय वर्ष की आयु वालों में नहीं। इसी प्रकार मनुष्यगति में जाने वाले नारकी भी गर्भोपक्रान्तिकों, पर्याप्तकों एवं संख्येय वर्ष की आयु वालों में ही जाते हैं।[2]

सम्यक्-मिथ्यादृष्टि नारकी सम्यक्-मिथ्यात्व गुणस्थानसहित नरक से नहीं निकलते। सम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकल कर मनुष्यगति में ही आते हैं। मनुष्यों में भी गर्भोपक्रान्तिकों में ही आते हैं, इत्यादि। यह सब ऊपर की छः पृथ्वियों के नारकियों के विषय में है। सातवीं पृथ्वी के नारकी केवल तिर्यञ्चगति में ही आते हैं, इत्यादि।[3] इसी प्रकार अन्य गतियों के विविध प्रकार के जीवों के विषय में भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[4] यहाँ तक कर्मप्राभृत के प्रथम खण्ड जीवस्थान का अधिकार है। इसके बाद क्षुद्रकबन्ध नामक द्वितीय खण्ड प्रारम्भ होता है।

क्षुद्रकबन्ध :

क्षुद्रकबन्ध में स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगद्वारों की अपेक्षा से बन्धकों—कर्मों का बन्ध करने वाले जीवों का विचार किया गया है। प्रारम्भ में यह

१. सू० ५३–७५. २. सू० ७६–८५. ३. सू० ८६–१००.
४. सू० १०१–२४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताया गया है कि नारकी बन्धक हैं, तिर्यञ्च बन्धक हैं, देव बन्धक हैं, मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। एकेन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय बन्धक हैं, पंचेन्द्रिय बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, अनिन्द्रिय अबन्धक हैं। पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक बन्धक हैं, त्रसकायिक बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, अकायिक अबन्धक हैं। मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी बन्धक हैं तथा अयोगी अबन्धक हैं। स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी बन्धक हैं, अपगतवेदी बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी और लोभकषायी बन्धक हैं, अकषायी बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, और मनःपर्ययज्ञानी बन्धक हैं, केवलज्ञानी बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। असंयत और संयतासंयत बन्धक हैं, संयत बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। चक्षुर्दर्शनी, अचक्षुर्दर्शनी और अवधिदर्शनी बन्धक हैं, केवलदर्शनी बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले बन्धक हैं तथा जो लेश्यारहित हैं वे अबन्धक हैं। अभव्य-सिद्धिक बन्धक हैं, भव्यसिद्धिक बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि बन्धक हैं, सम्यग्दृष्टि बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। संज्ञी और असंज्ञी बन्धक हैं, जिन—केवली बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। आहारक बन्धक हैं, अनाहारक बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं।[१]

बन्धकों के प्ररूपणार्थ जो ग्यारह अनुयोगद्वार बतलाये गये हैं वे इस प्रकार हैं :

१. एक जीव की अपेक्षा से स्वामित्व, २. एक जीव की अपेक्षा से काल, ३. एक जीव की अपेक्षा से अन्तर, ४. नाना जीवों की अपेक्षा से भंगविचय, ५. द्रव्यप्ररूपणानुगम, ६. क्षेत्राणुगम, ७. स्पर्शनानुगम, ८. नाना जीवों की अपेक्षा से काल, ९. नाना जीवों की अपेक्षा से अन्तर, १०. भागाभागानुगम, ११. अल्पबहुत्वानुगम।[२]

---

१. सू० ३-४३ (पुस्तक ७).   २. सू० २ (स्वामित्वानुगम),

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

बन्धस्वामित्वविचय :

बन्धस्वामित्वविचय का अर्थ है बन्ध के स्वामित्व का विचार। इस खण्ड में यह विचार किया गया है कि कौन-सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान व मार्गणास्थान में सम्भव है।

बन्धस्वामित्वविचय का निरूपण दो प्रकार से होता है : सामान्य की अपेक्षा से और विशेष की अपेक्षा से। सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म-साम्परायिक-शुद्धि-संयत उपशमक और क्षपक तक पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय प्रकृतियों के बन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यञ्चआयु, तिर्यञ्चगति, चार संस्थान, चार संहनन, तिर्यञ्चगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र प्रकृतियों के बन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धिसंयत उपशमक और क्षपक तक निद्रा और प्रचला प्रकृतियों के बन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक सातावेदनीय के बन्धक हैं। इसी प्रकार असातावेदनीय आदि के बन्धकों के विषय में यथावत् समझना चाहिए।[1]

इसी संदर्भ में तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्म बाँधने के सोलह कारण गिनाये गये हैं जो इस प्रकार हैं : १. दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील-व्रतों में निरतिचारता, ४. षडावश्यकों में अपरिहीनता, ५. क्षण-लवप्रतिबोधनता, ६. लब्धि-संवेगसम्पन्नता, ७. यथाशक्ति तप, ८. साधुसम्बन्धी प्रासुकपरित्यागता, ९. साधुओं की समाधिसंधारणा, १०. साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११. अर्हद्भक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति, १४. प्रवचनवत्सलता, १५. प्रवचनप्रभावनता, १६. पुनः पुनः ज्ञानोपयोगयुक्तता।[2]

विशेष की अपेक्षा से नारकियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक पाँच ज्ञानावरण, छः दर्शनावरण, साता, असाता, बारह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभसंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर,

---

१. सू० १-३८ (पुस्तक ८).   २. सू० ४१.

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय प्रकृतियों के बन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि आदि के बन्धक हैं। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, हुण्डसंस्थान और असंप्राप्तसृपाटिकाशरीरसंहनन के बन्धक हैं। इस प्रकार विशेष की अपेक्षा से गति आदि मार्गणाओं द्वारा बन्धकों का विचार किया गया है।[1]

वेदना :

वेदना खण्ड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों का निरूपण किया गया है। चूँकि इस खण्ड में वेदना अनुयोगद्वार का अधिक विस्तार है अतः इसका यही नाम रखा गया है।

प्रारंभ में आचार्य ने 'णमो जिणाणं' सूत्र द्वारा सामान्यरूप से जिनों को नमस्कार किया है। तदनन्तर अवधिजिनों, परमावधिजिनों, सर्वावधिजिनों, अनन्तावधिजिनों, कोष्ठबुद्धिजिनों, बीजबुद्धिजिनों, पदानुसारिजिनों, संभिन्नश्रोतृजिनों, ऋजुमतिजिनों, विपुलमतिजिनों, दशपूर्विजिनों, चतुर्दशपूर्विजिनों, अष्टांगमहानिमित्तकुशलजिनों, विक्रियाप्राप्तजिनों, विद्याधरजिनों, चारणजिनों, प्रज्ञाश्रवणजिनों, आकाशगामिजिनों, आशीविषजिनों, दृष्टिविषजिनों, उग्रतपोजिनों, दीप्ततपोजिनों, तप्ततपोजिनों, महातपोजिनों, घोरतपोजिनों, घोरपराक्रमजिनों, घोरगुणजिनों, खेलौषधिप्राप्तजिनों, जल्लौषधिप्राप्तजिनों, विष्ठौषधिप्राप्तजिनों, सर्वौषधिप्राप्तजिनों, मनोबलिजिनों, वचनबलिजिनों, कायबलिजिनों, क्षीरस्रविजिनों, सर्पिस्रविजिनों, मधुस्रविजिनों, अमृतस्रविजिनों, अक्षीणमहानसजिनों, सर्व सिद्धायतनों एवं वर्धमान बुद्धर्षि को नमस्कार किया है।[2] यह ग्रन्थकारकृत मध्य-मंगल है।

कृति-अनुयोगद्वार—कृति-अनुयोगद्वार का निरूपण प्रारम्भ करते हुए आचार्य ने कृति के सात प्रकार बताये हैं : १. नामकृति, २. स्थापनाकृति, ३. द्रव्यकृति, ४. गणनकृति, ५. ग्रन्थकृति, ६. करणकृति, ७. भावकृति।[3]

सात नयों में से नैगम, व्यवहार और संग्रह इन सब कृतियों की इच्छा करते हैं। ऋजुसूत्र स्थापनाकृति की इच्छा नहीं करता। शब्दादि नामकृति और भावकृति की इच्छा करते हैं।[4]

---

१. सू० ४३–३२४.
२. सू० १–४४ (पुस्तक ९)
३. सू० ४६,
४. सू० ४८–५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामकृति एक जीव की, एक अजीव की, अनेक जीवों की, अनेक अजीवों की, एक जीव और एक अजीव की, एक जीव और अनेक अजीवों की, अनेक जीवों और एक अजीव की अथवा अनेक जीवों और अनेक अजीवों की होती है।[1]

स्थापनाकृति काष्ठकर्मों में, चित्रकर्मों में, पोतकर्मों में, लेप्यकर्मों में, शैलकर्मों में, गृहकर्मों में, भित्तिकर्मों में, दन्तकर्मों में, भेंडकर्मों में, अक्ष में, वराटक में अथवा अन्य प्रकार की स्थापनाओं में होती है।[2]

द्रव्यकृति दो प्रकार की है : आगमतः द्रव्यकृति और नोआगमतः द्रव्यकृति। आगमतः द्रव्यकृति के नौ अधिकार हैं : १. स्थिति, २. जित, ३. परिजित, ४. वाचनोपगत, ५. सूत्रसम, ६. अर्थसम, ७. ग्रन्थसम, ८. नामसम, ९. घोषसम। नोआगमतः द्रव्यकृति तीन प्रकार की है : ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति, भावी द्रव्यकृति और ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्त द्रव्यकृति।[3]

गणनकृति अनेक प्रकार की है, यथा—एक (संख्या) नोकृति है, दो कृति एवं नोकृतिरूप से अवक्तव्य है, तीन यावत् संख्येय, असंख्येय और अनन्त कृति कहलाते हैं।[4]

लोक में, वेद में एवं समय में शब्दप्रबन्धनरूप अक्षरात्मक काव्यादिकों की जो ग्रन्थरचना की जाती है वह ग्रन्थकृति कहलाती है।[5]

करणकृति दो प्रकार की है : मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति। मूलकरणकृति पाँच प्रकार की है : औदारिकशरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिकशरीरमूलकरणकृति, आहारशरीरमूलकरणकृति, तैजसशरीरमूलकरणकृति और कार्मणशरीरमूलकरणकृति। उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है, यथा—असि, परशु, कुदाली, चक्र, दण्ड, शलाका, मृत्तिका, सूत्र आदि।[6]

कृतिप्राभृत का जानकार उपयोगयुक्त जीव भावकृति है।[7]

इन सब कृतियों में गणनकृति प्रकृत है।[8] गणना के बिना शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं हो सकती।

वेदना-अनुयोगद्वार—वेदना के ये सोलह अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं : १. वेदननिक्षेप, २. वेदननयविभाषणता, ३. वेदननामविधान, ४. वेदनद्रव्य-

---

१. सू० ५१. २. सू० ५२. ३. सू० ५३–६५.
४. सू० ६६. ५. सू० ६७. ६. सू० ६८–७३.
७. सू० ७४. ८. सू० ७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधान, ५. वेदनक्षेत्रविधान, ६. वेदनकालविधान, ७. वेदनभावविधान, ८. वेदनप्रत्ययविधान, ९. वेदनस्वामित्वविधान, १०. वेदनवेदनविधान, ११. वेदनगतिविधान, १२. वेदनअनन्तरविधान, १३. वेदनसन्निकर्षविधान, १४. वेदनपरिमाणविधान, १५. वेदनभागाभागविधान, १६. वेदनअल्पबहुत्व ।[1]

वेदननिक्षेप चार प्रकार का है : नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना ।[2]

वेदननयविभाषणता में यह बताया गया है कि कौन-सा नय किन वेदनाओं को स्वीकार करता है ।[3]

वेदननामविधान में नयों की अपेक्षा से वेदना के विविध भेदों का प्रतिपादन किया गया है ।[4]

वेदनद्रव्यविधान में तीन अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं : पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।[5]

वेदनक्षेत्रविधान में भी तीन अनुयोगद्वार हैं : पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।[6]

वेदनकालविधान में भी ये ही तीन अनुयोगद्वार हैं ।[7]

वेदनभावविधान में भी इन्हीं तीन अनुयोगद्वारों का प्ररूपण है ।[8]

वेदनप्रत्ययविधान में बताया गया है कि नैगम, व्यवहार एवं संग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना प्राणातिपात प्रत्यय से होती है, मृषावाद प्रत्यय से होती है, अदत्तादान प्रत्यय से होती है, मैथुन प्रत्यय से होती है, परिग्रह प्रत्यय से होती है, रात्रिभोजन प्रत्यय से होती है । इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति आदि प्रत्ययों से भी ज्ञानावरणीय वेदना होती है । इसी तरह शेष सात कर्मों के विषय में समझना चाहिए । ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना योगप्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशरूप तथा कषायप्रत्यय से स्थिति व अनुभागरूप होती है । इसी प्रकार का प्ररूपण शेष सात कर्मों के विषय में भी कर लेना चाहिए । शब्द नयों की अपेक्षा से ये प्रत्यय अवक्तव्य हैं ।[9]

---

१. सू० १ (पुस्तक १०).
२. सू० २-३.
३. सू० १-४ (वेदननयविभाषणता).
४. सू० १-४ (वेदननामविधान).
५. सू० १-२१३ (वेदनद्रव्यविधान).
६. सू० १-९९ (पुस्तक ११).
७. सू० १-२७९ (वेदनकालविधान).
८. सू० १-३१४ (पुस्तक १२).
९. सू० १-१६ (वेदनप्रत्ययविधान).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदनस्वामित्वविधान में यह प्रतिपादन किया गया है कि नैगम एवं व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् एक जीव के होती है, कथंचित् एक नोजीव के होती है, कथंचित् अनेक जीवों के होती है, कथंचित् अनेक नोजीवों के होती है, कथंचित् एक जीव और एक नोजीव के होती है, कथंचित् एक जीव और अनेक नोजीवों के होती है, कथंचित् अनेक जीवों और एक नोजीव के होती है, कथंचित् अनेक जीवों और अनेक नोजीवों के होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय में समझना चाहिए। संग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना एक जीव के होती है अथवा अनेक जीवों के होती है। शब्द और ऋजुसूत्र नयों की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना एक जीव के होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय में कहना चाहिए।[१]

वेदनवेदनविधान में यह बताया गया है कि नैगम नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् बध्यमान वेदना है, कथंचित् उदीर्ण वेदना है, कथंचित् उपशान्त वेदना है, कथंचित् बध्यमान वेदनाएँ हैं, कथंचित् उदीर्ण वेदनाएँ हैं, इत्यादि।[२]

वेदनगतिविधान में यह निरूपण किया गया है कि नैगम, व्यवहार एवं संग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् अवस्थित है, कथंचित् स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के विषय में समझना चाहिए। वेदनीय वेदना कथंचित् स्थित है, कथंचित् अस्थित है, कथंचित् स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र के विषय में जानना चाहिए। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथंचित् स्थित है, कथंचित् अस्थित है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय में जानना चाहिए। शब्द नयों की अपेक्षा से अवक्तव्य है।[3]

वेदनअनन्तरविधान में यह प्रतिपादन किया गया है कि नैगम एवं व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तरबन्ध है, परम्परबन्ध है तथा तदुभयबन्ध है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। संग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तरबन्ध है तथा परम्परबन्ध है। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से

---

१. सू० १-१५ (वेदनस्वामित्वविधान). २. सू० १-५८ (वेदनवेदनविधान).
३. सू० १-१२ (वेदनगतिविधान).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानावरणीय आदि वेदनाएँ परम्परबन्ध हैं। शब्द नयों की अपेक्षा से अव-क्तव्य हैं।[1]

वेदनसन्निकर्ष दो प्रकार का है : स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष और परस्थानवेदन-सन्निकर्ष। स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष के दो भेद हैं : जघन्य स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष और उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। जिसके ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्र की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ? नियमतः अनुत्कृष्ट होती है तथा असंख्येयगुणहीन होती है। काल की अपेक्षा से उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी। उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट एक समय न्यून होती है। भाव की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट उभयरूप होती है। उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट षट्स्थानपतित होती है अर्थात् अनन्त-भागहीन, असंख्येयभागहीन, संख्येयभागहीन, संख्येयगुणहीन, असंख्येयगुणहीन और अनन्तगुणहीन होती है। जिसके ज्ञानावरणीय वेदना क्षेत्र की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ? नियमतः अनुत्कृष्ट होती है तथा चतुःस्थानपतित होती है : असंख्येयभागहीन, संख्येयभागहीन, संख्येयगुणहीन और असंख्येयगुणहीन।[2] इसी प्रकार शेष प्ररूपण के विषय में भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[3]

वेदनपरिमाणविधान का तीन अनुयोगद्वारों में विचार किया गया है : प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय अथवा क्षेत्रप्रत्यास। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म की असंख्येय लोकप्रमाण प्रकृतियाँ हैं।[4] वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं।[5] इसी प्रकार अन्य कर्मों की प्रकृतियों का भी निरूपण किया गया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्त-राय कर्म की एक-एक समयप्रबद्धार्थता-प्रकृति तीस कोटाकोटि सागरोपम को समयप्रबद्धार्थता से गुणित करने पर प्राप्त हो उतनी है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की समयप्रबद्धार्थता-प्रकृतियों का भी प्रतिपादन किया गया है। जो मत्स्य एक हजार योजनप्रमाण है, स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट पर स्थित है, वेदनासमुद्घात

१. सू० १-११ (वेदनअनन्तरविधान).
२. सू० १-१७ (वेदनसन्निकर्षविधान).
३. सू० १८-३२०.
४. पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से—धवला, पु० १२, पृ० ४८१.
५. द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से—वही.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त है, कापोतलेश्या से संलग्न है, फिर मारणांतिक समुद्घात को प्राप्त हुआ है तथा विग्रहगति के तीन काण्डक करके सप्तम नरक में उत्पन्न होगा उसके ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों को क्षेत्रप्रत्यास से गुणित करने पर ज्ञानावरण की क्षेत्रप्रत्यास-प्रकृतियों का परिमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के सम्बन्ध में भी प्ररूपणा की गई है।[1]

वेदनभागाभागविधान का भी प्रकृत्यर्थता आदि तीन अनुयोगद्वारों में विचार किया गया है। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियों का कुछ कम द्वितीय भाग है। वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एवं अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियों का असंख्यातवाँ भाग है। इसी प्रकार शेष दो अनुयोगद्वारों का भी निरूपण किया गया है।[2]

वेदनअल्पबहुत्व में भी प्रकृत्यर्थता आदि तीन अनुयोगद्वार हैं। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम हैं। वेदनीय कर्म की भी उतनी ही प्रकृतियाँ हैं। आयु कर्म की प्रकृतियाँ उनसे संख्येयगुणित हैं। अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक हैं। मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे संख्येय-गुणित हैं। नाम कर्म की प्रकृतियाँ उनसे असंख्येयगुणित हैं। दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे असंख्येयगुणित हैं। ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक हैं। समयप्रबद्धार्थता की अपेक्षा से आयु कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम हैं, इत्यादि। क्षेत्रप्रत्यास की अपेक्षा से अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम हैं, इत्यादि।[3]

वर्गणा :

वर्गणा खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारों के साथ बन्धन अनुयोगद्वार के बन्ध और बन्धनीय इन दो अधिकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। बन्धनीय के विवेचन में वर्गणाओं का विस्तृत वर्णन होने के कारण इस खण्ड को वर्गणा नाम से सम्बोधित किया जाता है।

स्पर्श-अनुयोगद्वार—स्पर्श-अनुयोगद्वार के निम्नोक्त सोलह अधिकार हैं : १. स्पर्शनिक्षेप, २. स्पर्शनयविभाषणता, ३. स्पर्शनामविधान, ४. स्पर्शद्रव्य-विधान, ५. स्पर्शक्षेत्रविधान, ६. स्पर्शकालविधान, ७. स्पर्शभावविधान, ८. स्पर्श-

१. सू० १–५३ (वेदनपरिमाणविधान).
२. सू० १–२० (वेदनभागाभागविधान).
३. सू० १–२६ (वेदनअल्पबहुत्व)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्ययविधान, ९. स्पर्शस्वामित्वविधान, १०. स्पर्शस्पर्शविधान, ११. स्पर्शगति-विधान, १२. स्पर्शअनन्तरविधान, १३. स्पर्शसन्निकर्षविधान, १४. स्पर्शपरिमाण-विधान, १५. स्पर्शभागाभागविधान, १६. स्पर्शअल्पबहुत्व ।[1]

कर्म-अनुयोगद्वार—कर्म-अनुयोगद्वार के भी कर्मनिक्षेपादि सोलह अधिकार हैं ।[2]

प्रकृति-अनुयोगद्वार—प्रकृति-अनुयोगद्वार भी प्रकृतिनिक्षेपादि सोलह अधिकारों में विभक्त है ।[3]

बन्धन-अनुयोगद्वार—बन्धन के चार भेद हैं : बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । इनमें से बन्ध चार प्रकार का है : नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ।[4]

बन्धक का गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय आदि चौदह मार्गणाओं में विचार करना चाहिए । गति की अपेक्षा से नारकी बन्धक हैं, तिर्यञ्च बन्धक हैं, देव बन्धक हैं, मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं । इस प्रकार यहाँ क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अनुयोगद्वार जानने चाहिए । ग्यारह अनुयोगद्वारों का कथन करके महादण्डकों का भी कथन करना चाहिए ।[5]

बन्धनीय का इस प्रकार अनुगमन करते हैं : वेदनात्मक पुद्गल हैं, पुद्गल स्कन्धस्वरूप हैं, स्कन्ध वर्गणास्वरूप हैं । वर्गणाओं के अनुगमन के लिए आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं : वर्गणा, वर्गणाद्रव्यसमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व ।[6] इनमें से वर्गणा-अनुयोगद्वार के निम्नोक्त सोलह अधिकार हैं : १. वर्गणानिक्षेप, २. वर्गणानयविभाषणता, ३. वर्गणाप्ररूपणा, ४. वर्गणा-निरूपणा, ५. वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, ६. वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, ७. वर्गणा-ओजयुग्मानुगम, ८. वर्गणाक्षेत्रानुगम, ९. वर्गणास्पर्शनानुगम, १०. वर्गणाकालानुगम, ११. वर्गणाअन्तरानुगम, १२. वर्गणाभावानुगम, १३. वर्गणाउपनयनानुगम, १४. वर्गणापरिमाणानुगम, १५. वर्गणाभागाभागानुगम, १६. वर्गणाअल्पबहुत्व ।[7]

---

१. सू० २ (पुस्तक १३).
२. सू० २ (कर्म-अनुयोगद्वार).
३. सू० १–२ (प्रकृति-अनुयोगद्वार).
४. सू० १–२ (पुस्तक १४).
५. सू० ६५–६७.
६. सू० ६८–६९.
७. सू० ७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धविधान चार प्रकार का है : प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ।[1]

महाबन्ध :

महाबन्ध खण्ड प्रकृतिबन्धादि उपर्युक्त चार अधिकारों में विभक्त है। प्रकृतिबन्ध अधिकार में निम्नलिखित विषय हैं : प्रकृतिसमुत्कीर्तन, सर्व-नोसर्वबन्ध प्ररूपण, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टबन्धप्ररूपण, जघन्य-अजघन्यबन्धप्ररूपण, सादि-अनादि-बन्धप्ररूपण; ध्रुव-अध्रुवबन्धप्ररूपण, बन्धस्वामित्वविचय, एक जीव की अपेक्षा से कालानुगम, अन्तरानुगम, सन्निकर्षप्ररूपण, भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, अनेक जीवों की अपेक्षा से कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम, अल्पबहुत्वप्ररूपण ।[2]

स्थितिबन्ध दो प्रकार का है : मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध के चार अनुयोगद्वार हैं : स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इस सम्बन्ध में ये चौबीस अधिकार ज्ञातव्य हैं : १. अद्धाच्छेद, २. सर्वबन्ध, ३. नोसर्वबन्ध, ४. उत्कृष्टबन्ध, ५. अनुत्कृष्टबन्ध, ६. जघन्यबन्ध, ७. अजघन्यबन्ध, ८. सादिबन्ध, ९. अनादिबन्ध, १०. ध्रुवबन्ध, ११. अध्रुवबन्ध, १२. स्वामित्व, १३. बन्धकाल, १४. बन्धान्तर, १५. बन्धसन्निकर्ष, १६. नाना जीवों की अपेक्षा से भंगविचय, १७. भागाभाग, १८. परिमाण, १९ क्षेत्र, २०. स्पर्शन, २१. काल, २२. अन्तर, २३. भाव, २४. अल्पबहुत्व। इनके अतिरिक्त भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार किया गया है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध का प्रतिपादन भी इसी प्रक्रिया से किया गया है।[3]

अनुभागबन्ध भी दो प्रकार का है : मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध। मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध के दो अनुयोगद्वार हैं : निषेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा। निषेकप्ररूपणा की अपेक्षा से आठों कर्मों के जो देशघातिस्पर्धक हैं उनके प्रथम वर्गणा से प्रारम्भ कर निषेक हैं जो आगे बराबर चले गये हैं। चार घातिकर्मों के जो सर्वघातिस्पर्धक हैं उनके भी प्रथम वर्गणा से प्रारम्भ कर निषेक हैं जो आगे बराबर चले गये हैं। स्पर्धकप्ररूपणा की अपेक्षा से अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदों के समुदायसमागम से एक वर्ग होता है, अनन्ता-

---

१. सू० ७९७. २. महाबंध, पु० १. ३. महाबंध, पु० २–३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्त वर्गों के समुदायसमागम से (एक वर्गणा होती है तथा अनन्तानन्त वर्गणाओं के समुदायसमागम से) एक स्पर्धक होता है। यहाँ ये चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं : संज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध यावत् अल्पबहुत्व। इनके अतिरिक्त भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार भी ज्ञातव्य हैं।[१]

प्रदेशबन्ध भी मूलप्रकृतिप्रदेशबन्ध और उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। आठ प्रकार की मूल-कर्मप्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के आयु कर्म का भाग सबसे कम होता है, नाम एवं गोत्र कर्म का भाग उससे विशेष अधिक होता है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का भाग उससे विशेष अधिक होता है, मोहनीय कर्म का भाग उससे विशेष अधिक होता है तथा वेदनीय कर्म का भाग उससे विशेष अधिक होता है। सात प्रकार की मूल-कर्मप्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के नाम एवं गोत्र कर्म का भाग सबसे कम होता है, इत्यादि। यहाँ स्थानप्ररूपणा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध आदि चौबीस अनुयोगद्वार तथा भुजगारबन्ध आदि ज्ञातव्य हैं।[२]

ग्रन्थ के अन्त में[3] पुनः मंगलमंत्र द्वारा अरिहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं लोक के सब साधुओं को नमस्कार किया गया है :

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

•

१. महाबंध, पु० ४–५.
२. महाबंध, पु० ६–७.
३. महाबंध, पु० ७, पृ० ३१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय प्रकरण

कर्मप्राभृत की व्याख्याएँ

वीरसेनाचार्यविरचित धवला टीका कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) की अति-महत्त्वपूर्ण बृहत्काय व्याख्या है। धवला से पूर्व रची गई कर्मप्राभृत की टीकाओं का उल्लेख इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में मिलता है।[1] ये टीकाएँ वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। इनका यत्किंचित् परिचय देने के बाद उपलब्ध धवला का विस्तार से परिचय दिया जायगा।

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म :

उपर्युक्त श्रुतावतार में उल्लेख है कि कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत का ज्ञान गुरुपरम्परा से कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दिमुनि अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त हुआ। उन्होंने कर्मप्राभृत के छः खण्डों में से प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोकप्रमाण एक टीकाग्रन्थ लिखा। धवला में इस ग्रन्थ का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह टीकाग्रन्थ प्राकृत में था।

शामकुण्डकृत पद्धति :

आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति नामक टीका कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर थी। कषायप्राभृत पर भी इन्हीं आचार्य की इसी नाम की टीका थी। इन दोनों टीकाओं का परिमाण बारह हजार श्लोक था। इनकी भाषा प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़मिश्रित थी। ये परिकर्म से बहुत बाद लिखी गईं। इन टीकाओं का कोई उल्लेख धवला आदि में नहीं मिलता।

तुम्बुलूरकृत चूडामणि व पंजिका :

तुम्बुलूराचार्य ने भी कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों तथा कषायप्राभृत पर एक टीका लिखी। इस बृहत्काय टीका का नाम चूडामणि था। चूडामणि चौरासी हजार श्लोकप्रमाण थी। इसकी भाषा कन्नड़ थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने कर्मप्राभृत के छठे खण्ड पर प्राकृत में पंजिका नामक व्याख्या लिखी

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ४६–५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका परिमाण सात हजार श्लोक था।[1] इन टीकाओं का भी कोई उल्लेख धवला आदि में दृष्टिगोचर नहीं होता। तुम्बुलूराचार्य शामकुण्डाचार्य से बहुत बाद हुए।

समन्तभद्रकृत टीका :

समन्तभद्रस्वामी ने कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर अड़तालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी। यह टीका अति सुन्दर एवं मृदु संस्कृत भाषा में थी। समन्तभद्रस्वामी तुम्बुलूराचार्य के बाद हुए। इन्द्रनन्दि ने समन्तभद्र को 'तार्किकार्क' विशेषण से विभूषित किया है। धवला में यद्यपि समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा आदि के अवतरण उद्धृत किये गये हैं किन्तु प्रस्तुत टीका का कोई उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता।

बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति :

बप्पदेवगुरु ने कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पर टीकाएँ लिखीं। उन्होंने कर्मप्राभृत के पाँच खण्डों पर जो टीका लिखी उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था। षष्ठ खण्ड पर उनकी व्याख्या संक्षिप्त थी। यह व्याख्या पंचाधिक अष्टसहस्र श्लोकप्रमाण थी। पाँच खण्डों और कषायप्राभृत की टीकाओं का संयुक्त परिमाण साठ हजार श्लोक था। इन सब व्याख्याओं की भाषा प्राकृत थी। कषायप्राभृत की जयधवला टीका में एक स्थान पर बप्पदेव के नाम का उल्लेख किया गया है। बप्पदेव समन्तभद्र के बाद होनेवाले आचार्य हैं।

धवलाकार वीरसेन :

कर्मप्राभृत की उपलब्ध टीका धवला के कर्ता का नाम वीरसेन है। ये आर्यनन्दि के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य थे तथा एलाचार्य इनके विद्यागुरु थे। वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण तथा प्रमाणशास्त्र में निपुण थे एवं भट्टारक पद से विभूषित थे।[2] कषायप्राभृत की टीका जयधवला का प्रारम्भ का एक-तिहाई भाग भी इन्हीं वीरसेन का लिखा हुआ है।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में बताया गया है कि बप्पदेवगुरु द्वारा सिद्धान्तग्रन्थों की टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्य

---

१. क्या यह पंजिका सत्कर्मपंजिका से भिन्न है ?
—देखिये, षट्खण्डागम, पुस्तक १५, प्रस्तावना, पृ० १८.

२. षट्खण्डागम, पुस्तक १६ के अन्त में धवलाकार-प्रशस्ति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए। उनके पास वीरसेनगुरु ने सकल सिद्धान्त का अध्ययन किया तथा षट्खण्डागम पर ७२००० श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृतमिश्रित धवला टीका लिखी। इसके बाद कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर २०००० श्लोकप्रमाण जयधवला टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गवासी हुए। इस जयधवला को उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने ४०००० श्लोकप्रमाण टीका और लिखकर पूर्ण किया।[1] वीरसेनाचार्य का समय धवला व जयधवला के अन्त में प्राप्त प्रशस्तियों एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर शक की आठवीं शताब्दी सिद्ध होता है।[2]

धवला टीका :

षट्खण्डागम पर धवला टीका लिखकर वीरसेनाचार्य ने जैन साहित्य की महती सेवा की है। धवल का अर्थ शुक्ल के अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। सम्भवतः अपनी टीका के इसी गुण को ध्यान में रखते हुए आचार्य ने यह नाम चुना हो। यह टीका जीवस्थान आदि पाँच खण्डों पर ही है, महाबन्ध नामक छठे खण्ड पर नहीं। इस विशाल टीका का लगभग तीन-चौथाई भाग प्राकृत (शौरसेनी) में तथा शेष भाग संस्कृत में है। इसमें जैन सिद्धान्त के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सामग्री उपलब्ध होती है।

टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने जिन, श्रुतदेवता, गणधरदेव, धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि को नमस्कार किया है।

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं ।
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥
बारह-अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥
सयल-गण-पउम-रविणो विविहद्धि-विराइया विणिस्संगा ।
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥
पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गओह-दाण-वर-सीहो ।
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥
पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं ।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥
पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं ।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ३८.
२. वही, पृ० ३९–४५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता—इन छः अधिकारों का व्याख्यान करने के बाद आचार्य को शास्त्र की व्याख्या करनी चाहिये,[1] इस नियम को उद्धृत करने के पश्चात् टीकाकार ने मंगल-सूत्र का व्याख्यान किया है :

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥

मंगल-सूत्र के व्याख्यान में ६८ गाथाएँ और श्लोक उद्धृत किये गये हैं।[2]

श्रुतकर्ता—श्रुत के कर्ता का निरूपण करते हुए टीकाकार ने कहा है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-कारणों की विशेषता से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग की निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्ति की अतिशयभूत नौ केवल-लब्धियों से युक्त वर्धमान महावीर ने भावश्रुत का उपदेश दिया तथा उसी काल और उसी क्षेत्र में क्षयोपशमविशेष से उत्पन्न हुए चार प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त, गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण, सकल दुःश्रुति में पारंगत एवं जीवाजीवविषयक सन्देह को दूर करने के लिए महावीर के पादमूल में उपस्थित इन्द्रभूति ने उसका अवधारण किया। भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत इन्द्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप[3] ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार भावश्रुत अर्थात् अर्थ-पदों के कर्ता महावीर तीर्थंकर हैं तथा द्रव्यश्रुत अर्थात् ग्रन्थ-पदों के कर्ता गौतम गणधर हैं। गौतम गणधर ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने वह ज्ञान जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी-क्रम से ये तीनों ही सकल श्रुत के धारक कहे गये हैं। अपरिपाटी से तो सकल श्रुत के धारक संख्येय सहस्र हैं।[4]

गौतमदेव, लोहार्याचार्य[5] और जम्बूस्वामी—ये तीनों ही सात प्रकार की लब्धि से सम्पन्न तथा सकल श्रुतसागर के पारगामी होकर केवलज्ञान उत्पन्न कर

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ७. २. वही, पृ० १०–११.

१. पुस्तक ९, पृ० १२९ पर उल्लेख है कि इन्द्रभूति ने बारह अंगों तथा चौदह अंगबाह्य प्रकीर्णकों की रचना की।

४. पुस्तक १, पृ० ६३–६५.

५. जयधवला व (इन्द्रनन्दिकृत) श्रुतावतार में लोहार्याचार्य के स्थान पर उनके अपर नाम सुधर्माचार्य का उल्लेख है।

—वही, पृ० ६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्वाण को प्राप्त हुए। तदनन्तर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु—ये पाँचों परिपाटी-क्रम से चतुर्दश-पूर्वधर हुए। इसके बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन—ये ग्यारहों परिपाटी-क्रम से ग्यारह अंगों व उत्पादपूर्वादि दस पूर्वों में पारंगत तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तत्पश्चात् नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन[1] और कंसाचार्य—ये पाँचों परिपाटी-क्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अंगों के तथा चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र[2], यशोबाहु[3] और लोहाचार्य—ये चारों सम्पूर्ण आचारांग के तथा शेष अंगों एवं पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सब अंगों एवं पूर्वों का एकदेश आचार्य-परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। धरसेन भट्टारक ने पुष्पदन्त और भूतबलि को पढ़ाया। पुष्पदन्त-भूतबलि ने इस ग्रंथ की रचना की। अतः इस खण्डसिद्धान्त की अपेक्षा से ये दोनों आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं।[4]

श्रुत का अर्थाधिकार—श्रुत का अर्थाधिकार दो प्रकार का है: अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के चौदह अर्थाधिकार हैं: १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्पिक, ११. महाकल्पिक, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक, १४. निशीथिका।[5]

सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव द्वारा समताभाव के विधान का वर्णन करता है। चतुर्विंशतिस्तव चौबीस तीर्थंकरों के वंदनविधान,

१. श्रुतावतार में ध्रुवसेन के स्थान पर द्रुमसेन का उल्लेख है।—वही.
२. श्रुतावतार में यशोभद्र के स्थान पर अभयभद्र का उल्लेख है।—वही.
३. जयधवला व श्रुतावतार में यशोबाहु के स्थान पर क्रमशः जहबाहु व जयबाहु का उल्लेख है।—वही.
४. वही, पृ० ६६–७१.
५. अत्थाहियारो दुविहो, अंगबाहिरो अंगपइट्ठो चेदि। तत्थ अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा, सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसिहियं चेदि।

—वही, पृ० ९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम, संस्थान, उत्सेध, पंचमहाकल्याण, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप व वंदन-सफलत्व का वर्णन करता है। वंदना में एक जिन एवं जिनालयविषयक वंदना का निरवद्य भावपूर्वक वर्णन है। प्रतिक्रमण काल और पुरुष का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन करता है। वैनयिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं उपचारसम्बन्धी विनय का वर्णन करता है। कृतिकर्म में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजाविधि का वर्णन है। दशवैकालिक में आचार-गोचर-विधि का वर्णन है। कल्पव्यवहार साधुओं के योग्य आचरण का एवं अयोग्य आचरण के प्रायश्चित्त का वर्णन करता है। कल्पाकल्पिक में मुनियों के योग्य एवं अयोग्य आचरण का वर्णन है। महाकल्पिक में काल और संहनन की अपेक्षा से साधुओं के योग्य द्रव्य, क्षेत्रादि का वर्णन किया गया है। पुण्डरीक चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणरूप अनुष्ठानों का वर्णन करता है। महापुण्डरीक में सकलेन्द्रों और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति होने के कारणों का वर्णन है। निशीथिका में बहुविध प्रायश्चित्त के विधान का वर्णन है।[1]

अंगप्रविष्ट के बारह अर्थाधिकार हैं : १. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. नाथधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरौपपादिकदशा, १० प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र, १२. दृष्टिवाद।[2]

आचारांग १८००० पदों द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन करता है।

सूत्रकृतांग ३६००० पदों द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का प्ररूपण करता है तथा स्वसमय एवं परसमय का प्रतिपादन करता है।

स्थानांग ४२००० पदों द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है।

समवायांग १६४००० पदों द्वारा सब पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है अर्थात् सादृश्यसामान्य की अपेक्षा से जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है।

---

१. वही, पृ० ९६–९८; पुस्तक ९, पृ० १८८–१९१.

२. अंगपविट्ठस्स अत्थाधियारो बारसविहो। तं जहा, आयारो सूदयदं ठाणं समवायो वियाहपण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयज्झयणं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं विवागसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि।

—पुस्तक १, पृ० ९९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्याप्रज्ञप्ति-अंग २२८००० पदों द्वारा जीवादिविषयक साठ हजार प्रश्नों का निरूपण करता है।

नाथधर्मकथांग ५५६०००पदों द्वारा तीर्थंकरों की धर्मदेशना का, संशय को प्राप्त गणधरदेव के सन्देह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथाओं व उपकथाओं का वर्णन करता है।

उपासकाध्ययनांग ११७०००० पदों द्वारा दर्शनादि ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रत धारण करने की विधि तथा उनके आचरण का वर्णन करता है।

अन्तकृद्दशांग २३२८००० पदों द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्ग सहन करके तथा प्रातिहार्य (अतिशयविशेष) प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृतों का वर्णन करता है।

अनुत्तरौपपादिकदशांग ९२४४००० पदों द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में अनेक प्रकार के कठोर परीषह सहकर प्रातिहार्य प्राप्त करके अनुत्तर विमान में गए हुए दस-दस अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है।

प्रश्नव्याकरणांग ९३१६००० पदों द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी—इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन करता है।

विपाकसूत्रांग १८४००००० पदों द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मों के फल का वर्णन करता है।

इन ग्यारह अंगों के पदों का योग ४१५०२००० है।[1]

दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में क्रियावादियों की १८०, अक्रियावादियों की ८४, अज्ञानवादियों की ६७ और विनयवादियों की ३२—इस प्रकार कुल ३६३ दृष्टियों (मतों) का निरूपण एवं निराकरण किया गया है। इसके पाँच अर्थाधिकार हैं : परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। टीकाकार ने इनके भेद-प्रभेदों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है एवं बताया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध पूर्वगत के द्वितीय भेद अग्रायणीयपूर्व से है।[2]

धवला का यह श्रुतवर्णन समवायांग, नन्दी आदि सूत्रों के श्रुतवर्णन से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। बीच-बीच में टीकाकार ने तत्त्वार्थभाष्य के वाक्य भी उद्धृत किये हैं।

---

१. वही, पृ० ९९-१०७; पुस्तक ९, पृ० १९७-२०३ (जयधवला में भी इसी प्रकार का वर्णन है। देखिए—कसायपाहुड, भा० १, पृ० ९३-९६.)

२. पुस्तक १, पृ १०७-१३०; पुस्तक ९, पृ० २०३-२२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधी वचन—आचार्यों के अमुक वचनों में आनेवाले विरोध की चर्चा करते हुए टीकाकार ने कहा है कि ये वचन जिनेन्द्रदेव के न होकर बाद में होने वाले आचार्यों के हैं अतः उनमें विरोध आना सम्भव है। तो फिर आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को (जिनके उपदेशों में अमुक प्रकार का विरोध है) सूत्रत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि जिनका अर्थरूप से तीर्थंकर ने कथन किया है तथा ग्रन्थरूप से गणधरदेव ने निर्माण किया है ऐसे आचार्य-परम्परा से निरंतर चले आने वाले बारह अंग युग के स्वभाव से बुद्धि की क्षीणता होने पर उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। पापभीरु तथा गृहीतार्थ आचार्यों ने सुष्ठुबुद्धि पुरुषों का क्षय देखकर तीर्थव्युच्छेद के भय से अवशिष्ट अंश को ग्रन्थबद्ध किया अतएव उन ग्रंथों में असूत्रत्व नहीं आ सकता। यदि ऐसा है तो दो प्रकार के विरोधी वचनों में से किस वचन को सत्य माना जाय ? इसका निर्णय तो श्रुतकेवली अथवा केवली ही कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिए वर्तमान काल के पापभीरु आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिए।[1]

स्त्री-मुक्ति—आगम से द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति सिद्ध नहीं है क्योंकि वस्त्र-सहित[2] होने के कारण उनके अप्रत्याख्यान गुणस्थान होता है अतः उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वस्त्र-सहित होते हुए भी उनके भावसंयम होने में कोई विरोध नहीं तो भी ठीक नहीं। द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम नहीं होता क्योंकि भावसंयम मानने पर भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि उपादान का ग्रहण नहीं हो सकता। तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं, यह कैसे ? भावस्त्रीविशिष्ट अर्थात् स्त्रीवेदयुक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मानने में कोई विरोध नहीं। यदि यह कहा जाय कि बादरकषाय गुणस्थान से ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता अतः भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता तो भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति की प्रधानता है और गति पहले नष्ट नहीं होती। तो फिर

---

१. पुस्तक १, पृ० २२१–२२२.

२. आगे द्रव्यनपुंसक को भी वस्त्रादि का त्याग करने में असमर्थ बताया गया है। जैसा कि टीकाकार ने लिखा है :

ण च दव्वित्थिणपुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो।

—पुस्तक ११, पृ० ११४–११५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेद विशेषण से युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं, ऐसा मानना चाहिए। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण से युक्त संज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य-गति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।[1]

स्त्री-पुरुष-नपुंसक—जो दोषों से अपने को और दूसरे को आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं। अथवा जो पुरुष की आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं। जो उत्कृष्ट गुणों में और उत्कृष्ट भोगों में शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव सुषुप्त पुरुष के समान अनुगतगुण तथा अप्राप्तभोग होता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है। जो न स्त्री है, न पुरुष, उसे नपुंसक कहते हैं। उसमें स्त्री और पुरुष उभय-विषयक अभिलाषा पाई जाती है।[2] अपने कथन की पुष्टि के लिए टीकाकार ने 'उक्तं च' कहकर निम्नलिखित गाथाएँ उद्धृत की हैं:

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥१७०॥
पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो ॥ ७१॥
णवित्थि णेव पुमं णवुंसओ उभयलिंगवदिरित्तो।
इट्ठावागसमाणगवेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥१७ ॥

ज्ञान-अज्ञान—जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा जीव जानता है, जानता था अथवा जानेगा उसे ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेशक्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला आत्मपरिणाम है। ज्ञान दो प्रकार का है: प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं: मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। पाँच इन्द्रियों और मन से जो

---

१. पुस्तक १, पृ० ३३३.

२. दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री………। अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री……। पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः। सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः……। पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः। न स्त्री न पुमान्न-पुंसकमुभयाभिलाष इति यावत्।

—वही, पृ० ३४०-३४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह चार प्रकार का है : अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सम्बन्ध के अनन्तर होने वाला प्रथम ग्रहण अवग्रह कहलाता है। अवग्रह से गृहीत पदार्थ के विषय में विशेष आकांक्षा करना ईहा कहलाता है। ईहा द्वारा जाने गये पदार्थ का निश्चयरूप ज्ञान अवाय कहलाता है। अविस्मरणरूप संस्कार को उत्पन्न करने वाला ज्ञान धारणा कहलाता है।[1]

शब्द तथा धूमादि लिंग द्वारा होने वाला अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। शब्द के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान दो प्रकार का है : अंग और अंगबाह्य। अंग के बारह तथा अंगबाह्य के चौदह भेद हैं।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं : अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। समस्त मूर्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों का साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को मनःपर्यय-ज्ञान कहते हैं। त्रिकालगत समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।[3]

मिथ्यात्वयुक्त इन्द्रियजन्य ज्ञान को मति-अज्ञान कहते हैं। मिथ्यात्वयुक्त शाब्द ज्ञान श्रुत-अज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्वसहित अवधिज्ञान को विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान) कहते हैं।[4]

लेश्या—टीकाकार ने 'लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया........' सूत्र की व्याख्या करते हुए लेश्या की परिभाषा इस प्रकार दी है : जो कर्मस्कन्ध से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं। इस परिभाषा का समर्थन करते हुए टीकाकार ने कहा है कि यहाँ 'कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है' इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने पर सयोगिकेवली लेश्यारहित हो जायगा जबकि शास्त्र में सयोगिकेवली शुक्ललेश्या-युक्त माना गया है।[5]

गणितप्रधान द्रव्यानुयोग—द्रव्यप्रमाणानुगम, द्रव्यानुयोग अथवा संख्या-प्ररूपणा का विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व धवलाकार ने लिखा है कि जिसने केवलज्ञान के द्वारा षड्द्रव्य को प्रकाशित किया है तथा जो प्रवादियों से नहीं जीता जा सका उस जिन को नमस्कार करके गणितप्रधान द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करता हूँ :

१, पुस्तक १, पृ० ३५३–३५४. २. वही, पृ० ३५७–३५८.
३. वही, पृ० ३५८. ४. वही. ५. वही, पृ० ३८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलणाणुज्जोइयछद्दव्वमणिज्जियं　　पवाईहिं ।
णमिऊण जिणं भणिमो दव्वणिओगं गणियसारं ॥

इसके बाद आचार्य ने 'दव्वपमाणाणुगमेण.........' सूत्र की उत्थानिका के रूप में लिखा है कि जिन्होंने चौदह जीवसमासों—गुणस्थानों के अस्तित्व को जान लिया है उन शिष्यों को अब उन्हीं के परिमाण का ज्ञान कराने के लिए भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं।[1]

परिमाण अथवा प्रमाण का अर्थ है माप। यह चार प्रकार का होता है: १. द्रव्यप्रमाण, २. क्षेत्रप्रमाण, ३. कालप्रमाण, ४. भावप्रमाण। प्रस्तुत प्रतिपादन में द्रव्यप्रमाण के बाद क्षेत्रप्रमाण का प्ररूपण न करते हुए कालप्रमाण का प्ररूपण किया गया है।

द्रव्यप्रमाण के तीन भेद हैं: संख्येय, असंख्येय और अनन्त। संख्येय तीन प्रकार का है: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना की आदि एक से मानी जाती है किन्तु एक केवल वस्तु की सत्ता की स्थापना करता है, भेद को सूचित नहीं करता। भेद का सूचन दो से प्रारम्भ होता है अतएव दो को संख्येय का आदि माना गया है। इस प्रकार जघन्य संख्येय दो है। उत्कृष्ट संख्येय जघन्य परीत-असंख्येय से एक कम होता है। जघन्य संख्येय व उत्कृष्ट संख्येय के मध्य में आने वाली सब संख्याएँ मध्यम संख्येय के अन्तर्गत हैं। असंख्येय के तीन भेद हैं: परीत, युक्त और असंख्येय। इन तीनों में से प्रत्येक के पुनः तीन भेद हैं: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अनन्त भी तीन प्रकार का है: परीत, युक्त और अनन्त। टीकाकार ने इन सब भेद-प्रभेदों का अति सूक्ष्मता से विचार किया है। इसी प्रकार कालप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण आदि का भी अति सूक्ष्म प्रतिपादन किया है। इससे टीकाकार की गणितविषयक निपुणता प्रमाणित होती है।[2]

पृथिवीकायिकादि जीव—धवलाकार ने 'कायाणुवादेण पुढविकाइया आउकाइया........' सूत्र का व्याख्यान करते हुए बताया है कि यहाँ पर पृथिवी है काय अर्थात् शरीर जिनका उन्हें पृथिवीकाय कहते हैं, ऐसा नहीं

१. पुस्तक ३, पृ० १.
२. वही, पृ० १०—२६०. एतद्विषयक विशेष जानकारी के लिए पुस्तक ४ में प्रकाशित 'Mathematics of Dhavala' लेख या पुस्तक ५ में प्रकाशित उसका हिन्दी अनुवाद 'धवला का गणितशास्त्र' देखना चाहिए।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

कहना चाहिए। पृथिवीकायिक आदि का ऐसा अर्थ करने पर विग्रहगति में विद्यमान जीवों के अकायित्व का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से युक्त जीव पृथिवीकायिक हैं, ऐसा कहना चाहिए। पृथिवीकायिक नामकर्म कर्म के भेदों में नहीं गिनाया गया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। पृथिवीकायिक नामकर्म एकेन्द्रिय जाति-नामकर्म के अन्तर्गत समाविष्ट है। यदि ऐसा है तो सूत्रसिद्ध कर्मों की संख्या का नियम नहीं रह सकता। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि सूत्र में कर्म आठ अथवा एक सौ अड़तालीस ही नहीं कहे गये हैं। दूसरी संख्याओं का प्रतिषेध करने वाला 'एव' पद सूत्र में नहीं पाया जाता। तो फिर कर्म कितने हैं? लोक में अश्व, गज, वृक, भ्रमर, शलभ, मत्कुण आदि जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं, कर्म भी उतने ही होते हैं।[1]

इसी प्रकार अप्कायिक आदि शेष कायिकों के विषय में भी कथन करना चाहिए।[2]

चन्द्र-सूर्य—जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। लवणसमुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य हैं। धातकीखण्ड में पृथक्-पृथक् बारह चन्द्र-सूर्य हैं। कालोदक समुद्र में बयालीस चन्द्र-सूर्य हैं। पुष्कर द्वीपार्ध में बहत्तर चन्द्र-सूर्य हैं। मानुषोत्तर शैल से बाहरी (प्रथम) पंक्ति में एक सौ चौवालीस चन्द्र-सूर्य हैं। इससे आगे चार की संख्या का प्रक्षेप करके अर्थात् चार-चार बढ़ाते हुए बाहरी आठवीं पंक्ति तक चन्द्र-सूर्य की संख्या जाननी चाहिए। इससे आगे के समुद्र की भीतरी प्रथम पंक्ति में दो सौ अठासी चन्द्र-सूर्य हैं। इससे आगे चार-चार बढ़ाते हुए बाहरी पंक्ति तक चन्द्र-सूर्य की संख्या जाननी चाहिए। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र तक समझना चाहिए।[3] कहा भी है :

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारों की दूनी-दूनी संख्याओं से निरन्तर तिर्यग्लोक द्विवर्गात्मक है।[4]

---

१. पुस्तक ३, पृ० ३३०. २. वही. ३. पुस्तक ४, पृ० १५०–१५१.

४. चंदाइच्चगहेहिं चेवं णक्खत्तताररूवेहिं।
दुगुणदुगुणेहिं णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो॥
—वही, पृ० १५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्र का परिवार—एक चन्द्र के परिवार में (एक सूर्य के अतिरिक्त) ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और ६६९७५०००००००००००००० तारे होते हैं :

अट्ठासीतिं च गहा अट्ठावीसं तु हुंति नक्खत्ता।
एगससीपरिवारो इत्तो ताराण वोच्छामि ॥
छावट्ठि च सहस्सं णवयसदं पंचसत्तरि य होंति।
एयससीपरिवारो तारांणं कोडिकोडीओ ॥

धवला में उद्धृत[1] ये गाथाएँ चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति में उपलब्ध होती हैं।

पृथिवियों की लम्बाई-चौड़ाई—सब पृथिवियों की लम्बाई सात राजू है। प्रथम पृथिवी एक राजू से कुछ अधिक चौड़ी है। द्वितीय पृथिवी $१\frac{६}{७}$ राजू चौड़ी है। तृतीय पृथिवी की चौड़ाई $२\frac{५}{७}$ राजू है। चतुर्थ पृथिवी की चौड़ाई $३\frac{४}{७}$ राजू है। पंचम पृथिवी $४\frac{३}{७}$ राजू चौड़ी है। षष्ठ पृथिवी की चौड़ाई $५\frac{२}{७}$ राजू है। सप्तम पृथिवी की चौड़ाई $६\frac{१}{७}$ राजू है। अष्टम पृथिवी एक राजू से कुछ अधिक चौड़ी है। प्रथम पृथिवी की मोटाई १८०००० योजन है। द्वितीय पृथिवी की मोटाई ३२००० योजन है। तृतीय पृथिवी २८००० योजन मोटी है। चतुर्थ पृथिवी २४००० योजन मोटी है। पंचम पृथिवी की मोटाई २०००० योजन है। षष्ठ पृथिवी की मोटाई १६००० योजन है। सप्तम पृथिवी ८००० योजन मोटी है। अष्टम पृथिवी आठ योजन मोटी है :[2]

कालानुगम—कालानुगम का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व धवलाकार ने ऋषभसेन (भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर) को नमस्कार किया है।[3] तदनन्तर काल का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से विचार किया है।[4] अपने वक्तव्य के समर्थन में आचार्य ने 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे', 'जीवसमासाए वि उत्तं', 'तह आयारंगे वि वुत्तं', 'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते हुए पंचास्तिकायप्राभृत, जीवसमास, आचारांग (मूलाचार) एवं गृद्धपिच्छाचार्यप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के उद्धरण दिये हैं।[5] कालानुगम के ओघनिर्देश अर्थात् सामान्यकथन एवं आदेशनिर्देश

१. वही, पृ० १५२.
२. वही, पृ० २४८.
३. वही, पृ० ३१३.
४. वही, पृ० ३१३–३१७.
५. वही, पृ० ३१५–३१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् विशेषकथन का प्रतिपादन करते हुए पुनः ऋषभसेन का नामोल्लेख किया है।[1]

अन्तरानुगम—अन्तरानुगम का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व टीकाकार ने प्रथम जिन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया है। तदनन्तर नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अन्तर का विवेचन किया है। आचार्य ने बताया है कि अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरगमन, नास्तित्वगमन और अन्यभावव्यवधान एकार्थक हैं।[2]

दक्षिणप्रतिपत्ति और उत्तरप्रतिपत्ति—धवलाकार ने दक्षिण व उत्तर की भिन्न-भिन्न मान्यताओं का उल्लेख करते हुए दक्षिणप्रतिपत्ति का समर्थन किया है। 'उक्कस्सेण तिण्णि पलिदोवमाणि देसूणाणि' सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि इस विषय में दो उपदेश हैं। तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ जीव दो मास और मुहूर्त-पृथक्त्व से ऊपर सम्यक्त्व तथा संयमासंयम को प्राप्त करता है। मनुष्यों में गर्भकाल से प्रारम्भ कर अन्तर्मुहूर्ताधिक आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर सम्यक्त्व, संयम तथा संयमासंयम की प्राप्ति होती है। यह दक्षिण-प्रतिपत्ति है। दक्षिण, ऋजु और आचार्यपरम्परागत एकार्थक हैं। तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ जीव तीन पक्ष, तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्त से ऊपर सम्यक्त्व तथा संयमासंयम को प्राप्त करता है। मनुष्यों में आठ वर्ष से ऊपर सम्यक्त्व, संयम तथा संयमासंयम की प्राप्ति होती है। यह उत्तरप्रतिपत्ति है। उत्तर, अनृजु और आचार्यपरम्परानागत एकार्थक हैं।[3]

---

१. किमट्ठं दुविहो णिद्देसो उसहसेणादिगणहरदेवेहि कीरदे ? —वही, पृ० ३२३.

२. पुस्तक ५, पृ० ३.

३. एत्थ वे उवदेसा। तं जहा—तिरिक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णिपक्खतिण्णिदिवसअंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं सजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तर-पडिवत्ती। उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराए णागदमिदि एयट्ठो।

—वही, पृ० ३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन और ज्ञान—आत्मविषयक उपयोग को दर्शन कहते हैं। दर्शन ज्ञान-रूप नहीं है क्योंकि ज्ञान बाह्य पदार्थों को अपना विषय बनाता है। बाह्य और अंतरंग विषय वाले ज्ञान और दर्शन का एकत्व नहीं है क्योंकि वैसा मानने में विरोध आता है। ज्ञान को दो शक्तियों से युक्त भी नहीं माना जा सकता क्योंकि पर्याय के पर्याय का अभाव होता है। इसलिए ज्ञान-दर्शनलक्षणात्मक जीव मानना चाहिए। ये ज्ञान-दर्शन आवरणीय हैं क्योंकि विरोधी द्रव्य का सन्निधान होने पर भी इनका निर्मूल विनाश नहीं होता। यदि इनका निर्मूल विनाश हो जाय तो जीव के भी विनाश का प्रसंग उपस्थित हो जाय क्योंकि लक्षण का विनाश होने पर लक्ष्य के अवस्थान का विरोध दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान-दर्शनरूप जीवलक्षणत्व असिद्ध भी नहीं है क्योंकि इन दोनों का अभाव मानने पर जीवद्रव्य के ही अभाव का प्रसंग उपस्थित होता है।[1]

श्रुतज्ञान—इन्द्रियों से गृहीत पदार्थ से पृथग्भूत पदार्थ का ग्रहण श्रुतज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ शब्द से घटादि का ग्रहण तथा धूम से अग्नि की उपलब्धि श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान बीस प्रकार का है : १. पर्याय, २. पर्याय-समास, ३. अक्षर, ४. अक्षरसमास, ५. पद, ६. पदसमास, ७. संघात, ८, संघातसमास, ९. प्रतिपत्ति, १०. प्रतिपत्तिसमास, ११. अनुयोग, १२. अनुयोग-समास, १३. प्राभृतप्राभृत, १४. प्राभृतप्राभृतसमास, १५, प्राभृत, १६. प्राभृत-समास, १७. वस्तु, १८. वस्तुसमास, १९. पूर्व, २०. पूर्वसमास।[2]

क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने के कारण केवलज्ञान अक्षर कहलाता है। उसका अनन्तवाँ भाग पर्याय नामक मतिज्ञान है। यह केवलज्ञान के समान निरावरण एवं अविनाशी अर्थात् अक्षर है। इस सूक्ष्म-निगोद-लब्धि-अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है। इससे अनन्तभाग अधिक श्रुतज्ञान पर्यायसमास कहलाता है। अनन्तभागवृद्धि, असंख्येयभागवृद्धि, संख्येयभागवृद्धि, संख्येयगुणवृद्धि, असंख्येयगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिरूप एक षड्वृद्धि होती है। इस प्रकार की असंख्येयलोकप्रमाण षड्वृद्धियाँ होने पर पर्यायसमास नामक श्रुतज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। इसे अनन्त रूपों से गुणित करने पर अक्षर नामक श्रुतज्ञान होता है। इसके ऊपर अक्षरवृद्धि ही होती है, अन्य वृद्धियाँ नहीं होतीं। कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं

---

१. पुस्तक ६, पृ० ९, ३३–३४; पुस्तक ७, पृ० ९६–१०२.
२. पुस्तक ६, पृ० २१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि अक्षर-श्रुतज्ञान भी षड्विध वृद्धि से बढ़ता है। उनका यह कथन घटित नहीं होता क्योंकि सकल श्रुतज्ञान के संख्यातवें भागरूप अक्षर-ज्ञान से ऊपर षड्-वृद्धियों का होना सम्भव नहीं है। अक्षर-श्रुतज्ञान से ऊपर और पद-श्रुतज्ञान से नीचे संख्येय विकल्पों की अक्षरसमास संज्ञा है। इससे एक अक्षर-ज्ञान बढ़ने पर पद नामक श्रुतज्ञान होता है। १६३४८३०७८८८ अक्षरों का एक द्रव्यश्रुत-पद होता है। इन अक्षरों से उत्पन्न भावश्रुत भी उपचार से पद कहा जाता है। इस पद-श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढ़ने पर पदसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर के क्रम से पदसमास-श्रुतज्ञान बढ़ता हुआ संघात-श्रुतज्ञान तक जाता है। संख्येय पदों द्वारा संघात-श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसके ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढ़ने पर संघातसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। संघातसमास बढ़ता हुआ एक अक्षर-श्रुतज्ञान से न्यून प्रतिपत्ति-श्रुतज्ञान तक जाता है। प्रतिपत्ति-श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढ़ने पर प्रतिपत्तिसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्तिसमास बढ़ता हुआ एक अक्षर-श्रुतज्ञान से न्यून अनुयोगद्वार-श्रुतज्ञान तक जाता है। इस प्रकार पूर्वसमास तक श्रुतज्ञान के भेदों का स्वरूप समझना चाहिए। पूर्वसमास लोकबिन्दुसार के अन्तिम अक्षर तक जाता है।[1]

नरक में सम्यक्त्वोत्पत्ति—सूत्रकार ने नरक में सम्यक्त्वोत्पत्ति के तीन कारण बतलाये हैं: जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदानुभव। टीकाकार ने इन तीनों कारणों के विषय में शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है। जातिस्मरण अर्थात् भवस्मरण के विषय में यह शंका उठाई गयी है कि चूँकि सभी नारकी विभंगज्ञान के द्वारा एक, दो, तीन आदि भवग्रहण जानते हैं इसलिए सभी को जातिस्मरण होता है। ऐसी स्थिति में सभी नारकी सम्यग्दृष्टि होने चाहिए। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि सामान्य भवस्मरण से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु धर्मबुद्धि से पूर्वभव में किये गये अनुष्ठानों की विफलता के दर्शन से प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। धर्मश्रवण के सम्बन्ध में यह शंका उठाई गयी है कि नारकी जीवों के धर्मश्रवण की सम्भावना कैसे हो सकती है जबकि वहाँ ऋषियों का गमन ही नहीं होता? इसका समाधान यों किया गया है—अपने पूर्वभव के सम्बन्धियों में धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्त समस्त बाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का नरक में गमन देखा जाता है। वेदनानुभवन के विषय में यह शंका उठाई गयी है कि सब नारकियों में सामान्य होने के कारण वेदना का

---

१. वही, पृ० २१–२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभवनसम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता। अन्यथा सब नारकी सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे। इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि वेदनासामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है। जिन जीवों में ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण अथवा अमुक असंयम के कारण उत्पन्न हुई है उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है।[1]

बन्धक—क्षुद्रकबन्ध का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व टीकाकार ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी पर्वत का अपने बुद्धिरूपी सिर से उद्धार कर पुष्पदन्ताचार्य को समर्पित करनेवाले धरसेनाचार्य की जयकामना की है :

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स॥

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से छठें अनुयोगद्वार बन्धक के चार अधिकार हैं : बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धक जीव ही होते हैं क्योंकि मिथ्यात्वादि बन्ध के कारणों से रहित अजीव के बन्धकत्व की उपपत्ति नहीं बनती। बन्धक चार प्रकार के हैं : नामबन्धक, स्थापनाबन्धक, द्रव्यबन्धक और भावबन्धक। धवलाकार ने इन सब का स्वरूप समझाया है।[2]

बन्धस्वामित्वविचय—साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहंत और सिद्ध—इन पाँच लोकपालों को नमस्कार करके टीकाकार ने बन्ध के स्वामित्व का विचार किया है।

साहूवज्झाइरिए अरहंते वंदिऊण सिद्धे वि।
जे पंच लोगवाले वोच्छं बंधस्स सामित्तं॥

कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में बन्धन छठा अनुयोगद्वार है। उसके बन्ध आदि चार भेद अथवा अधिकार हैं। इनमें से बन्ध नामक प्रथम अधिकार में जीव और कर्मों के सम्बन्ध का नय की अपेक्षा से निरूपण है। बन्धक नामक द्वितीय अधिकार में ग्यारह अनुयोगद्वारों से बन्धकों का निरूपण किया गया है। बन्धनीय नामक तृतीय अधिकार तेईस वर्गणाओं से बन्धयोग्य एवं अबन्धयोग्य पुद्गल द्रव्य का प्ररूपण करता है। बन्धविधान नामक चतुर्थ अधिकार चार प्रकार का है : प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध के दो भेद हैं : मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूल-

---

१. वही, पृ० ४२२–४२३. २. पुस्तक ७, पृ० १-५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है : एक-एकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढमूलप्रकृति-बन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्ध के चौबीस अनुयोगद्वार हैं जिनमें बन्धस्वामित्व भी एक है। उसीका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे जो एकत्व-परिणाम होता है उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध का जो स्वामित्व है उसका नाम है बन्धस्वामित्व। उसका जो विचय है वह बन्ध-स्वामित्वविचय है। विचय, विचारणा, मीमांसा और परीक्षा एकार्थक हैं।[1]

तीर्थोत्पत्ति—वेदना खण्ड में अन्तिम मंगलसूत्र 'णमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स' की व्याख्या के प्रसंग से धवलाकार ने तीर्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए समवसरणमण्डल की रचना का रोचक वर्णन किया है तथा वर्धमान भट्टारक को तीर्थ उत्पन्न करनेवाला बताया है।[2]

सर्वज्ञत्व—जीव केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनी, मोहनीय के क्षय से वीतराग तथा अन्तराय के क्षय से अनन्त-बलयुक्त होता है। आवरण के क्षीण हो जानेपर ज्ञान की परिमितता नहीं रहती, क्योंकि प्रतिबन्धरहित सकलपदार्थावगमनस्वभाव जीव के परिमिति पदार्थों के जानने का विरोध है। कहा भी है :

ज्ञ अर्थात् ज्ञानस्वभाव जीव प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ज्ञेय के विषय में अज्ञ अर्थात् ज्ञानरहित कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। क्या अग्नि प्रतिबन्धक के अभाव में दाह्य पदार्थ को नहीं जलाती अर्थात् अवश्य जलाती है।

इस प्रकार के ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त वर्धमान भट्टारक ने तीर्थ की उत्पत्ति की।[3]

महावीर-चरित—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। जिस काल में बल, आयु व उत्सेध का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है तथा जिस काल में उनका अवसर्पण अर्थात् हानि होती है वह अवसर्पिणी काल है। ये दोनों सुषमसुषमादि आरों के भेद से छः-छः प्रकार के हैं। इस भरतक्षेत्र के अवसर्पिणी काल के दुष्षमसुषमा नामक चतुर्थ आरे के ३३ वर्ष ६ मास ९ दिन शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई। यह कैसे ? चतुर्थ

---

१. पुस्तक ८, पृ० १–३.
२. पुस्तक ९, पृ० १०९–११३.
३. वही, पृ० ११८–११९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरे के ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन शेष रहनेपर पुष्पोत्तर विमान से आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष की आयु से युक्त तथा तीन प्रकार के ज्ञान के धारक भगवान् महावीर गर्भ में अवतीर्ण हुए। महावीर का कुमार काल ३० वर्ष, छद्मस्थ काल १२ वर्ष और केवलिकाल ३० वर्ष है। इस प्रकार उनकी आयु ७२ वर्ष होती है। इसे ७५ वर्ष में से कम करने पर वर्धमान महावीर के मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थ आरा रहता है उसका प्रमाण होता है। इसमें ६६ दिन कम केवलिकाल जोड़ने पर चतुर्थ आरे के ३३ वर्ष ६ मास ९ दिन शेष रहते हैं। केवलिकाल में ६६ दिन इसलिए कम किये जाते हैं कि केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी गणधर का अभाव होने के कारण उतने समय तक तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई।[1]

अन्य कुछ आचार्य वर्धमान जिनेन्द्र की आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन मानते हैं। उनके मत से गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ और केवलज्ञान के कालों की प्ररूपणा इस प्रकार है :

भगवान् महावीर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ में आकर वहाँ ९ मास ८ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आये। उन्होंने २८ वर्ष ७ मास १२ दिन श्रेष्ठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधिक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्ठोपवास के साथ मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन गृहत्याग किया। त्रिरत्नशुद्ध महावीर १२ वर्ष ५ मास १५ दिन छद्मस्थ अवस्था में रहकर ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिका ग्राम के बाहर शिलापट्ट पर षष्ठोपवास के साथ आतापन लेते हुए अपराह्न काल में पादपरिमित छाया होने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर एवं घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को सम्प्राप्त हुए। इसके बाद २९ वर्ष ५ मास २० दिन चार प्रकार के अनगारों व बारह गणों के साथ विहार कर अन्त में वे पावा नगर में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वाति नक्षत्र में रात्रि के समय शेष कर्मों को नष्ट कर मुक्त हुए।[2]

भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस से ३ वर्ष ८ मास १५ दिन व्यतीत होने पर श्रावण मास की प्रतिपदा के दिन दुष्षमा नामक आरा अवतीर्ण हुआ। इस

---

१. वही, पृ० ११९–१२१. २. वही, पृ० १२१–१२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल को वर्धमान जिनेन्द्र की आयु में मिला देने पर चतुर्थ आरे के ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर महावीर के स्वर्ग से अवतीर्ण होने का काल होता है।[१]

उक्त दो उपदेशों में से कौन-सा उपदेश ठीक है, इस विषय में एलाचार्य का शिष्य अर्थात् धवलाकार वीरसेन अपनी जीभ नहीं चलाता याने कुछ नहीं कहता क्योंकि न तो एतद्विषयक कोई अन्य उपदेश ही प्राप्त है और न इन दो में से किसी एक में कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु यह निश्चित है कि दोनों में से कोई एक ही ठीक है।[२]

महावीर की शिष्य-परम्परा—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में भगवान् महावीर के मुक्त होने पर केवलज्ञान की परम्परा को धारण करने वाले गौतम स्वामी हुए। १२ वर्ष तक विहार करके गौतम स्वामी के मुक्त हो जाने पर लोहार्याचार्य केवलज्ञान की परम्परा के धारक हुए। १२ वर्ष तक विहार करके लोहार्य भट्टारक के मुक्त हो जाने पर जम्बू भट्टारक केवलज्ञान-परम्परा के धारक हुए। ३८ वर्ष तक विहार करके जम्बू भट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरत क्षेत्र में केवलज्ञान की परम्परा का व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार महावीर के मुक्त होने पर ६२ वर्ष से केवलज्ञानरूपी सूर्य भरत क्षेत्र में अस्त हुआ। उस समय सकल श्रुतज्ञान की परम्परा के धारक विष्णु आचार्य हुए। तदनन्तर अविच्छिन्न सन्तानरूप से नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु सकल श्रुत के धारक हुए। इन पाँच श्रुतकेवलियों के काल का योग १०० वर्ष है। भद्रबाहु भट्टारक का स्वर्गवास होने पर भरत क्षेत्र में श्रुतज्ञानरूपी पूर्णचन्द्र अस्त हो गया। उस समय ग्यारह अंगों व विद्यानुप्रवादपर्यन्त दृष्ठिवाद के धारक विशाखाचार्य हुए। इसके आगे के चारों पूर्व उनका एक देश धारण करने के कारण व्युच्छिन्न हो गये। फिर वह विकल श्रुतज्ञान प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन की परम्परा से १८३ वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। धर्मसेन भट्टारक के स्वर्गगमन के अनन्तर दृष्टिवादरूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने पर ग्यारह अंगों व दृष्टिवाद के एक देश के धारक नक्षत्राचार्य हुए। तदनन्तर वह एकादशांग श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस की परम्परा से २२० वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। कंसाचार्य के स्वर्गगमन के अनन्तर एकादशांगरूपी प्रकाश के नष्ट हो जानेपर सुभद्राचार्य आचारांग के और शेष

---

१. वही, पृ० १२५-१२६.   २. वही, पृ० १२६. (जयधवला में भी यही वर्णन उपलब्ध है। देखिये—कसायपाहुड, भा० १, पृ० ७४–८२.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगों एवं पूर्वों के एक देश के धारक हुए। तदनन्तर वह आचारांग भी यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से ११८ वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। इस सब काल का योग ६८३ वर्ष होता है।[१]

लोहाचार्य के स्वर्गलोक को प्राप्त होने पर आचारांगरूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरतक्षेत्र में बारह सूर्यों के अस्तमित हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोस, महाकम्मपयडिपाहुड आदि के धारक हुए। इस तरह प्रमाणीभूत महर्षिरूपी प्रणाली से आकर महाकम्मपयडिपाहुडरूपी अमृत-जल-प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होंने गिरिनगर की चन्द्रगुफा में भूतबलि और पुष्पदन्त को सम्पूर्ण महाकम्मपयडिपाहुड अर्पित किया। तब भूतबलि भट्टारक ने श्रुतरूपी नदी-प्रवाह के व्युच्छेद के भय से भव्यजनों के अनुग्रहार्थ महाकम्मपयडिपाहुड का उपसंहार कर छः खण्ड बनाये अर्थात् षट्खण्डागम का निर्माण किया।[२]

शककाल—उपर्युक्त ६८३ वर्ष में से ७७ वर्ष ७ मास कम करने पर ६०५ वर्ष ५ मास रहते हैं। यह वीर जिनेन्द्र के निर्वाणकाल से लेकर शककाल के प्रारम्भ होने तक का काल है। इस काल में शक नरेन्द्र के काल को मिलाने पर वर्धमान जिन के मुक्त होने का काल आता है।[३]

कुछ आचार्य वीर जिनेन्द्र के निर्वाणकाल से १४७९३ वर्ष बीतने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति मानते हैं।[४]

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो वर्धमान जिन के निर्वाणकाल से ७९९५ वर्ष ५ मास बीतने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति मानते हैं।[५]

इन तीन मान्यताओं में से एक यथार्थ होनी चाहिये। तीनों यथार्थ नहीं हो सकतीं क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है।[६]

सकलादेश और विकलादेश—सकलादेश प्रमाण के अधीन है और विकलादेश नय के अधीन है। 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों का नाम सकलादेश है क्योंकि इनके प्रमाणनिमित्तक होने के कारण 'स्यात्' शब्द से समस्त अप्रधानभूत धर्मों

---

१. वही, पृ० १३०-१३१. (जयधवला में भी यही वर्णन है। कहीं-कहीं नामों में थोड़ा अन्तर है। देखिए—कषायपाहुड, भा० १, पृ० ८४–८७.)
२. वही, पृ० १३३. ३. वही, पृ० १३१-१३२. ४. वही, पृ० १३२.
५. वही, पृ० १३२-१३३. ६. वही, पृ० १३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सूचन होता है। 'अस्ति' इत्यादि वाक्यों का नाम विकलादेश है क्योंकि ये नयों से उत्पन्न हैं। पूज्यपाद भट्टारक ने भी सामान्य नय का लक्षण यही बताया है। तदनुसार प्रमाण से प्रकाशित पदार्थों के पर्यायों का प्ररूपण करने वाला नय है। प्रमाण से वस्तु के सकल धर्म प्रकाशित होते हैं। नय उन धर्मों में से किसी एक धर्म को प्रकाशित करता है अर्थात् नय वस्तु के विकल धर्म का प्रकाशक है। प्रभाचन्द्र भट्टारक ने भी कहा है कि प्रमाण के आश्रित परिणामभेदों से वशीकृत पदार्थविशेषों अर्थात् पदार्थों के पर्यायों के प्ररूपण में समर्थ जो प्रयोग होता है वह नय है। सारसंग्रह में पूज्यपाद ने भी कहा है कि अनन्तपर्यायात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का ज्ञान करते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करनेवाला निर्दोष प्रयोग नय कहलाता है। समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है कि स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों के पर्यायों को प्रकट करने वाला नय है। यहाँ स्याद्वाद का अर्थ प्रमाण है।[१]

अर्थपर्याय, व्यञ्जनपर्याय, द्रव्य और भाव—पर्याय के दो प्रकार हैं: अर्थ-पर्याय और व्यञ्जनपर्याय। अर्थपर्याय थोड़े समय तक रहने के कारण अथवा अति विशेष होने के कारण एकादि समय तक रहने वाला तथा संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध के से रहित है। व्यञ्जनपर्याय जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतया असंख्येय लोक-मात्र काल तक रहनेवाला अथवा अनादि-अनन्त है। इनमें से व्यञ्जनपर्याय से परिगृहीत द्रव्य भाव होता है। इसका वर्तमान काल जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतया संख्येय लोकमात्र अथवा अनादिनिधन है क्योंकि विवक्षित पर्याय के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक वर्तमान काल माना जाता है। अतः भाव की द्रव्यार्थिक नयविषयता विरुद्ध नहीं है। ऐसा मानने पर सन्मतिसूत्र के साथ विरोध नहीं होता क्योंकि उसमें शुद्ध ऋजुसूत्र नय से विषयीकृत पर्याय से उप-लक्षित द्रव्य को भाव स्वीकार किया गया है।[२] इसी चर्चा के प्रसङ्ग से टीकाकार ने आगे सन्मतिसूत्र की निम्न गाथा[3] उद्धृत की है:

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं॥

अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सब सदा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट हैं।

---

१. वही, पृ० १६५–१६७.
२. वही, पृ० २४२-२४३.
३. वही, पृ० २४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परभविक आयु—वेदना खण्ड के 'कमेण कालगदसमाणो..........' सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का निम्न उद्धरण[1] दिया है :

जीवा णं भन्ते ! कदिभागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति ? गोदम ! जीवा दुविहा पण्णत्ता—संखेज्ज-वस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव। तत्थ जे ते असंखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आयुगं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते संखेज्जवासाउआ ते दुविहा पण्णत्ता—सोवक्कमाउआ णिरु-वक्कमाउआ चेव। तत्थ जे ते णिरुवक्कमाउआ ते तिभागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आयुगं कम्मं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते सोवक्क-माउआ ते सिया तिभागत्तिभागावसेसियंसि यायुगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति।

अर्थात् हे भगवन् ! आयु का कितना भाग शेष रहने पर जीव परभविक आयु कर्म बाँधते हैं ? हे गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—संख्येय-वर्षायुष्क और असंख्येयवर्षायुष्क। इनमें से जो असंख्येयवर्षायुष्क हैं वे आयु के छः मास शेष रहने पर परभविक आयु बाँधते हैं। संख्येयवर्षायुष्क दो प्रकार के होते हैं—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क। इनमें से जो निरुपक्रमायुष्क हैं वे आयु का त्रिभाग शेष रहने पर परभविक आयु कर्म बाँधते हैं। जो सोप-क्रमायुष्क हैं वे आयु का कथंचित् त्रिभाग (कथंचित् त्रिभाग का त्रिभाग एवं कथंचित् त्रिभाग-त्रिभाग का त्रिभाग) शेष रहने पर परभविक आयु कर्म बाँधते हैं।

वर्तमान में प्रज्ञापना सूत्र में इस आशय का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में इस प्रकार के कई वर्णनों के लिए 'जहा पण्णवणाए' आदि कह दिया गया है।

चूर्णिसूत्र—धवला में कषायप्राभृत के साथ ही साथ चूर्णिसूत्र अर्थात् कषाय-प्राभृतचूर्णि का भी यत्र-तत्र अनेक बार उल्लेख हुआ है। कषायप्राभृत के कर्ता आचार्य गुणधर तथा कषायप्राभृतचूर्णि के कर्ता आचार्य यतिवृषभ का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है :

---

१. पुस्तक १०, पृ० २३७-२३८.

२. वही, पृ० २३८ का अन्तिम पाद-टिप्पण.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

........इस अर्थ की प्ररूपणा विपुलाचल के शिखर पर स्थित त्रिकालगोचर षड्द्रव्यों का प्रत्यक्ष करने वाले वर्धमान भट्टारक द्वारा गौतम स्थविर के लिए की गई। फिर वह अर्थ आचार्य-परम्परा से गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ। उनसे वह आचार्य-परम्परा द्वारा आर्यमंक्षु तथा नागहस्ती भट्टारकों के पास आया। फिर उन दोनों ने क्रमशः यतिवृषभ भट्टारक के लिए उसका व्याख्यान किया। यतिवृषभ ने शिष्यों के अनुग्रहार्थ उसे चूर्णिसूत्र में लिखा।[1]

क्रोध-मान-माया लोभ-राग-द्वेष-मोह-प्रेम—हृदयदाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता, इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीवपरिणाम को क्रोध कहते हैं। विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्याजनित उद्धततारूप जीवपरिणाम मान कहलाता है। अपने हृदय के विचारों को छिपाने की चेष्टा का नाम माया है। बाह्य पदार्थों में ममत्वबुद्धि का होना लोभ कहलाता है। माया, लोभ वेदत्रय (स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद), हास्य और रति का नाम राग है। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा और भय का नाम द्वेष है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, और मिथ्यात्व के समूह को मोह कहते हैं। प्रियता का नाम प्रेम है।[2]

शब्द व भाषा—शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। वह छः प्रकार का है: तत, वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा। वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी आदि से उत्पन्न हुआ शब्द तत है। भेरी, मृदंग, पटह आदि से उत्पन्न हुआ शब्द वितत है। जयघण्टा आदि ठोस द्रव्यों के अभिघात से उत्पन्न हुआ शब्द घन है। वंश, शंख, काहल आदि से उत्पन्न हुआ शब्द सुषिर है। घर्षण को प्राप्त हुए द्रव्य से उत्पन्न हुआ शब्द घोष है। भाषा दो प्रकार की है: अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के मुख से निकली हुई तथा बाल एवं मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय की भाषा अनक्षरात्मक है। उपघातरहित इन्द्रियों वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय की भाषा अक्षरात्मक है। वह दो प्रकार की है: भाषा और कुभाषा। कीर, पारसिक, सिंहल, वर्वरिक आदि के मुख से निकली हुई कुभाषाएँ सात सौ भेदों में विभक्त हैं। भाषाएँ अठारह हैं: तीन कुरुक, तीन लाढ, तीन मरहट्ट, तीन मालव, तीन गौड़ और तीन मागध।[3]

---

१. पुस्तक १२, पृ० २३१–२३२.
२. वही, पृ० २८३–२८४.
३. पुस्तक १३, पृ० २२१–२२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभाग—छः द्रव्यों की शक्ति का नाम अनुभाग है। वह छः प्रकार का है : जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। अशेष द्रव्यों का अवगम—ज्ञान जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ठ, क्षय आदि का विनाश एवं उत्पादन पुद्गलानुभाग है। यहाँ पुद्गलानुभाग से योनिप्राभृत में कही गई मंत्र-तंत्र-रूप शक्तियों का ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गल के गमनागमन का हेतुत्व धर्मास्तिकायानुभाग है। उनके अवस्थान का हेतुत्व अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्यों का आधारत्व आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्यों के क्रमिक और अक्रमिक परिणमन का हेतुत्व कालद्रव्यानुभाग है।[१]

विभंगदर्शन—धवलाकार ने दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियों की चर्चा करते हुए यह शंका उठायी है कि दर्शन के भेदों में विभंगदर्शन की गिनती क्यों नहीं की गई? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि विभंगदर्शन का अवधिदर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसा कि सिद्धविनिश्चय में भी कहा गया है : अवधिविभंगयोरवधिदर्शनमेव अर्थात् अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के अवधिदर्शन ही होता है।[२]

गोत्र—जो उच्च और नीच का ज्ञान कराता है उसे गोत्र कहते हैं। गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं : उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उच्च गोत्र का कहाँ व्यापार है? राज्यादिरूप सम्पदा की प्राप्ति में उसका व्यापार नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति साता वेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पाँच महाव्रत ग्रहण करने की योग्यता भी उच्च गोत्र द्वारा नहीं आती क्योंकि ऐसा मानने पर देवों और अभव्यों में पाँच महाव्रत धारण करने की अयोग्यता होने के कारण उच्च गोत्र के उदय के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में भी उसका व्यापार नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा ऐसा मानने पर तिर्यञ्चों और नारकियों के भी उच्च गोत्र का उदय मानना पड़ेगा क्योंकि उनमें सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्य की प्राप्ति में भी उच्च गोत्र का व्यापार नहीं है क्योंकि इनकी उत्पत्ति नाम कर्म के निमित्त से होती है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति में भी उसका व्यापार नहीं है क्योंकि ये सब काल्पनिक हैं

१. वही, पृ० ३४९. २. वही, पृ० ३५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः परमार्थतः इनका अस्तित्व ही नहीं है तथा वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में भी उच्च गोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनों से होने वाली जीवोत्पत्ति में भी उसका व्यापार नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर म्लेच्छराज से उत्पन्न होने वाले बालक के भी उच्च गोत्र के उदय का प्रसंग उपस्थित होता है। अणुव्रतियों से होने वाली जीवोत्पत्ति में भी उसका व्यापार नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर औपपादिक देवों में उच्च गोत्र के उदय का अभाव उपस्थित होता है तथा नाभिपुत्र को नीच गोत्र की प्राप्ति होती है। इसलिए उच्च गोत्र व्यर्थ है। अतएव उसमें कर्मत्व भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होने पर नीच गोत्र भी नहीं रहता क्योंकि ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। अतः गोत्र कर्म का अभाव है।[1]

इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि जिनवचन असत्य नहीं होता। दूसरे, केवलज्ञान द्वारा विषय किये गये सभी अर्थों में छद्मस्थों का ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होता। इसलिए छद्मस्थों को समझ में न आने के कारण जिनवचन को अप्रमाणत्व प्राप्त नहीं होता। गोत्र कर्म निष्फल नहीं है क्योंकि जिनका दीक्षायोग्य साध्वाचार है, जिन्होंने साध्वाचार वालों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचनव्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है। उसमें उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी उच्च गोत्र कहते हैं। इसके विपरीत कर्म नीच गोत्र है।[2]

निबन्धनादि अनुयोगद्वार—कर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारों अथवा अनुयोगद्वारों में से प्रथम छः अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा षट्खण्डागम में की गई है। निबन्धनादि शेष अठारह अनुयोगद्वारों का विवेचन यद्यपि मूल षट्खण्डागम में नहीं है तथापि वर्गणा खण्ड के अन्तिम सूत्र को देशामर्शक मान कर धवलाकार वीरसेनाचार्य ने उनका विवेचन अपनी टीका में किया है। जैसा कि धवलाकार ने लिखा है: भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारसअणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो। अर्थात् भूतबलि भट्टारक ने चूंकि यह सूत्र देशामर्शकरूप से लिखा है अतः इस सूत्र के द्वारा सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारों का कुछ संक्षेप में प्ररूपण करते हैं।[3]

१. वही, पृ० ३८७-३८८. २. वही, पृ० ३८९. ३. पुस्तक १५, पृ० १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत—धवलाकार ने एक स्थान पर यह बताया है कि मैंने यह प्ररूपणा सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत के अनुसार की है, महाबन्ध के अनुसार नहीं। उन्होंने चार प्रकार के बन्धन-उपक्रम की चर्चा करते हुए कहा है : एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो। अर्थात् इन चार उपक्रमों की प्ररूपणा जैसे सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत में की गई है वैसे ही यहाँ भी करना चाहिए। जैसी महाबन्ध में प्ररूपणा की गई है वैसी यहाँ क्यों नहीं की जाती? नहीं, क्योंकि उसका व्यापार प्रथम समय के बन्ध में ही है।[1]

सत्कर्मपंजिकाकार[2] ने निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करने वाले धवला टीका के अन्तिम विभाग को सत्कर्म की संज्ञा दी है।[3] उपर्युक्त सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत अथवा सत्कर्मप्राभृत इस सत्कर्म से भिन्न एक प्राचीन सैद्धान्तिक ग्रन्थ है जो महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एवं कषायप्राभृत की ही कोटि का है तथा जिसका उल्लेख स्वयं धवलाकार ने इसी रूप में किया है।[4]

---

१. वही, पृ० ४३. सत्कर्मप्राभृत का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है। देखिए—पुस्तक ११, पृ० २१; पुस्तक ९, पृ० ३१८; पुस्तक १, पृ० २१७, २२१.

२. पुस्तक १५ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित एक लघुकाय प्राकृत टीका।

३. पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुत्थयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो।

—पुस्तक १५, परिशिष्ट, पृ० १.

४. एसो संतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण.... ....।

—पुस्तक १, पृ० २१७.

आइरियकहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि.... ....।

—वही, पृ० २२१.

संतकम्मपयडिपाहुडं मोत्तूण.... ....।

—पुस्तक ९, पृ० ३१८.

संतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो ....।

—पुस्तक ११, पृ० २१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका के अन्त में धवलाकार की निम्नलिखित प्रशस्ति है जिसमें टीका, टीकाकार, टीकाकार के गुरु, प्रगुरु तथा विद्यागुरु आदि के नाम आते हैं :

जस्साएसेण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुदं।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥ १ ॥
वंदामि उसहसेणं तिउवणजियबंधवं सिवं संतं।
णाणकिरणावहासियसयल-इयर-तम-पणासियं दिट्ठं ॥ २ ॥
अरहंता भववंतो सिद्धा सिद्धा पसिद्धयारिया।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्णयंभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि[1] एसु संगरमो।
पासे सुतेरसीए भावविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मेंढिचंदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंधमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

●

१. धवलाकार वीरसेन के समय की चर्चा षट्खण्डागम, पुस्तक १ की प्रस्तावना में विस्तार से की गई है। जिज्ञासु पाठक को यह चर्चा वहाँ देख लेनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ प्रकरण

कषायप्राभृत

कसायपाहुड[1] अथवा कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेषप्राभृत अथवा पेज्जदोषप्राभृत[2] भी कहते हैं। पेज्ज का अर्थ प्रेय अर्थात् राग और दोस का अर्थ द्वेष होता है। चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ में राग और द्वेषरूप कषाय का प्रतिपादन किया गया है इसलिए इसके दोनों नाम सार्थक हैं। ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली अति गूढ़, संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक है। प्रतिपाद्य विषयों का केवल निर्देश कर दिया गया है।

कषायप्राभृत की आगमिक परम्परा :

कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम के ही समान कषायप्राभृत का उद्गमस्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग ही है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार कर्मप्रकृति प्राभृत से उत्पन्न होने के कारण षट्खण्डागम को कर्मप्राभृत, कर्मप्रकृतिप्राभृत अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है उसी प्रकार पेज्जदोष प्राभृत से उत्पन्न होने के कारण कषायप्राभृत को भी पेज्जदोषप्राभृत कहा जाता है।

---

१. (अ) चूर्णिसूत्र-समन्वित—सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक : पं० हीरालाल जैन; प्रकाशक : वीर-शासन-संघ, कलकत्ता, सन् १९५५.

(आ) जयधवला टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ (अपूर्ण)—सम्पादक : पं० फूलचन्द्र, पं० महेन्द्रकुमार व पं० कैलाशचन्द्र; प्रकाशक : भा० दि० जैनसंघ, चौरासी, मथुरा, सन् १९४४–१९६३ (नौ भाग).

२. श्रुतावतार के कर्ता आचार्य इन्द्रनन्दि ने इसे 'प्रायोदोषप्राभृत' नाम दिया है। वस्तुतः इसका संस्कृत रूप 'प्रेयोद्वेषप्राभृत' होना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायप्राभृत के प्रणेता :

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर हैं जिन्होंने गाथासूत्रों में प्रस्तुत ग्रन्थ को निबद्ध किया। जयधवलाकार ने अपनी टीका के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखा है :

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ ६ ॥

अर्थात् जिन्होंने इस क्षेत्र में अनेक नामों से युक्त, उज्जवल एवं अनन्त पदार्थों से व्याप्त कषायप्राभृत का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया उन गुणधर भट्टारक को मैं नमस्कार करता हूँ।

आचार्य गुणधर ने इस कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना क्यों की? इसका समाधान करते हुए जयधवला टीका में आचार्य वीरसेन ने बताया है कि ज्ञान-प्रवाद (पाँचवें) पूर्व की निर्दोष दसवीं वस्तु के तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्र के जलसमुदाय से प्रक्षालित मतिज्ञानरूपी लोचनसमूह से जिन्होंने तीनों लोकों को प्रत्यक्ष कर लिया है तथा जो त्रिभुवन के परिपालक हैं उन गुणधर भट्टारक ने तीर्थ के व्युच्छेद के भय से कषायप्राभृत के अर्थ से युक्त गाथाओं का उपदेश दिया।[1]

कषायप्राभृतकार आचार्य गुणधर के समय का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अंगों और पूर्वों का एकदेश आचार्य-परम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। उन्होंने प्रवचन-वात्सल्य के वशीभूत हो ग्रन्थ-विच्छेद के भय से १६००० पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुड का १८० गाथाओं में उपसंहार किया।[2] महाकर्मप्रकृतिप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि के समय का उल्लेख भी धवला में इसी रूप में है।[3] इन उल्लेखों को देखने से ऐसी प्रतीति होती है कि कषायप्राभृतकार और महाकर्मप्रकृतिप्राभृतकार सम्भवतः समकालीन रहे होंगे। धवला व जयधवला के अध्ययन से ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती कि अमुक प्राभृत की रचना अमुक प्राभृत से पहले की है अथवा बाद की।

---

१. कसायपाहुड, भा० १, पृ० ४–५.
२. वही, पृ० ८५–८७.
३. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ६६–७१; पुस्तक ९, पृ० १३०–१३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में भी एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

कषायप्राभृत के अर्थाधिकार :

कषायप्राभृतकार ने स्वयमेव दो गाथाओं में अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों अर्थात् अर्थाधिकारों का निर्देश किया है। ये गाथाएँ इस प्रकार हैं :

(१) पेज्ज-द्दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेय ॥ १३ ॥

(२) सम्मत्त-देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥ १४ ॥

इन गाथाओं की व्याख्या चूर्णिसूत्रकार और जयधवलाकार ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। यद्यपि ये दोनों एकमत हैं कि कषायप्राभृत के १५ अर्थाधिकार हैं तथापि उनकी गणना में एकरूपता नहीं है। चूर्णिसूत्रकार ने अर्थाधिकार के निम्नोक्त १५ भेद गिनाये हैं :

१. पेज्जदोस—प्रेयोद्वेष, २. ठिदि-अणु-भागविहत्ति—स्थिति-अनुभाग-विभक्ति, ३. बंधग अथवा बंध—बन्धक या बन्ध, ४. संकम—संक्रम, ५. वेदअ अथवा उदअ—वेदक या उदय, ६. उदीरणा, ७. उवजोग—उपयोग, ८. चउट्ठाण—चतुःस्थान, ९. वंजण—व्यञ्जन, १०. सम्मत अथवा दंसणमोहणीय-उवसामणा—सम्यक्त्व या दर्शनमोहनीय की उपशामना, ११. दंसणमोहणीयक्खवणा—दर्शनमोहनीय की क्षपणा, १२. देसविरदि—देशविरति, १३. संजम-उवसामणा अथवा चरित्तमोहणीय-उवसामणा—संयमविषयक उपशामना या चारित्रमोहनीय की उपशामना, १४. संजमक्खवणा अथवा चरित्तमोहणीयक्खवणा—संयमविषयक क्षपणा या चारित्रमोहनीय की क्षपणा, १५. अद्धापरिमाण-णिद्देस—अद्धापरिमाणनिर्देश।[१]

जयधवलाकार ने जिन पन्द्रह अर्थाधिकारों का उल्लेख किया है[२] वे ये हैं :

१. प्रेयोद्वेष, २. प्रकृतिविभक्ति, ३. स्थितिविभक्ति, ४. अनुभागविभक्ति, ५. प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीणप्रदेश-स्थित्यन्तिकप्रदेश, ६. बन्धक, ७. वेदक, ८. उप-

---

१. कसायपाहुड, भा० १, पृ० १८४–१९२.
२. वही, पृ० १९२–१९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग, ९. चतुःस्थान, १०. व्यञ्जन, ११. सम्यक्त्व, १२. देशविरति, १३. संयम, १४. चारित्रमोहनीय की उपशामना, १५. चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारों से भी पन्द्रह अर्थाधिकारों का प्ररूपण कर लेना चाहिए।[1] इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारों की गणना में एकरूपता नहीं रही है।

कषायप्राभृत की गाथासंख्या :

वैसे तो कषायप्राभृत में २३३ गाथाएँ मानी जाती हैं किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ में १८० गाथाएँ ही हैं। शेष ५३ गाथाएँ कषायप्राभृतकार गुणधराचार्यकृत न होकर सम्भवतः आचार्य नागहस्तिकृत हैं जो व्याख्या के रूप में बाद में जोड़ी गई हैं। यह बात इन गाथाओं को तथा जयधवला टीका को देखने से स्पष्ट मालूम होती है। कषायप्राभृत के मुद्रित संस्करणों में भी सम्पादकों ने इनके पृथक्करण का पूरा ध्यान रखा है। आचार्य नागहस्ती कषायप्राभृत-चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के गुरु हैं। यतिवृषभाचार्य ने यद्यपि इन गाथाओं पर भी चूर्णिसूत्र लिखे हैं तथापि उनके कर्तृत्व के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने आवश्यक न समझा हो क्योंकि कषायप्राभृतकार के नाम का भी उन्होंने अपने चूर्णिसूत्रों में कोई निर्देश नहीं किया है। यह भी सम्भव है कि एतद्विषयक विशेष जानकारी प्राप्त न हुई हो एवं परम्परा से चली आने वाली गाथाओं पर अर्थ के स्पष्टीकरण की दृष्टि से चूर्णिसूत्र लिख दिये हों। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि कषायप्राभृत की २३३ गाथाओं में से १८० गाथाएँ तो स्वयं ग्रन्थकार की बनाई हुई हैं और शेष ५३ गाथाएँ परकृत हैं। जयधवलाकार ने जहाँ कहीं कषायप्राभृत की गाथाओं का निर्देश किया है, सर्वत्र १८० की ही संख्या दी है। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर २३३ गाथाओं का उल्लेख किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये सब गाथाएँ यानी २३३ गाथाएँ गुणधराचार्यकृत हैं[2] किन्तु उनका वह समाधान सन्तोषकारक नहीं है।

विषय-परिचय :

कषायप्राभृतान्तर्गत २३३ गाथाओं में से प्रारम्भ की १२ गाथाएँ प्रस्तावना-रूप हैं। कषायप्राभृत की उत्पत्ति के विषय में प्रथम गाथा में कहा गया है कि

---

१. वही, पृ० १९३. २. वही, पृ० ९६, १८३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु में पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है। उससे यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है :

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥ १ ॥

दूसरी गाथा में यह बताया गया है कि इस कषायप्राभृत में १८० गाथाएँ हैं जो पन्द्रह अर्थाधिकारों में विभक्त हैं। तृतीयादि गाथाओं में यह निर्देश किया गया है कि किस-किस अर्थाधिकार में कितनी-कितनी गाथाएँ हैं।

प्रेय, द्वेष, स्थिति, अनुभाग और बन्धक—इन पाँच अर्थाधिकारों में तीन गाथाएँ हैं। वेदक में चार, उपयोग में सात, चतुःस्थान में सोलह, व्यञ्जन में पाँच, दर्शनमोहोपशामना में पन्द्रह, दर्शनमोहक्षपणा में पाँच, संयमासंयमलब्धि और चारित्रलब्धि—इन दोनों में एक, चारित्रमोहोपशामना में आठ, चारित्र-मोह की क्षपणा के प्रस्थापन में चार, संक्रमण में चार, अपवर्तना में तीन, कृष्टीकरण में ग्यारह, क्षपणा में चार, क्षीणमोह के विषय में एक, संग्रहणी के विषय में एक—इस प्रकार सब मिलकर चारित्रमोहक्षपणा में अट्ठाईस गाथाएँ हैं। इन सब गाथाओं का योग (३ + ४ + ७ + १६ + ५ + १५ + ५ + १ + ८ + ४ + ४ + ३ + ११ + ४ + १ + १) ९२ होता है।

कृष्टिसम्बन्धी ग्यारह गाथाओं में से वीचारविषयक एक गाथा, संग्रहणी-सम्बन्धी एक गाथा, क्षीणमोहसम्बन्धी एक गाथा और चारित्रमोह की क्षपणा के प्रस्थापन से सम्बन्धित चार गाथाएँ—इस प्रकार चारित्रमोहक्षपणासम्बन्धी सात गाथाएँ अभाष्य-गाथाएँ हैं तथा शेष इक्कीस गाथाएँ सभाष्य-गाथाएँ हैं। इन इक्कीस गाथाओं की भाष्यगाथा-संख्या छियासी है। इनमें 'पेज्ज-द्दोसविहत्ती .....'और 'सम्मत्त-देसविरयी ...' इन दो (१३-१४) गाथाओं को मिलाने पर कषायप्राभृत की गाथाओं का योग (९२ + ८६ + २) १८० हो जाता है।

प्रेयोद्वेषादि अधिकारों में सामान्यरूप से व्याप्त अद्धा-परिमाण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अनाकार दर्शनोपयोग, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वेन्द्रियसम्बन्धी अवग्रहज्ञान, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी अवग्रहज्ञान, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और उच्छ्वास—इन सब का जघन्यकाल (क्रमशः बढ़ता हुआ) संख्येय आवलीप्रमाण है। केवलदर्शन-केवलज्ञान आदि का जघन्यकाल उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। यह सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्यकाल मरणादि व्याघात से रहित अवस्था में होता है। चक्षुरिन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यान, मानकषाय, अवायमतिज्ञान, उपशान्तकषाय तथा उपशामक का उत्कृष्टकाल अपने से पहले के स्थान के काल से दुगुना होता है। शेष स्थानों का उत्कृष्टकाल अपने से पहले के स्थान के काल से विशेष अधिक होता है।[१]

प्रेयोद्वेषविभक्ति में निम्नोक्त बातों का विचार करने को कहा गया है :

(३) पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहिं वा वि ॥ २१ ॥

अर्थात् किस कषाय में किस नय की अपेक्षा से प्रेय या द्वेष का व्यवहार होता है ? कौन-सा नय किस द्रव्य में द्वेष या प्रेय को प्राप्त होता है ?

चूँकि कषाय मोहनीयकर्म से उत्पन्न होता है इसलिए ग्रन्थकार ने आगे के दो अर्थाधिकारों के विषय में यह बताया है कि इनमें मोहनीयकर्म की प्रकृति-विभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक का कथन करना चाहिए।[२]

बन्धक अर्थाधिकार में आचार्य ने निम्नलिखित प्रश्नों का समाधान कर लेने को कहा है :

यह जीव कितनी प्रकृतियों को बाँधता है, कितनी स्थिति को बाँधता है, कितने अनुभाग को बाँधता है तथा कितने जघन्य एवं उत्कृष्ट परिमाणयुक्त प्रदेशों को बाँधता है ? इसी प्रकार कितनी प्रकृतियों का संक्रमण करता है, कितनी स्थिति का संक्रमण करता है, कितने अनुभाग का संक्रमण करता है तथा कितने गुणहीन एवं गुणविशिष्ट जघन्य-उत्कृष्ट प्रदेशों का संक्रमण करता है ?[३]

संक्रम की उपक्रम-विधि पाँच प्रकार की है, निक्षेप चार प्रकार का है, नय-विधि प्रकृत में विवक्षित है तथा प्रकृत में निर्गम आठ प्रकार का है। संक्रम के दो भेद हैं : प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिस्थानसंक्रम। इसी प्रकार असंक्रम के भी दो भेद हैं। संक्रम की प्रतिग्रहविधि दो प्रकार की है : प्रकृतिप्रतिग्रह और प्रकृतिस्थानप्रतिग्रह। इसी प्रकार अप्रतिग्रहविधि भी दो प्रकार की है। इस तरह निर्गम के आठ भेद होते हैं।[४]

---

१. गा० १५-२०. २. गा० २२. ३. गा० २३.
४. गा० २४-२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय के अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिस्थानों को छोड़ कर शेष का संक्रम होता है। सोलह, बारह, आठ, बीस, तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिस्थानों को छोड़ कर शेष का प्रतिग्रह होता है।[१]

बाईस, पन्द्रह, ग्यारह और उन्नीस—इन चार प्रकृतिस्थानों में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतिस्थानों का नियमतः संक्रम होता है। सत्रह और इक्कीस प्रकृतिस्थानों में पच्चीस प्रकृतिस्थान का नियमतः संक्रम होता है। यह संक्रमस्थान नियमतः चारों गतियों तथा तीन प्रकार के दृष्टिगतों (मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि) में होता है।[२] इसी प्रकार अन्य प्रकृतिस्थानों के संक्रम के विषय में भी सामान्य निर्देश किया गया है।[३]

आगे यह प्रश्न उठाया गया है कि एक-एक प्रतिग्रहस्थान, संक्रमस्थान एवं तदुभयस्थान की दृष्टि से विचार करने पर भव्य तथा अभव्य जीव किन-किन स्थानों में होते हैं, औदयिकादि पाँच प्रकार के भावों से विशिष्ट गुणस्थानों में से किस गुणस्थान में कितने संक्रमस्थान होते हैं, कितने प्रतिग्रहस्थान होते हैं तथा किस संक्रमस्थान अथवा प्रतिग्रहस्थान की समाप्ति कितने काल से होती है ?[४]

नरकगति, देवगति और (संज्ञितिर्यञ्च) पंचेन्द्रियों में पाँच ही संक्रमस्थान होते हैं। मनुष्यगति में सब संक्रमस्थान होते हैं। शेष असंज्ञियों में तीन संक्रमस्थान होते हैं। मिथ्यात्वगुणस्थान में चार, सम्यक्-मिथ्यात्वगुणस्थान में दो, सम्यक्त्वगुणस्थानों में तेईस, विरतगुणस्थानों में बाईस, विरताविरतगुणस्थान में पाँच, अविरतगुणस्थान में छः, शुक्ललेश्या में तेईस, तेजोलेश्या एवं पद्मलेश्या में छः, कापोतलेश्या, नीललेश्या एवं कृष्णलेश्या में पाँच, अपगतवेद, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद में क्रमशः अठारह, नौ, ग्यारह और तेरह, क्रोधादि चार कषायों में क्रमशः सोलह, उन्नीस, तेईस और तेईस, त्रिविध ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) में तेईस, एक ज्ञान (मनःपर्यय) के इक्कीस, त्रिविध अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और विभंग) में पाँच, आहारक एवं भव्य में तेईस तथा अनाहारक में पाँच संक्रमस्थान होते हैं। अभव्य में एक ही संक्रमस्थान होता है।[५] आगे यह

---

१. गा० २७–२८. २. गा० २९–३०.

३. गा० ३१–३९. गा० २७–३९ शिवशर्मकृत कर्मप्रकृति के संक्रमकरण प्रकरण की गा० १०–२२ से मिलती-जुलती हैं।

४. गा० ४०–४१. ५. गा० ४२–४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बताया गया है कि किन-किन जीवों में कौन-कौन से संक्रमस्थान नहीं पाये जाते।[१]

वेदक अर्थाधिकार में निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय बताये गये हैं :

कौन जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को उदयावली में प्रविष्ट करता है ? कौन जीव किस स्थिति में प्रवेशक होता है ? कौन जीव किस अनुभाग में प्रवेशक होता है ? इनका सान्तर व निरन्तर काल कितना होता है ? उस समय में कौन जीव अधिक-से-अधिक तथा कौन जीव कम-से-कम कर्मों की उदीरणा करता है ? प्रतिसमय उदीरणा करता हुआ वह जीव कितने समय तक निरन्तर उदीरणा करता रहता है ? जो जीव स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशाग्र में जिसका संक्रमण करता है, जिसे बाँधता है तथा जिसकी उदीरणा करता है वह किससे अधिक होता है ?[२]

उपयोग अर्थाधिकार में निम्नोक्त प्रश्नों का निर्देश किया गया है :

किस कषाय में कितने काल तक उपयोग होता है ? कौन-सा उपयोगकाल किससे अधिक है ? कौन किस कषाय में निरन्तर उपयोगयुक्त रहता है ? एक भवग्रहण में तथा एक कषाय में कितने उपयोग होते हैं एवं एक उपयोग में तथा एक कषाय में कितने भव होते हैं ? किस कषाय में कितनी उपयोग-वर्गणाएँ होती हैं तथा किस गति में कितनी वर्गणाएँ होती हैं ? एक अनुभाग में और एक कषाय में एक काल की अपेक्षा से कौन-सी गति सदृशरूप से उपयुक्त होती है तथा कौन-सी गति विसदृशरूप से उपयुक्त होती है ? सदृश कषाय-वर्गणाओं में कितने जीव उपयुक्त हैं, इत्यादि ?[3]

चतुःस्थान अर्थाधिकार में ग्रन्थकार ने बताया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार भेद हैं। क्रोध के चार भेद नगराजि, पृथिवीराजि, वालुकाराजि और उदकराजि के समान हैं। मान के चार भेद शैलघन, अस्थि, दारु और लता के समान हैं। माया के चार भेद बाँस की जड़, मेंढे की सींग, गोमूत्र और अवलेखनी के सदृश हैं। लोभ के चार भेद कृमिराग, अक्षमल, पांशुलेप और हारिद्रवस्त्र के सदृश हैं।[४]

व्यञ्जन अर्थाधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के एकार्थक पद बताये गये हैं। क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और

---

१. गा० ४९–५४.
२. गा० ५९–६२.
३. गा० ६३–६९.
४. गा० ७०–७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाद एकार्थक हैं। मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त एकार्थक हैं। माया, सातियोग, निकृति, वंचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञमार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न एकार्थक हैं। काम, राग, निदान, छन्द, स्वत, प्रेय, द्वेष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, शाश्वत, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा—ये बीस पद लोभ के पर्यायवाची हैं।[1]

दर्शनमोहोपशामना अर्थाधिकार में आचार्य ने निम्नोक्त प्रश्नों का समाधान किया है :

दर्शनमोह के उपशामक का परिणाम कैसा होता है? किस योग, कषाय एवं उपयोग में वर्तमान, किस लेश्या से युक्त तथा कौन-से वेदवाला जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है? दर्शनमोहोपशामक के पूर्वबद्ध कर्म कौन-कौन से हैं? वह कौन-कौन-से नवीन कर्मांशों को बाँधता है? किन-किन प्रकृतियों का प्रवेशक है? उपशमनकाल से पूर्व बन्ध अथवा उदय की अपेक्षा से कौन-कौन-से कर्मांश क्षीण होते हैं? कहाँ पर अन्तर होता है? कहाँ किन कर्मों का उपशमन होता है? उपशामक किस-किस स्थिति-अनुभागविशिष्ट कौन-कौन-से कर्मों का अपवर्तन करके किस स्थान को प्राप्त करता है? अवशिष्ट कर्म किस स्थिति एवं अनुभाग को प्राप्त होते हैं?[2]

दर्शनमोहक्षपणा अर्थाधिकार में आचार्य ने बताया है कि नियम से कर्मभूमि में उत्पन्न एवं मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक अर्थात् प्रारम्भ करने वाला होता है किन्तु उसका निष्ठापक अर्थात् पूर्ण करने वाला चारों गतियों में होता है। मिथ्यात्ववेदनीय कर्म के सम्यक्त्वप्रकृति में अपवर्तित अर्थात् संक्रमित होने पर जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है। वह कम-से-कम तेजोलेश्या में विद्यमान होता है तथा अन्तर्मुहूर्त तक दर्शनमोह का नियमतः क्षपण करता है। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर देव एवं मनुष्य सम्बन्धी नामकर्म तथा आयुकर्म का स्यात् बन्ध करता है और स्यात् नहीं भी करता। जीव जिस भव में क्षपण का प्रस्थापक होता है उससे अन्य तीन भवों का नियमतः उल्लंघन नहीं करता। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर तीन भवों में

---

१. गा० ८९–९०. २. गा० ९१–९४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियमतः मुक्त हो जाता है। मनुष्यों में क्षीणमोह नियमतः संख्येय सहस्र होते हैं। शेष गतियों में क्षीणमोह नियमतः असंख्येय होते हैं।[१]

संयमासंयमलब्धि और चारित्रलब्धि अर्थाधिकारों में एक ही गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि संयमासंयम अर्थात् देशसंयम तथा चारित्र अर्थात् सकलसंयम की प्राप्ति, उत्तरोत्तर वृद्धि एवं पूर्वबद्ध कर्मों की उपशामना का विचार करना चाहिए।[२]

चारित्रमोहोपशामना अर्थाधिकार में निम्नोक्त प्रश्नों का समाधान कर लेने को कहा गया है :

उपशामना कितने प्रकार की होती है ? उपशम किस-किस कर्म का होता है ? कौन-कौन-सा कर्म उपशान्त रहता है ? कौन-कौन-सा कर्म अनुपशान्त रहता है ? स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशाग्र का कितना भाग उपशमित होता है, कितना भाग संक्रमित एवं उदीरित होता है तथा कितना भाग बँधता है ? कितने समय तक उपशमन होता है ? कितने समय तक संक्रमण होता है ? कितने काल तक तक उदीरणा होती है ? कौन-सा कर्म कितने समय तक उपशान्त अथवा अनुपशान्त रहता है ? कौन-सा करण व्युच्छिन्न होता है ? कौन-सा करण अव्युच्छिन्न रहता है ? कौन-सा करण उपशान्त होता है ? कौन-सा करण अनुपशान्त रहता है ? प्रतिपात कितने प्रकार का होता है ? प्रतिपात किस कषाय में होता है ? प्रतिपतित होता हुआ जीव किन कर्मांशों का बन्धक होता है ?[३]

चारित्रमोहक्षपणा अर्थाधिकार में ग्रन्थकार ने बताया है कि संक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय कर्म की दो स्थितियाँ होती हैं जिनका प्रमाण मुहूर्त से कुछ कम होता है। तत्पश्चात् नियम से अन्तर होता है। जो कर्मांश क्षीण स्थिति वाले हैं उनका जीव दोनों ही स्थितियों में वेदन करता है। जिनका वह वेदन नहीं करता उन्हें तो द्वितीय स्थिति में ही जानना चाहिए। संक्रमण-प्रस्थापक के पूर्वबद्ध कर्म मध्यम स्थितियों में पाये जाते हैं। अनुभागों में सातावेदनीय, शुभनाम और उच्चगोत्र कर्म उत्कृष्ट रूप से पाये जाते हैं, इत्यादि।[४]

---

१. गा० ९१–९४. इस प्रकरण की गा० १००, १०३, १०४ व १०५ शिवशर्मकृत कर्मप्रकृति के उपशमनाकरण प्रकरण की गा० २३–२६ से मिलती-जुलती हैं।

२. गा० ११०–११४.

३. गा० ११५.

४. गा० ११६–१२०.

५. गा० १२५–२३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में क्षपणाधिकार-चूलिका के रूप में उपलब्ध बारह संग्रह-गाथाओं में क्षपकश्रेणी के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन सात कर्मप्रकृतियों का क्षपकश्रेणी पर चढ़ने से पूर्व ही क्षय करता है। क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हुए अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अन्तरकरण से पूर्व आठ मध्यम कषायों का क्षय करता है। तदनन्तर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क तथा पुरुषवेद का क्षय करता है। तत्पश्चात् संज्वलनक्रोध आदि का क्षय करता है, इत्यादि।[1]

●

१. कसायपाहुड सुत्त, पृ० ८९७–८९९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम प्रकरण

कषायप्राभृत की व्याख्याएँ

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लेख है कि आचार्य गुणधर ने कषायप्राभृत की रचना कर नागहस्ती और आर्यमंक्षु को उसका व्याख्यान दिया। यतिवृषभ ने उनसे कषायप्राभृत पढ़कर उस पर छः हजार श्लोकप्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। यतिवृषभ ने उन चूर्णिसूत्रों का अध्ययन कर उच्चारणाचार्य (पदपरक नाम) ने उन पर बारह हजार श्लोकप्रमाण उच्चारणसूत्रों की रचना की।[1] उसके बाद बहुत काल बीतने पर आचार्य शामकुण्ड ने षट्खण्डागम और कषायप्राभृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर महाबन्ध नामक षष्ठ खण्ड के अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों पर बारह हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़मिश्रित पद्धतिरूप वृत्ति बनाई। उसके बाद बहुत समय व्यतीत होने पर तुम्बुलूराचार्य ने भी षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों तथा कषायप्राभृत पर कन्नड़ में चौरासी हजार श्लोकप्रमाण चूडामणि नामक बृहत्काय व्याख्या लिखी। तत्पश्चात् बहुत काल बीतने पर बप्पदेवगुरु ने षट्खण्डागम और कषायप्राभृत पर अड़सठ हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत टीका लिखी। उसके बाद बहुत समय के पश्चात् वीरसेनगुरु ने षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृतमिश्रित धवला टीका लिखी। उसके बाद कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर इसी प्रकार की बीस हजार श्लोकप्रमाण जयधवला टीका लिखकर वे स्वर्गवासी हुए। इस अपूर्ण जयधवला को उन्हीं के शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका और लिख कर पूर्ण किया।[2]

श्रुतावतार के इस उल्लेख से प्रकट होता है कि कषायप्राभृत पर निम्नोक्त टीकाएँ लिखी गईं :

१. आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र, २. उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति अथवा मूल उच्चारणा, ३. आचार्य शामकुण्डकृत पद्धतिटीका, ४. तुम्बुलूराचार्यकृत

---

१. ये दोनों प्राकृत में लिखे गये।

२. देखिए—षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ४६–५३; कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ९–१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूडामणिव्याख्या, ५. बप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति, ६. आचार्य वीरसेन जिनसेनकृत जयधवलाटीका ।

इन छः टीकाओं में से प्रथम व अन्तिम अर्थात् चूर्णि व जयधवला ये दो टीकाएँ वर्तमान में उपलब्ध हैं ।

यतिवृषभकृत चूर्णि :

धवला टीका में कषायप्राभृत एवं चूर्णिसूत्र अर्थात् कषायप्राभृतचूर्णि का यत्र-तत्र अनेक बार उल्लेख हुआ है । उसमें कहा गया है कि विपुलाचल के शिखर पर स्थित त्रिकालगोचर षड्द्रव्यों का प्रत्यक्ष करने वाले वर्धमान भट्टारक द्वारा गौतम स्थविर के लिए प्ररूपित अर्थ आचार्य-परम्परा से गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ । उनसे वह आचार्यपरम्परा द्वारा आर्यमंक्षु और नागहस्ती भट्टारकों के पास आया । उन दोनों ने क्रमशः यतिवृषभ भट्टारक के लिए उसका व्याख्यान किया । यतिवृषभ ने शिष्यों के अनुग्रह के लिए उसे चूर्णिसूत्र में आबद्ध किया ।[1]

यतिवृषभ का समय विभिन्न अनुमानों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है ।[2] तिलोयपण्णत्ति—त्रिलोकप्रज्ञप्ति भी इन्हीं की कृति है ।

अर्थाधिकार—कषायप्राभृत-चूर्णि के प्रारम्भ में लिखा है कि ज्ञानप्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तृतीय प्राभृत का उपक्रम पाँच प्रकार का है : आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । आनुपूर्वी तीन प्रकार की है । नाम छः प्रकार का है । प्रमाण सात प्रकार का है । वक्तव्यता तीन प्रकार की है । अर्थाधिकार पन्द्रह प्रकार का है ।[3]

दो नाम—प्रस्तुत प्राभृत के दो नाम हैं : पेज्जदोसपाहुड—प्रेयोद्वेषप्राभृत और कसायपाहुड—कषायप्राभृत । इनमें से प्रेयोद्वेषप्राभृत नाम अभिव्याहरण-

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १२, पृ० २३१–२३२.

२. कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ३८–६३; कसायपाहुड सुत्त, प्रस्तावना, पृ० ५७–५९.

३. णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो । तं जहा—आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । आणुपुव्वी तिविहा । णामं छव्विहं । पमाणं सत्तविहं । वत्तव्वदा तिविहा । अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

—कसायपाहुड सुत्त, पृ २–४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पन्न (अर्थानुसारी) है जबकि कषायप्राभृत नाम नय-निष्पन्न (नयानुसारी) है। प्रेय का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावपूर्वक निक्षेप करना चाहिए। नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय सब निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापना के सिवाय सब निक्षेपों को स्वीकार करता है। नामनिक्षेप और भावनिक्षेप शब्दनय के विषय हैं। द्वेष का निक्षेप भी चार प्रकार का है : नामद्वेष, स्थापनाद्वेष, द्रव्यद्वेष और भावद्वेष। कषाय का निक्षेप आठ प्रकार का है : नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय। प्राभृत का निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है।[1] 'प्राभृत' की निरुक्ति क्या है ? जो पदों से फुड-स्फुट अर्थात् संपृक्त, आभृत या भरपूर हो उसे पाहुड—प्राभृत कहते हैं : पाहुडेत्ति का णिरुत्तो ? जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं।[2]

द्वेष और प्रेय—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव चारों गतियों के जीव द्वेष के स्वामी होते हैं। इसी प्रकार प्रेय के भी स्वामी जानने चाहिये। द्वेष जघन्य एवं उत्कृष्ट काल की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसी प्रकार प्रेय का भी काल जानना चाहिये। यह कथन ओघ अर्थात् सामान्य की दृष्टि से है। आदेश अर्थात् विशेष की दृष्टि से नारकियों में प्रेय और द्वेष जघन्य काल की अपेक्षा से एक समय तथा उत्कृष्ट काल की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसी प्रकार शेष अनुयोगद्वार जानने चाहिये।[3]

प्रकृतिविभक्ति—कषायप्राभृत की गाथा 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती....' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि प्रकृतिविभक्ति दो प्रकार की है : मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्ति के स्वामित्व, काल, अन्तर आदि आठ अनुयोगद्वार हैं। उत्तरप्रकृतिविभक्ति के दो भेद हैं : एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति के स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति के स्वामित्व आदि तेरह अनुयोगद्वार हैं।[4]

स्थितिविभक्ति—प्रकृतिविभक्ति की ही भाँति स्थितिविभक्ति भी दो प्रकार की है : मूलप्रकृतिस्थितिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिस्थितिविभक्ति। इन दोनों प्रकारों के सर्वविभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति आदि चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार हैं।[5]

---

१. वही, पृ० १६–२८. २. वही, पृ० २९. ३. वही, पृ० ४०–४१.
४. वही, पृ० ४९–५७. ५. वही, पृ० ८०–९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभागविभक्ति और प्रदेशविभक्ति—चूर्णिकार ने प्रकृतिविभक्ति एवं स्थितिविभक्ति की ही तरह अनुभागविभक्ति तथा प्रदेशविभक्ति का भी अनुयोग-द्वारपूर्वक विवेचन किया है।

क्षीणाक्षीणाधिकार—कर्मप्रदेशों की क्षीणाक्षीणस्थितिकता का विचार करते हुए चुर्णिकार ने बताया है कि कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, संक्रमण से क्षीणस्थितिक हैं और उदय से क्षीणस्थितिक हैं। कौन-से कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं? जो कर्मप्रदेश उदयावली के भीतर स्थित हैं वे अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं। उदयावली के बाहर स्थित कर्मप्रदेश अपकर्षण से अक्षीणस्थितिक हैं। दूसरे शब्दों में उदयावली के भीतर स्थित कर्मप्रदेशों की स्थिति का अपकर्षण—ह्रास नहीं हो सकता किन्तु जो कर्मप्रदेश उदयावली के बाहर स्थित हैं उनकी स्थिति को घटाया जा सकता है। कौन-से कर्मप्रदेश उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं? जो कर्मप्रदेश उदयावली में प्रविष्ट हैं वे उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, इत्यादि।[१]

स्थितिक-अधिकार—क्षीणाक्षीणाधिकार के बाद चूर्णिकार ने स्थितिक-अधिकार का तीन अनुयोगद्वारों में विवेचन किया है। इन अनुयोगद्वारों के नाम इस प्रकार हैं: समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व।[२]

बन्धक-अर्थाधिकार—बन्धक नामक अर्थाधिकार में दो अनुयोगद्वार हैं: बन्ध और संक्रम।[३]

संक्रम-अर्थाधिकार—संक्रम का उपक्रम पाँच प्रकार का है: आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार।[४] चूर्णिकार ने इस प्रकरण में संक्रम की विविध दृष्टियों से विस्तारपूर्वक विवेचना की है।

वेदक-अर्थाधिकार—वेदक नामक अर्थाधिकार में दो अनुयोगद्वार हैं: उदय और उदीरणा। इसमें चार सूत्र-गाथाएँ हैं।[५] इनमें से पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदय से सम्बन्धित है।[६]

उपयोग-अर्थाधिकार—उपयोग नामक अर्थाधिकार से सम्बन्धित सात गाथाओं की विभाषा करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ का जघन्य तथा उत्कृष्ट दोनों प्रकार का काल अन्तर्मुहूर्त है। गतियों

१. वही, पृ० २१३–२३४.
२. वही, पृ० २३५–२४७.
३. वही, पृ० २४८–२४९.
४. वही, पृ० २५०.
५. वही, पृ० ४६५.
६. वही, पृ० ४६७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में निष्क्रमण और प्रवेश की अपेक्षा से इनका काल एक समय भी होता है।[१] सामान्यतया मान का जघन्य काल सबसे कम है। क्रोध का जघन्य काल मान के जघन्य काल से विशेष अधिक है। माया का जघन्य काल क्रोध के जघन्य काल से विशेष अधिक है। लोभ का जघन्य काल माया के जघन्य काल से विशेष अधिक है। मान का उत्कृष्ट काल लोभ के जघन्य काल से संख्येय गुणित है। क्रोध का उत्कृष्ट काल मान के उत्कृष्ट काल से विशेष अधिक है, इत्यादि।[२] चतुर्थ गाथा की विभाषा में आचार्य ने दो प्रकार के उपदेशों का अनुसरण किया है: प्रवाह्यमान उपदेश और अप्रवाह्यमान उपदेश।[३]

चतुःस्थान-अर्थाधिकार—चतुःस्थान नामक अर्थाधिकार की चूर्णि के प्रारम्भ में एकैकनिक्षेप और स्थाननिक्षेपपूर्वक 'चतुःस्थान' पद की विभाषा की गई है।[४] तदनन्तर गाथाओं का व्याख्यान किया गया है।[५]

इसी प्रकार शेष अर्थाधिकारों का भी चूर्णिकार ने कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है।

वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला :

जयधवला टीका कषायप्राभृत मूल तथा उसकी चूर्णि दोनों पर है। जयधवला के अन्त में उपलब्ध प्रशस्ति में उसके रचयिता, रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि ग्रन्थ का पूर्वार्ध गुरु वीरसेन ने रचा तथा उत्तरार्ध शिष्य जिनसेन ने। यहाँ पूर्वार्ध से तात्पर्य पहले के हिस्से से है और उत्तरार्ध से बाद के हिस्से से। श्रुतावतार में आचार्य इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट लिखा है कि कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिख कर वीरसेन स्वामी स्वर्गवासी हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका और लिख कर इस ग्रन्थ को समाप्त किया। इस प्रकार प्रस्तुत टीका जयधवला साठ हजार श्लोकप्रमाण बृहत्काय ग्रन्थ है। यह भी धवला के ही समान विविध विषयों से परिपूर्ण एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य ने इसका नाम भी ग्रन्थ के गुणानुरूप ही धवला के साथ जय विशेषण लगाकर

---

१. वही, पृ० ५६०–५६१.
२. वही, पृ० ५६१–५६२.
३. वही, पृ० ५८०–५८१.
४. वही, पृ० ६०६–६०८.
५. वही, पृ० ६०८–६१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयधवला रखा। इस नाम का उल्लेख स्वयं टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्त में किया है।

जयधवला की रचना शक संवत् ७५९ के फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन पूर्ण हुई, ऐसा इसकी प्रशस्ति में उल्लेख है। यह टीका गुर्जरार्यानुपालित वाटग्रामपुर में राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल में लिखी गई।[1]

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा—जयधवला टीका के प्रारम्भ में वीरसेनाचार्य ने चन्द्रप्रभ जिनेश्वर की स्तुति की है। तदनन्तर चौबीस तीर्थंकरों, वीर जिनेन्द्र, श्रुतदेवी, गणधरदेवों, गुणधर भट्टारक, आर्यमंक्षु, नागहस्ती एवं यतिवृषभ को प्रणाम करते हुए प्रस्तुत विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है।[2]

गुणधर भट्टारक ने गाथासूत्रों के प्रारम्भ में तथा यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णिसूत्रों के आरम्भ में मंगल क्यों नहीं किया, इसकी जयधवलाकार ने युक्तियुक्त चर्चा की है।[3]

पदप्रमाण—कषायप्राभृत एवं कषायप्राभृतचूर्णि की रचना का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् होने वाले सब आचार्य अंगों एवं पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता हुए। अंगों व पूर्वों का एकदेश ही आचार्यपरम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे कषायप्राभृतरूपी महासमुद्र के पार को प्राप्त गुणधर भट्टारक ने ग्रन्थविच्छेद के भय से सोलह हजार पदप्रमाण[4] पेज्जदोसपाहुड (कषायप्राभृत) का केवल १८० गाथाओं द्वारा उपसंहार किया। पुनः वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परा से आती हुई आर्यमंक्षु तथा नागहस्ती को प्राप्त हुईं। इन दोनों आचार्यों के पादमूल में उन गाथाओं के अर्थ को सम्यक्तया सुनकर प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारक ने चूर्णिसूत्र की रचना की।[5]

इसी टीका में अन्यत्र टीकाकार ने बताया है कि कषायप्राभृत की गुणधर के मुखकमल से निकली हुई उपसंहाररूप गाथाएँ २३३ हैं। यतिवृषभ के मुखारविंद से निकला हुआ चूर्णिसूत्र छः हजार पदप्रमाण है।[6]

---

१. देखिए—कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ६९–७७.

२. कसायपाहुड, भा० १, पृ० १–५. ३. वही, पृ० ५–९.

४. पद के स्वरूप के लिए देखिए—वही, पृ० ९०–९२.

५. वही, पृ० ८७–८८. ६. वही, पृ० ९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायप्राभृत की गाथासंख्या के विषय में उपर्युक्त दो प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने द्वितीय प्रकार की मान्यता का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि कुछ व्याख्यानाचार्य कहते हैं कि २३३ गाथाओं में से १८० गाथाओं को छोड़कर सम्बन्ध, अद्धापरिमाण और संक्रमण का निर्देश करने वाली शेष ५३ गाथाएँ आचार्य नागहस्ती ने रची हैं अतएव 'गाहासदे असीदे' ऐसा कह कर नागहस्ती ने १८० गाथाओं का उल्लेख किया है। उनका यह कथन ठीक नहीं। सम्बन्ध, अद्धापरिमाण और संक्रमण का निर्देश करने वाली गाथाओं को छोड़कर केवल १८० गाथाएँ गुणधर भट्टारककृत मानने पर उनकी अज्ञता का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः यह मानना चाहिए कि कषायप्राभृत की सब गाथाएँ अर्थात् २३३ गाथाएँ गुणधर भट्टारक की बनाई हुई हैं।[1] जयधवलाकार का यह हेतु उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

केवलज्ञान व केवलदर्शन—जयधवला में एक स्थान पर केवलज्ञान और केवलदर्शन के यौगपद्य की सिद्धि के प्रसङ्ग से सिद्धसेनकृत सन्मतितर्क की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं[2] तथा यह बताया गया है कि अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है तथा बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाला प्रकाश केवलज्ञान है। इन दोनों उपयोगों की युगपत् प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है क्योंकि उपयोगों की क्रमिक प्रवृत्ति कर्म का कार्य है। कर्म का अभाव हो जाने पर उपयोगों की क्रमिकता का भी अभाव हो जाता है। अतः निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् प्रवृत्त होते हैं, क्रमशः नहीं।[3]

बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा—जयधवलाकार वीरसेन ने एक स्थान पर बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणावृत्ति का उल्लेख किया है एवं उच्चारणाचार्यलिखित उच्चारणावृत्ति से उसका मतभेद बताया है। यह उल्लेख इस प्रकार है: अनुदिश से लेकर अपराजित तक के देवों के अल्पतर विभक्तिस्थान का अन्तरकाल यहाँ उच्चारणा में चौबीस दिन-रात कहा है जबकि बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा में वर्षपृथक्त्व बताया है। इसलिए इन दोनों उच्चारणाओं का अर्थ समझ कर अन्तरकाल का कथन करना चाहिये। हमारे अभिप्राय से वर्षपृथक्त्व का अन्तरकाल ठीक है।[4] यहाँ बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा से तात्पर्य उनकी कषायप्राभृत

---

१. वही, पृ० १८३. २. वही, पृ० ३५१–३६०. ३. वही, पृ० ३५६–३५७.

४. अणुद्दिसादि अवराइयदंताणं अप्पदरस्स अंतरं एत्थ उच्चारणाए चउवीस अहोरत्तमेत्तमिदि भणिदं। बप्पदेवाइरियलिहिद-उच्चारणाए वासपुधत्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनुपलब्ध टीका व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति से है, ऐसा प्रतीत होता है। जयधवलाकार ने आगे भी उच्चारणाचार्य के मत से अन्य व्याख्यानाचार्यों के मतों का भेद बतलाया है[1] तथा चूर्णिसूत्र, बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा एवं स्वलिखित उच्चारणा के मतभेदों का उल्लेख किया है।[2] वीरसेन की स्वलिखित उच्चारणा जयधवला से अतिरिक्त कोई संक्षिप्त व्याख्या है, ऐसा मालूम होता है।

जयधवला भाषा, शैली, सामग्री आदि दृष्टियों से धवला के ही समकक्ष है। अभी तक यह विशालकाय टीका पूरी प्रकाशित नहीं हुई है।

●

मिदि परूविदं। एदासिं दोण्हमुच्चारणाणमत्थो जाणिय वत्तव्वो। अम्हाणं पुण वासपुधत्तंतरं सोहणमिदि अहिप्पाओ।

—कसायपाहुड, भा० २, पृ० ४२०–४२१.

१. कसायपाहुड, भा० ३, पृ० २१३-२१४, ५३२.

२. वही, पृ० ३९८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ प्रकरण

अन्य कर्मसाहित्य

भारतीय तत्त्वचिन्तन की तीनों मुख्य शाखाओं—वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा के साहित्य में कर्मवाद का विचार किया गया है। वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में कर्मसम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमें कर्मविषयक कोई खास ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैन साहित्य में कर्मसम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन परम्परा में कर्नवाद का बहुत सूक्ष्म, सुव्यवस्थि एवं अति विस्तृत विवेचन किया गया है। कर्मविषयक साहित्य का जैन साहित्य में निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य 'कर्मशास्त्र' अथवा 'कर्मग्रन्थ' के रूप में प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त आगमादि अन्य जैन ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र कर्मविषयक चर्चा देखने को मिलती है।

भगवान् महावीर के समय से लेकर वर्तमान समय तक कर्मशास्त्र का जो संकलन हुआ है उसके स्थूलरूप में तीन विभाग किये जा सकते हैं: पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।[1] जैन परम्पराभिमत चौदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व जिसे 'कर्मप्रवाद' कहते हैं, कर्मविषयक ही था। इसके अतिरिक्त द्वितीय पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्मप्राभृत' एवं पञ्चम पूर्व के एक विभाग का नाम 'कषायप्राभृत' था। इन दोनों में भी कर्मविषयक वर्णन था। इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र अपने असली रूप में विद्यमान नहीं है। पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र साक्षात् पूर्वसाहित्य से उद्धृत किया गया है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के ग्रंथों में पाया जाता है। यह साहित्य दोनों सम्प्रदायों में आज भी उपलब्ध है। सम्प्रदायभेद के कारण इसके नामों में विभिन्नता पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषाय-प्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पञ्चसंग्रह और सप्ततिका ये चार ग्रन्थ पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्र में कर्मविषयक अनेक छोटे-बड़े

१. देखिये—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (पं० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवाद), प्रस्तावना, पृ० १५-१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थों का समावेश है। इन ग्रन्थों का आधार पूर्वोद्धृत कर्मसाहित्य है। इस समय विशेषतया इन्हीं प्रकरण-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है। ये ग्रन्थ अपेक्षाकृत सरल एवं लघुकाय हैं। इनके अपेक्षित अवलोकन के अनन्तर पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन विशेष फलदायी होता है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थों का लेखन-कार्य विक्रम की आठवीं-नवीं शती से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शती तक हुआ है। आधुनिक विद्वानों ने भी हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में कर्मविषयक साहित्य का निर्माण किया है जो मुख्यतया कर्मग्रन्थों के विवेचन एवं व्याख्यान के रूप में है।

भाषा की दृष्टि से कर्मसाहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: प्राकृत में लिखित कर्मशास्त्र, संस्कृत में लिखित कर्मशास्त्र और प्रादेशिक भाषाओं में लिखित कर्मशास्त्र। पूर्वात्मक एवं पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं। प्राकरणिक कर्मसाहित्य का भी बहुत बड़ा अंश प्राकृत में ही है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उन पर लिखी गई कुछ टीका-टिप्पणियाँ भी प्राकृत में हैं। संस्कृत में पीछे से कुछ कर्मग्रन्थ बने हैं। अधिकतर संस्कृत में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणियाँ ही लिखी गई हैं। संस्कृत में लिखित मूल कर्मग्रन्थ प्राकरणिक कर्मशास्त्र में समाविष्ट हैं। प्रादेशिक भाषाओं में लिखित कर्मसाहित्य कन्नड़, गुजराती और हिन्दी में है। इनमें मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। मुख्यतया इनमें मूल ग्रन्थों तथा टीकाओं का अनुवाद अथवा विवेचन किया गया है। ये अनुवाद अथवा विवेचन विशेषतया प्राकरणिक कर्मशास्त्र से सम्बन्धित हैं। कन्नड़ एवं हिन्दी में मुख्यतया दिगम्बर साहित्य लिखा गया है जबकि गुजराती में विशेषकर श्वेताम्बर साहित्य की रचना हुई है।

जो इस समय उपलब्ध हैं अथवा जिनके होने का पता अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित उल्लेखों से लगता है उन महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थों एवं टीकाओं की सूची[1] नीचे दी जाती है जिससे कर्मविषयक साहित्य की समृद्धि की कल्पना करने में सरलता होगी। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के इस विपुल साहित्य

---

१. सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित), षष्ठ परिशिष्ट, पृ० १७–२० (आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ).
प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया का 'कर्मसिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य' ग्रन्थ भी दृष्टव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को देखकर सहज ही इस बात का अनुमान हो सकेगा कि कर्मवाद का जैन परम्परा में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है एवं कर्मसम्बन्धी साहित्य उसकी कितनी विपुल निधि है—

दिगम्बरीय कर्मसाहित्य

ग्रन्थ का नाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
१. महाकर्मप्रकृतिप्राभृत★ अथवा कर्मप्राभृत (षट्खण्डशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतबलि	३६०००	अनुमानतः विक्रम की २–३ री शती
,, प्राकृत टीका	कुन्दकुन्दाचार्य	१२०००	....
,, प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़मिश्रित टीका	शामकुण्डाचार्य	६०००	....
,, कन्नड़ टीका	तुम्बुलूराचार्य	५४०००	....
,, संस्कृत टीका	समन्तभद्र	४८०००	....
,, प्राकृत टीका	बप्पदेवगुरु	३८०००	....
,, धवला टीका★	वीरसेन	७२०००	लगभग वि०सं०९०५
२. कषायप्राभृत★	गुणधर	गा० २३६	अनुमानतः विक्रम की ३ री शती
,, चूर्णि★	यतिवृषभ	६०००	अनुमानतः विक्रम की छठी शती
,, वृत्ति	उच्चारणाचार्य	१२०००	....
,, टीका	शामकुण्डाचार्य	६०००	....
,, व्याख्या	तुम्बुलूराचार्य	३००००	....
,, प्रा० टीका	बप्पदेवगुरु	३००००	....
,, जयधवला टीका★	वीरसेन तथा जिनसेन	६००००	विक्रम की ९-१० वीं शती
३. गोम्मटसार★	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० १७०५	विक्रम की ११ वीं शती
,, कन्नड़ टीका	चामुण्डराय	....	,,

★ प्रकाशित ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

,, सं० टीका*	केशववर्णी	....	....
,, सं० टीका*	अभयचन्द्र	....	....
,, हिन्दी टीका*	टोडरमल्ल	....	विक्रम की १९ वीं शती
४. लब्धिसार* (क्षपणासारगर्भित)	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० ६५०	विक्रम की ११ वीं शती
,, संस्कृत टीका*	केशववर्णी	....	....
,, हिन्दी टीका*	टोडरमल्ल	....	विक्रम की १९ वीं शती
५. क्षपणासार	माधवचन्द्र	....	विक्रम की ११ वीं शती
६. पञ्चसंग्रह* (संस्कृत)	अमितगति	श्लो० १४५६	वि० सं० १०७३
७. पञ्चसंग्रह* (प्राकृत)	....	गा० १३२४	....
८. पञ्चसंग्रह* (संस्कृत)	श्रीपालसुत डड्ढ	श्लो० १२४३	विक्रम की १७ वीं शती

श्वेताम्बरीय कर्मसाहित्य

ग्रन्थ का नाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
१. कर्मप्रकृति*	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	सम्भवतः विक्रम की ५ वीं शती
,, चूर्णि*	....	७०००	विक्रम की १२ वीं शती से पूर्व
,, चूर्णिटिप्पण	मुनिचन्द्रसूरि	१९२०	विक्रम की १२ वीं शती
,, वृत्ति*	मलयगिरि	८०००	विक्रम की १२-१३ वीं शती
,, वृत्ति*	यशोविजय	१३०००	विक्रम की १८ वीं शती
२. पञ्चसंग्रह*	चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ९६३	....
,, स्वोपज्ञवृत्ति*	,,	९०००	....

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

,, बृहद्वृत्ति*	मलयगिरि	१८८५०	विक्रम की १२-१३ वीं शती
,, दीपक	वामदेव	२५००	सम्भवतः विक्रम की १२ वीं शती
३. प्राचीन षट् कर्मग्रंथ*	....	गा० ५४७, ५५१ अथवा ५६७	....
(१) कर्मविपाक	गर्गर्षि	गा० १६८	सम्भवतः विक्रम की १० वीं शती
,, वृत्ति*	परमानन्दसूरि	९२२	विक्रम की १२-१३ वीं शती
,, व्याख्या*	....	१०००	....
,, टिप्पन	उभयप्रभसूरि	४२०	(संभवतः) सम्भवतः विक्रम की १३ वीं शती
(२) कर्मस्तव	....	गा० ५७	....
,, भाष्य*	....	गा० २४	....
,, भाष्य*	....	गा० ३२	....
,, वृत्ति*	गोविन्दार्य	१०९०	सम्भवतः वि० सं० १२८८ से पूर्व
,, टिप्पन	उदयप्रभसूरि	२९२	सम्भवतः विक्रम की १३ वीं शती
(३) बन्धस्वामित्व	....	गा० ५४	....
,, वृत्ति*	हरिभद्रसूरि	५६०	वि० सं० ११७२
(४) षडशीति	जिनवल्लभगणि	गा० ८६	विक्रम की १२ वीं शती
,, भाष्य	....	गा० २३	....
,, भाष्य*	....	गा० ३८	....
,, वृत्ति*	हरिभद्रसूरि	८५०	विक्रम की १२ वीं शती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

,, वृत्ति*	मलयगिरि	२१४०	विक्रम की १२-१३ वीं शती
,, वृत्ति	यशोभद्रसूरि	१६३०	विक्रम की १२ वीं शती
,, प्राकृ वृत्ति	रामदेव	७५०	,,
,, विवरण	मेरुवाचक	पत्र० ३२	....
,, उद्धार	....	१६००	....
,, अवचूरि	....	७००	....
(५) शतक	शिवशर्मसूरि	गा० १११	सम्भवतः विक्रम की ५ वीं शती
,, भाष्य*	....	गा० २४	....
,, भाष्य	....	गा० २४	....
,, बृहद्भाष्य*	चक्रेश्वरसूरि	१४१३	वि० सं० ११७९
,, चूर्णि*	....	२३२२	....
,, वृत्ति	मलधारी हेमचन्द्रसूरि	३७४०	विक्रम की १२ वीं शती
,, टिप्पन	उभयप्रभसूरि	९७४	सम्भवतः विक्रम की १३ वीं शती
,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	पत्र० २५	विक्रम की १५ वीं शती
(६) सप्ततिका	शिवशर्मसूरि अथवा चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ७५	....
,, भाष्य*	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रम की ११-१२ वीं शती
,, चूर्णि	....	पत्र० १३२	....
,, प्राकृत वृत्ति	चन्द्रर्षिमहत्तर	२३००	....
,, वृत्ति*	मलयगिरि	३७८०	विक्रम की १२-१३ वीं शती
,, भाष्यवृत्ति*	मेरुतुंगसूरि	४१५०	वि० सं० १४४९
,, टिप्पन	रामदेव	५७४	विक्रम की १२ वीं शती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	....	विक्रम की १५ वीं शती
४. सार्द्धशतक*	जिनवल्लभगणि	गा० १५५	विक्रम की १२ वीं शती
,, भाष्य	....	गा० ११०	....
,, चूर्णि	मुनिचन्द्रसूरि	२२००	वि० सं० ११७०
,, वृत्ति*	धनेश्वरसूरि	३७००	वि० सं० ११७१
,, प्रा० वृत्ति	चक्रेश्वरसूरि	ताड० प० १५१	....
,, वृत्तिटिप्पन	....	१४००	....
५. नवीन पंच कर्मग्रंथ*	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	विक्रम की १३-१४ वीं शती
,, स्वो० टीका* (बन्धस्वामित्व को छोड़ कर)	,,	१०१३१	,,
,, अवचूरि	मुनिशेखरसूरि	२९५८	....
,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	५४०७	विक्रम की १५ वीं शती
बन्धस्वामित्व-अवचूरि*	....	४२६	....
कर्मस्तव-विवरण	कमलसंयम उपाध्याय	१५०	वि० सं० १५५९
षट्कर्मग्रन्थ-बालावबोध*	जयसोम	१७०००	विक्रम की १७ वीं शती
,, ,,	मतिचन्द्र	१२०००	....
,, ,,	जीवविजय	१००००	वि० सं० १८०३
६. मनःस्थिरीकरण-प्रकरण	महेन्द्रसूरि	गा० १६७	वि० सं० १२८४
,, स्वो० वृत्ति	,,	२३००	,,
७. संस्कृत कर्मग्रंथ (चार)	जयतिलकसूरि	५६९	विक्रम की १५ वीं शती का आरम्भ
८. कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका	....	गा० ३२	....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. भावप्रकरण★	विजयविमलगणि	गा. ३०	वि. सं. १६२३
,, स्वो. वृत्ति★	,,	३२५	,,
१०. बन्धहेतूदयत्रिभङ्गी★	हर्षकुलगणि	गा. ६५	विक्रम की १६ वीं शती
,, वृत्ति★	वानरर्षिगणि	११५०	वि. सं. १६०२
११. बन्धोदयसत्ताप्रकरण★	विजयविमलगणि	गा. २४	विक्रम की १७ वीं शती का प्रारम्भ
,, स्वो. अवचूरि★	,,	३००	,,
१२. कर्मसंवेद्यभङ्गप्रकरण★	देवचन्द्र	४००	....
१३. भूयस्कारादिविचार-प्रकरण	लक्ष्मीविजय	गा. ६०	विक्रम की १७ वीं शती
१४. संक्रमकरण★	प्रेमविजयगणि	....	वि. सं. १९८५

प्रस्तुत सूची में निर्दिष्ट कर्मसाहित्य का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक है। इसमें से केवल दिगम्बरीय कर्मसाहित्य का प्रमाण लगभग पाँच लाख श्लोक है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत जोकि दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम-ग्रन्थ हैं और जिनसे सम्बन्धित टीकाएँ भी आगमिक साहित्य के अन्तर्गत ही गिनी जाती हैं, दिगम्बरीय साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। इस साहित्य पर तत्सम्बन्धी पिछले प्रकरणों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अतः प्रस्तुत प्रकरण में शेष दिगम्बरीय कर्मसाहित्य का ही परिचय प्रस्तुत किया जाएगा।

ग्रन्थ-बाहुल्य को दृष्टि में रखते हुए पहले श्वेताम्बराचार्यकृत कर्मसाहित्य के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय देना अनुचित न होगा। श्वेताम्बरीय कर्म-साहित्य का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति है। यहाँ सर्व-प्रथम इसी का परिचय दिया जाता है।

शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति :

कर्मप्रकृति[1] के प्रणेता शिवशर्मसूरि[2] का समय अनुमानतः विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। कदाचित् ये आगमोद्धारक देवर्द्धिगणिक्षमा-

---

१. (अ) मलयगिरि एवं यशोविजयविहित वृत्तियों सहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१७.

(आ) मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन रहे हों। सम्भवतः ये दशपूर्वधर भी हों। इन सब सम्भावनाओं पर निश्चित प्रकाश डालने वाली प्रामाणिक सामग्री का हमारे पास अभाव है। इतना निश्चित है कि शिवशर्मसूरि एक प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत विद्वान् थे। उनका कर्मविषयक ज्ञान बहुत गहरा था। कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक (प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ) भी शिवशर्मसूरि की ही कृति मानी जाती है। एक मान्यता ऐसी भी है कि सप्ततिका (प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ) भी इन्हीं की कृति है। दूसरी मान्यता के अनुसार सप्ततिका चन्द्रर्षिमहत्तर की कृति कही जाती है।

कर्मप्रकृति में ४७५ गाथाएँ हैं। ये अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर संकलित की गई हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य ने कर्मसम्बन्धी बन्धनकरण, संक्रमकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण इन आठ करणों एवं उदय और सत्ता इन दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। करण का अर्थ है आत्मा का परिणामविशेष अथवा वीर्यविशेष।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने मंगलाचरण के रूप में भगवान् महावीर को नमस्कार किया है एवं कर्माष्टक के आठ करण, उदय और सत्ता इन दस विषयों का वर्णन करने का संकल्प किया है :

सिद्धं सिद्धत्थसुयं वंदिय निद्धोयसव्वकम्ममलं।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठमुदयसंताणि वोच्छामि ॥ १ ॥

द्वितीय गाथा में आठ करण के नाम बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं :

(इ) चूर्णि तथा मलयगिरि एवं यशोविजयविहित वृत्तियों सहित—मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर, खूबचंच पानाचंद, डभोई (गुजरात), सन् १९३७.

(ई) पं० चंदुलाल नानचंद्रकृत गुज. अनु. सहित—माणेकलाल चुनीलाल, राजनगर (अहमदाबाद माण्डवी पोलान्तर्गत नागजीभूधर की पोल), सन् १९३८.

२. यशोविजय की वृत्ति में उल्लिखित, पृ० २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. बन्धन, २. संक्रमण, ३. उद्वर्तना, ४. अपवर्तना, ५. उदीरणा, ६. उपशमना, ७. निधत्ति और ८. निकाचना। गाथा इस प्रकार है :

बंधण संकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया।
उवसामणा निहत्ती निकायणा च त्ति करणाइं ॥ २ ॥

१. **बन्धनकरण**—करण का अर्थ वीर्यविशेष होता है इस बात को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार ने आगे की गाथा में वीर्य का स्वरूप बताया है। वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय (क्षयोपशम) अथवा सर्वक्षय से वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उससे उत्पन्न होने वाला सलेश्य (लेश्यायुक्त) प्राणी का वीर्य (शक्ति) अभिसंधिज अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवाला अथवा अनभिसंधिज अर्थात् अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवाला होता है। वीर्य की हीनाधिकता का विचार करते हुए आचार्य ने योग अर्थात् प्रवृत्ति का निम्नलिखित दस द्वारों से वर्णन किया है : १. अविभाग, २. वर्गणा, ३. स्पर्धक, ४. अन्तर, ५. स्थान, ६. अनन्तरोपनिधा, ७. परम्परोपनिधा, ८. वृद्धि, ९. समय और १०. जीवाल्पबहुत्व।[१]

योग का प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि योग से प्राणी शरीरादि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर औदारिकादि पाँच प्रकार के शरीर के रूप में परिणत करता है। इसी प्रकार योग से भाषा, श्वासोच्छ्वास तथा मनोरूप पुद्गलों का भी ग्रहण करता है एवं उन्हें तद्रूप से परिणत करता हुआ उनका विसर्जन करता है।[२] परमाणुवर्गणा, संख्यातप्रदेशी वर्गणा, असंख्यातप्रदेशी वर्गणा और अनन्तप्रदेशी वर्गणा ये सब वर्गणाएँ (पुद्गल-परमाणुओं की श्रेणियाँ अथवा दलविशेष) अग्रहणीय हैं। इनके बाद की अभव्यों के अनन्तगुण अथवा सिद्धों के अनन्तभाग जितने प्रदेश वाली पुद्गल-वर्गणाएँ त्रितनु अर्थात् तीन शरीररूप से ग्रहण करने योग्य हैं। तदुपरान्त अग्रहणान्तरित तैजस, भाषा, मन और कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य वर्गणाएँ हैं। तदुपरान्त ध्रुवाचित्त और अध्रुवाचित्त वर्गणाएँ हैं। इनके बाद बीच-बीच में चार शून्य वर्गणाएँ हैं और प्रत्येक शून्यवर्गणा के ऊपर प्रत्येकशरीर-वर्गणा, बादरनिगोद-वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद-वर्गणा तथा अचित्तमहास्कन्ध-वर्गणा है। ये वर्गणाएँ गुणनिष्पन्न स्वनामयुक्त हैं अर्थात् नाम के अनुसार अर्थवाली हैं एवं अंगुल के असंख्यातवें भाग के

---

१. गा. ५–१६. २. गा. १७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बराबर अवगाहना वाली हैं।[1] एक जीवप्रदेशावगाही अर्थात् जीव के एक प्रदेश में रहे हुए एक ग्रहणयोग्य द्रव्य अर्थात् पुद्गल-परमाणु को भी जीव अपने सब प्रदेशों से ग्रहण करता है। इसी प्रकार सर्व जीवप्रदेशों में अवगाहित ग्रहणयोग्य सर्व पुद्गल-स्कन्धों को भी जीव अपने समस्त प्रदेशों से ग्रहण करता है।[2] यहाँ तक योग का अधिकार है।

पुद्गलद्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध स्नेह अर्थात् स्निग्धस्पर्श और रूक्षस्पर्श से होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीन प्रकार की स्नेह-प्ररूपणा की गई है: १. स्नेह-प्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा, २. नामप्रत्ययस्नेहस्पर्धक प्ररूपणा और ३. योगप्रत्यय-स्नेहस्पर्धक प्ररूपणा। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक एक है। उसमें स्नेहाविभाग वर्गणाएँ अनन्त हैं। इसमें अल्प स्नेहवाले पुद्गल अधिक और अधिक-अधिक स्नेहवाले पुद्गल अल्प-अल्प होते हैं। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की ही भाँति नामप्रत्यय एवं योग-प्रत्ययस्नेहस्पर्धक में भी अविभाग वर्गणाएँ अनन्त हैं।[3]

कर्म की मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का भेद अनुभागविशेष अर्थात् रसविशेष से होता है। अनुभागविशेष का कारण स्वभावभेद है। अविशेषित रसप्रकृतिवाला बन्ध प्रकृतिबन्ध कहलाता है।[4] मूलप्रकृति के कर्मप्रदेश उत्तर-प्रकृतियों में किस प्रकार विभक्त होते हैं, इसका संक्षेप में वर्णन करने के बाद आचार्य ने प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध की चर्चा समाप्त की है।[5] तदनन्तर अनुभागबन्ध (रसबन्ध) और स्थितिबन्ध का वर्णन किया गया है।

जीव जिन कर्मस्कन्धों को ग्रहण करता है उनमें एक सरीखा रस उत्पन्न नहीं करता अपितु भिन्न-भिन्न प्रकार का रस उत्पन्न करता है। इसी का नाम अनुभागबन्ध है। रसविभाग की विषमता का कारण राग-द्वेष की न्यूनाधिकता है। सबसे अल्प रसविभाग वाले कर्मप्रदेश प्रथम वर्गणा—जघन्य रसवर्गणा के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। ये वर्गणाएँ एक-एक रसविभाग से क्रमशः बढ़ती

---

१. परमाणुसंखऽसंखाणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो आहारगवग्गणा तितणू॥ १८॥
अग्गहणंतरियाओ तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअंतरेसुप्पि॥ १९॥
पत्तेयगतणुसुबायरसुहुमनिगोए तहा महाखंधे।
गुणनिप्फन्नसनामा असंखभागंगुलवगाहो॥ २०॥

२. गा. २१. ३. गा. २२–३. ४. गा. २४. ५. गा. २५–८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई सिद्धों के अनन्तवें भाग के बराबर होती हैं किन्तु प्रदेशसंख्या में क्रमशः हीन होती हैं।[1] आगे आचार्य ने स्पर्धक, अन्तर, स्थान, कंडक, वृद्धिषट्क, हानिषट्क, अनुभागस्थान में अवस्थित कालादिक अनुभागस्थानों का अल्प-बहुत्व, स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व, अनुभाग की तीव्रता-मन्दता आदि का विवेचन किया है।[2]

स्थितिबन्ध का व्याख्यान करते हुए ग्रन्थकार ने स्थितिबन्ध के चार अनुयोगों का स्वरूप समझाया है : १. स्थितिस्थान, २. निषेक, ३. अबाधाकंडक और ४. अल्पबहुत्व। स्थितिस्थान की प्ररूपणा में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, उत्कृष्ट आयुष्य-बन्ध, उत्कृष्ट अबाधा, जघन्य स्थितिबन्ध, जघन्य आयुष्यबन्ध और जघन्य अबाधा का विचार किया गया है। निषेक का अनन्तरोपनिधा तथा परम्परोप-निधा की दृष्टि से निरूपण किया गया है। अबाधा से ऊपर की स्थिति निषेक कहलाती है। अबाधाकंडक की प्ररूपणा में बताया गया है कि चार प्रकार की आयु को छोड़कर शेष सर्व कर्म-प्रकृतियों की अबाधा का एक-एक समय न्यून होने के साथ स्थितिबन्ध में पल्योपम के असंख्यातवें भाग के बराबर एक-एक कंडक कम होता जाता है। अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने अनुभागस्थानों का समुदाय कंडक कहलाता है। अल्पबहुत्व का निरूपण करते हुए आचार्य ने बन्ध, अबाधा, कंडक आदि दस स्थानों के अल्पबहुत्व का विचार किया है।[3] यहाँ तक बन्धनकरण का अधिकार है।

२. **संक्रमकरण**—संक्रम चार प्रकार का है : १. प्रकृतिसंक्रम, २. स्थिति-संक्रम, ३. अनुभागसंक्रम और ४. प्रदेशसंक्रम। जीव जब-जब जिस-जिस कर्मप्रकृति के बंधने के योग्य योग अथवा परिणाम में प्रवर्तित होता है तब-तब कर्मवर्गणाएँ (कर्मपुद्गल) भी उस कर्मप्रकृति के रूप में परिणत होती हैं। दूसरे शब्दों में जिस कर्मप्रकृति के बन्ध में जीववीर्य जिस समय प्रवर्तित होता है उस समय वह प्रकृति बंधती है। इतना ही नहीं, उस बंधने वाली प्रकृति के अतिरिक्त पूर्वबद्ध प्रकृति के प्रदेशादि भी उस बध्यमान प्रकृति के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार बध्यमान प्रकृति में बद्ध प्रकृति का तद्रूप हो जाना संक्रम अथवा संक्रमण कहलाता है। उदाहरणार्थ साता वेदनीय कर्मप्रकृति का बंध करने वाला जीव असाता वेदनीय को साता के रूप में परिणत कर देता है अथवा असाता वेदनीय का बंध करने वाला जीव साता को असातारूप बना

१. गा. ३०. २. गा. ३१–६७. ३. गा. ६८–१०२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देता है। संक्रम के विषय में कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण के लिए तीन प्रकार के दर्शनमोहनीय का संक्रम बंध के बिना भी होता है। दर्शनमोहनीय में चारित्र-मोहनीय का संक्रम नहीं होता और चारित्रमोहनीय में दर्शनमोहनीय का संक्रम नहीं होता। आयु की चार प्रकृतियों का एक-दूसरे में संक्रमण नहीं होता। आठ मूलप्रकृतियों में भी परस्पर संक्रम नहीं होता। संक्रमावलिका, बंधावलिका, उदयावलिका, उद्वर्तनावलिका आदि में प्राप्त कर्मदलिक संक्रमण के योग्य नहीं होते।[१] जिस दर्शनमोहनीय का उदय हो उस दर्शनमोहनीय का किसी में संक्रमण नहीं होता। सास्वादनी और मिश्रदृष्टि जीव किसी भी दर्शनमोहनीय का किसी में भी संक्रमण नहीं कर सकता।

स्थितिसंक्रम का भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम-प्रमाण, जघन्य स्थितिसंक्रम-प्रमाण, साद्यादि-प्ररूपणा और स्वामित्व-प्ररूपणा इन छः अधिकारों के साथ विचार किया गया है।[२]

अनुभागसंक्रम (रससंक्रम) का भेद, स्पर्धक, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम, जघन्य अनुभागसंक्रम, सादि-अनादि और स्वामित्व इन सात दृष्टियों से व्याख्यान किया गया है।[३]

प्रदेशसंक्रम के पाँच द्वार हैं : सामान्य लक्षण, भेद, साद्यादि प्ररूपणा, उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम और जघन्य प्रदेशसंक्रम। प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं पाँच द्वारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[४] यहाँ तक संक्रमकरण का अधिकार है। इस प्रकरण की कुछ गाथाएँ (क्रमांक १० से २२) कषायप्राभृत की गाथाओं (क्रमांक २७ से ३९) से मिलती-जुलती हैं।

३-४. उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण—उद्वर्तना और अपवर्तना अर्थात् वृद्धि और हानि स्थिति और रस की होती है, प्रकृति और प्रदेश की नहीं। विवक्षित स्थिति अथवा रस वाले कर्मप्रदेशों की स्थिति अथवा रस में वृद्धि-हानि करना उद्वर्तना-अपवर्तना कहलाता है। प्रस्तुत प्रकरण में कर्मस्थिति एवं कर्मरस की उद्वर्तना व अपवर्तना का विचार किया गया है। उद्वर्तना दो प्रकार की होती है : निर्व्याघाती और व्याघाती। अपवर्तना भी निर्व्याघात और व्याघात के भेद से दो प्रकार की है।[५]

---

१. गा. १–३. २. गा. २८–४३. ३. गा. ४४–५९.
४. गा. ६०–१११. ५. गा. १–१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **उदीरणाकरण**—उदीरणा का अर्थ है योगविशेष से कर्मप्रदेशों को उदय में लाना। इसका आचार्य ने लक्षण, भेद, साद्यादि, स्वामित्व, प्रकृतिस्थान और प्रकृतिस्थान-स्वामी इन छः द्वारों से विवेचन किया है। उदीरणा के विविध दृष्टियों से दो, चार, आठ एवं एक सौ अठावन भेद किये गये हैं। इनमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदों को प्रधानता दी गई है।[1]

६. **उपशमनाकरण**—इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने कर्मों की उपशमना अर्थात् उपशान्ति का विचार किया है। उपशम की स्थिति में कर्म थोड़े समय के लिए दबे रहते हैं, नष्ट नहीं होते। उपशमनाकरण के निम्नोक्त आठ द्वार हैं : १. सम्यक्त्व की उत्पत्ति, २. देशविरति की प्राप्ति, ३. सर्वविरति की प्राप्ति, ४. अनन्तानुबन्धी कषाय की वियोजना—विनाश, ५. दर्शनमोहनीय की क्षपणा, ६. दर्शनमोहनीय की उपशमना, ७. चारित्रमोहनीय की उपशमना, ८. देशोपशमना।[2] प्रस्तुत प्रकरण आध्यात्मिक विकास की विविध भूमिकाओं—गुणस्थानों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपशमनाकरण की चार गाथाएँ (क्रमांक २३ से २६) कषायप्राभृत की चार गाथाओं (क्रमांक १००, १०३, १०४, १०५) से मिलती-जुलती हैं।

७—८. **निधत्तिकरण और निकाचनाकरण**—भेद और स्वामी की दृष्टि से निधत्तिकरण और निकाचनाकरण देशोपशमना (आंशिक उपशमना) के तुल्य हैं। इनमें भेद यह है कि निधत्ति में संक्रमकरण नहीं होता जबकि निकाचना में संक्रम के साथ ही साथ उद्वर्तना एवं अपवर्तना की भी प्रवृत्ति नहीं होती :

देसोवसमणतुल्ला होइ निहत्ती निकाइया नवरं।
संकमणं पि निहत्तीइ नत्थि सेसाणवियरस्सं ॥ १ ॥

९. **उदयावस्था**—उदय और उदीरणा सामान्यतया समान हैं किन्तु ज्ञानावरणादि ४१ प्रकृतियों की दृष्टि से इन दोनों में कुछ विशेषता है। ये प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं : ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, १ संज्वलनलोभ, ३ वेद, २ सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि, ४ आयु, २ वेदनाएँ, ५ निद्राएँ, १० नामकर्म की प्रकृतियाँ—मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और तीर्थंकर। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की दृष्टि से भी दोनों में कुछ अन्तर है।[3]

---

१. गा० १–८९. २. गा० १–७१. ३. गा० १–३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. **सत्तावस्था**—सत्ता का भेद, साद्यादि और स्वामी इन तीन दृष्टियों से विचार किया गया है। सत्ता का अर्थ है कर्मों का निधि के रूप में पड़े रहना। सत्ता विवक्षाभेद से दो, आठ एवं एक सौ अठावन प्रकार की होती है। आचार्य ने विविध गुणस्थानों की दृष्टि से सत्ता में स्थित कर्मप्रकृतियों का विशद विवेचन किया है। नारक और देवों की दृष्टि से भी सत्ता का निरूपण किया गया है।[1]

उपसंहार के रूप में ग्रंथकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के ज्ञान का विशिष्ट फल बताया है। यह फल अष्टकर्म की निर्जरा से प्राप्त होने वाले अलौकिक सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2] प्रस्तुत परिचय से स्पष्ट है कि कर्मप्रकृति जैन कर्मवाद-सम्मत कर्म की विविध अवस्थाओं का विवेचन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी निरूपण-शैली कुछ कठिन है। मलयगिरि आदि की टीकाएँ इसके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए विशेष उपयोगी हैं।

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ :

कर्मप्रकृति की तीन व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से एक-प्राकृत चूर्णि है एवं दो संस्कृत टीकाएँ। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। सम्भवतः प्रस्तुत चूर्णि सुप्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर[3] की ही कृति हो। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संस्कृत टीकाओं में एक सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरिकृत[4] वृत्ति है एवं दूसरी न्यायाचार्य यशोविजयगणि-विरचित टीका। यशोविजयगणि का समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी है। इनके गुरुतत्त्वविनिश्चय, उपदेशरहस्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि अनेक मौलिक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इन तीनों व्याख्याओं में से चूर्णि का ग्रन्थमान सात हजार श्लोकप्रमाण, मलयगिरिकृत वृत्ति का ग्रन्थमान आठ हजार श्लोकप्रमाण एवं यशोविजयविहित टीका का ग्रन्थमान तेरह हजार श्लोकप्रमाण है।

चूर्णि—चूर्णि के प्रारम्भ में निम्न मंगल-गाथा है :

---

१. गा० १–४९.　　　२. गा० ५५.

३. जिनदासगणि महत्तर का परिचय आगमिक चूर्णियों से सम्बन्धित प्रकरण में दिया जा चुका है। देखिए—इसी इतिहास का भा० ३, पृ० २९०–२९३.

४. मलयगिरि का परिचय आगमिक टीकाओं से सम्बन्धित प्रकरण में दिया जा चुका है। देखिए—भा० ३, पृ० ४१५–४१८.

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

जयइ जगहितदमवितहममियगभीरत्थमणुपमं णिउणं।
जिणवयणमजियममियं भव्वजणसुहावहं जयइ ॥ १ ॥

अन्त में 'जस्स वरसासणा........' गाथा का व्याख्यान किया गया है।

मलयगिरिविहित वृत्ति—इस वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य ने अरिष्टनेमि को प्रणाम किया है एवं चूर्णिकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है :

प्रणम्य कर्मद्रुमचक्रनेमिं, नमत्सुराधीशमरिष्टनेमिम् ।
कर्मप्रकृत्याः कियतां पदानां, सुखावबोधाय करोमि टीकाम् ॥ १ ॥
अयं गुणश्चूर्णिकृतः समग्रो, यदस्मदादिर्वदतीह किञ्चित् ।
उपाधिसम्पर्कवशाद्विशेषो, लोकेऽपि दृष्टः स्फटिकोपलस्य ॥ २ ॥

अन्त में वृत्तिकार ने कर्मप्रकृति के मूल आधार का निर्देश करते हुए जैन सिद्धान्त एवं चूर्णिकार को नमस्कार किया है एवं प्रस्तुत वृत्ति से प्राप्त फल को लोककल्याण के लिए समर्पित किया है :

कर्मप्रपञ्चं जगतोऽनुबन्धक्लेशावहं वीक्ष्य कृपापरीतः ।
क्षयाय तस्योपदिदेश रत्नत्रयं स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥ १ ॥
निरस्तकुमतध्वान्तं सत्पदार्थप्रकाशकम् ।
नित्योदयं नमस्कुर्मो जैनसिद्धान्तभास्करम् ॥ २ ॥
पूर्वान्तर्गतकर्मप्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन ।
कर्मप्रकृतिरियमतः श्रुतकेवलिगम्यभावार्था ॥ ३ ॥
ततः क्व चैषा विषमार्थयुक्ता,
क्व चाल्पशास्त्रार्थकृतश्रमोऽहम् ।
तथापि सम्यग्गुरुसम्प्रदायात्,
किञ्चित्स्फुटार्था विवृता मयैषा ॥ ४ ॥
कर्मप्रकृतिनिधानं बह्वर्थं येन मादृशां योग्यम् ।
चक्रे परोपकृतये श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ५ ॥
एनामतिगभीरां कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ६ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं मे स्युः सिद्धाश्च मम मङ्गलम् ।
मङ्गलं साधवः सम्यग् जैनो धर्मश्च मङ्गलम् ॥ ७ ॥

यशोविजयकृत टीका—इस टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने पार्श्वनाथ को प्रणाम किया है एवं चूर्णिकार तथा मलयगिरि का उपकार मानते हुए प्रस्तुत टीका के निर्माण का संकल्प किया है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐन्द्री समृद्धिर्यदुपास्तिलभ्या, तं पार्श्वनाथं प्रणिपत्य भक्त्या ।
व्याख्यातुमीहे सुगुरुप्रसादमासाद्य कर्मप्रकृतिगभीराम् ॥ १ ॥

मलयगिरिगिरां या व्यक्तिरत्रास्ति तस्याः,
किमधिकमिति भक्तिमेंऽधिगन्तुं न दत्ते ।
वद वदन पवित्रीभावमुद्भाव्य भाव्यः,
श्रम इह सफलस्ते नित्यमित्येव वक्ति ॥ २ ॥

इह चूर्णिकृदध्वदर्शकोऽभून्मलयगिरिर्व्यतनोदकण्टकं तम् ।
इति तत्र पदप्रचारमात्रात्, पथिकस्येव ममास्त्वभीष्टसिद्धिः ॥ ३ ॥

इसके बाद टीकाकार ने कर्मप्रकृतिकार के रूप में शिवशर्मसूरि का नामोल्लेख किया है। उपर्युक्त चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मलयगिरि ने कर्मप्रकृतिकार के नाम का कोई उल्लेख नहीं किया है। टीकाकार यशोविजयगणि ने शिवशर्मसूरि का नामोल्लेख इस प्रकार किया है : इह हि भगवान् शिवशर्मसूरिः कर्मप्रकृत्याख्यं प्रकरणमारिप्सुर्ग्रन्थादौ विघ्नविघाताय शिष्टाचारपरिपालनाय च मङ्गलमाचरन् प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधेयप्रयोजनादि प्रतिपादयति ।

अन्त में टीकाकार ने ग्रन्थरचना के समय एवं अपनी गुरुपरम्परा के आचार्यों का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत टीका समाप्त की है :

ज्ञात्वा कर्मप्रपञ्चं निखिलतनुभृतां दुःखसन्दोहबीजं,
तद्विध्वंसाय रत्नत्रयमयसमयं यो हितार्थी दिदेश ।
अन्तः संक्रान्तविश्वव्यतिकरविलसत्कैवलैकात्मदर्शः,
स श्रीमान् विश्वरूपः प्रतिहतकुमतः पातु वो वर्द्धमानः ॥ १ ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासने भेजुषि ।
सूरिश्रीविजयप्रभे श्रितवति प्राज्यं च राज्यं कृतो,
ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ २ ॥

सूरिश्रीगुरुहीरशिष्यपरिषत्कोटीरहीरप्रभाः,
कल्याणाद्विजयाभिधाः समभवँस्तेजस्विनो वाचकाः ।
तेषामन्तिषदश्च लाभविजयप्राज्ञोत्तमाः शाब्दिक-
श्रेणिकीर्त्तितकार्तिकीविधुरुचिप्रस्पर्द्धिकीर्त्तिप्रथाः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तच्छिष्याः स्म भवन्ति जीतविजयाः सौभाग्यभाजो बुधाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयास्तेषां सतथ्यांबुधाः ।
तत्पादाम्बुजभृङ्गपद्मविजयप्राज्ञानुजन्मा बुध-
स्तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥ ४ ॥
इदं हि शास्त्रं श्रुतकेवलिस्फुटाधिगम्यपूर्वोद्धृतभावपावनम् ।
ममेह धीर्वामनयष्टिवद्ययौ तथापि शक्त्यैव विभोरियद्भुवम् ॥ ५ ॥
प्राक्तनार्थलिखनाद्वितन्वतो नेह कश्चिदधिको मम श्रमः ।
वीतरागवचनानुरागतः पुष्टमेव सुकृतं तथाप्यतः ॥ ६ ॥

चन्द्रर्षिमहत्तरकृत पंचसंग्रह :

पंचसंग्रह[1] आचार्य चन्द्रर्षिमहत्तरविरचित कर्मवाद विषयक एक महान् ग्रन्थ है। इसमें शतक आदि पाँच ग्रन्थों का पाँच द्वारों में संक्षेप में समावेश किया गया है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में योगोपयोगमार्गणा आदि पाँच द्वारों के नाम दिये हैं। इन द्वारों के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रन्थ कौन-से हैं, इसका मूल ग्रन्थ अथवा स्वोपज्ञ वृत्ति में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका में स्पष्ट उल्लेख किया है कि इसमें ग्रन्थकार ने शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थों का समावेश किया है। इन पाँच ग्रन्थों में से कषायप्राभृत के सिवाय शेष चार ग्रन्थों का आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में प्रमाणरूप से उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि मलयगिरि के समय में कषायप्राभृत को छोड़ कर शेष चार ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। इन चार ग्रन्थों में से सत्कर्म आज अनुपलब्ध

---

१. (अ) स्वोपज्ञ वृत्तिसहित—आगमोदयसमिति, बम्बई, सन् १९२७.
(आ) मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९०९.
(इ) मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९१९.
(ई) स्वोपज्ञ एवं मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, खूबचंद पानाचंद, डभोई (गुजरात), सन् १९३७-३८.
(उ) मलयगिरिकृत वृत्ति के हीरालाल देवचंदकृत गुज० अनु० सहित—जैन सोसायटी, १५, अहमदाबाद, प्रथम खंड, सन् १९३५, द्वितीय खंड, सन् १९४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। शेष तीन ग्रन्थ अर्थात् शतक, सप्ततिका एवं कर्मप्रकृति इस समय भी उपलब्ध हैं।

पंचसंग्रहकार आचार्य चंद्रर्षिमहत्तर के समय, गच्छ आदि का किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्त में केवल इतना-सा उल्लेख है कि ये पार्श्वर्षि के शिष्य हैं। इसी प्रकार इनके महत्तर-पद के विषय में भी इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने भी इन्हें 'मया चन्द्रर्षिनाम्ना साधुना' ऐसा कहते हुए महत्तर-पद से विभूषित नहीं किया है। सामान्य प्रचलित उल्लेखों के आधार पर ही इन्हें यहाँ महत्तर कहा गया है।

आचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर के समय के विषय में यही कहा जा सकता है कि गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि ऋषिशब्दान्त नाम विशेषकर नवीं-दसवीं शती में अधिक प्रचलित थे अतः पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षिमहत्तर भी सम्भवतः विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में विद्यमान रहे हों। पंचसंग्रह और उसकी स्वोपज्ञ टीका के सिवाय चन्द्रर्षिमहत्तर की कोई अन्य कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

पंचसंग्रह में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं जिनमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बंधनादि आठ करण एवं इसी प्रकार के अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में आठ कर्मों का नाश करने वाले वीर जिनेश्वर को नमस्कार किया गया है तथा महान् अर्थ वाले पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना का संकल्प किया गया है:

नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं।
वोच्छामि पंचसंगहमेयमहत्थं जहत्थं च॥ १॥

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'पंचसंग्रह' नाम की दो प्रकार से सार्थकता बताते हुए लिखा है कि चूँकि इसमें शतकादि पाँच ग्रन्थों को संक्षेप में समाविष्ट किया गया है अथवा पाँच द्वारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है अतः इसका पंचसंग्रह नाम सार्थक है:

सयगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता।
दाराणि पंच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं॥ २॥

इस ग्रन्थ में निम्नोक्त पाँच द्वारों का परिचय है: १. योगोपयोग-मार्गणा, २. बंधक, ३. बंधव्य, ४. बंधहेतु, ५. बंधविधि। एतद्विषयक गाथा निम्नलिखित है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा ।
तह बंधियव्व य बंधहेयवो बंधविहिणो य ।। ३ ।।

ग्रन्थ के अन्त में निम्न गाथा है :

सुयदेविपसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं ।
समयाओ चंदरिसिणा समइविभवाणुसारेण ।।

अर्थात् श्रुतदेवी की कृपा से चन्द्रर्षि ने अपनी बुद्धि के वैभव के अनुसार सिद्धान्त में से यह प्रकरण संक्षेप में कहा है ।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में अपना नाम-निर्देश किया है ।

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ :

पंचसंग्रह की दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्रकाशित हैं : स्वोपज्ञ वृत्ति एवं मलयगिरिकृत टीका । स्वोपज्ञ वृत्ति नौ हजार श्लोकप्रमाण तथा मलयगिरिकृत टीका अठारह हजार श्लोकप्रमाण है ।

स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपने को पार्श्वर्षि का पादसेवक अर्थात् शिष्य बताया है :

माधुर्यस्थैर्ययुक्तस्य दारिद्र्याद्रिमहास्वरोः ।
पार्श्वर्षेः पादसेवातः कृतं शास्त्रमिदं मया ।। ५ ।।

मलयगिरिकृत टीका का अन्त इस प्रकार है :

जयति सकलकर्मक्लेशसंपर्कमुक्त-
स्फुरितविततविमलज्ञानसंभारलक्ष्मीः ।
प्रतिनिहतकुतीर्थाशेषमार्गप्रवादः,
शिवपदमधिरूढो वर्धमानो जिनेन्द्रः ।। १ ।।
गणधरदृब्धं जिनभाषितार्थमखिलगमभङ्गनयकलितम् ।
परतीर्थानुमतमादृतिमभिगन्तुं शासनं जैनम् ।। २ ।।
बह्वर्थमल्पशब्दं प्रकरणमेतद्विवृण्वतामखिलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धि तेनाश्नुतां लोकः ।। ३ ।।
अर्हन्तो मंगलं सिद्धा मंगलं मम साधवः ।
मंगलं मंगलं धर्मस्तन्मंगलमशिश्रियम् ।। ४ ।।

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ :

देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ नव्य कर्मग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हैं जबकि तदाधारभूत पुराने कर्मग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं । इस प्रकार के प्राचीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मग्रन्थों[1] की संख्या छः है। ये शिवशर्मसूरि आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों की कृतियाँ हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं: १. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. बन्धस्वामित्व, ४, षडशीति, ५. शतक, ६. सप्ततिका।

कर्मविपाक के कर्ता गर्गर्षि हैं। ये सम्भवतः विक्रम की दसवीं सदी में विद्यमान थे। कर्मविपाक पर तीन टीकाएँ हैं: परमानन्दसूरिकृत वृत्ति, उदयप्रभसूरिकृत टिप्पन और एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या। ये तीनों टीकाएँ विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं सदी की रचनाएँ हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

कर्मस्तव के कर्ता अज्ञात हैं। इस पर दो भाष्य तथा दो टीकाएँ हैं। भाष्यकारों के नाम अज्ञात हैं। दो टीकाओं में से एक गोविन्दाचार्यकृत वृत्ति है। दूसरी टीका उदयप्रभसूरिकृत टिप्पन के रूप में है। इन दोनों का रचनाकाल सम्भवतः विक्रम की तेरहवीं सदी है। कर्मस्तव का नाम बन्धोदयसद्युक्तस्तव भी है।

बन्धस्वामित्व के कर्ता भी अज्ञात हैं। इस पर एक हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति है। यह वृत्ति वि० सं० ११७२ में लिखी गई।

षडशीति अथवा आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण जिनवल्लभगणि की कृति है। इसकी रचना विक्रम की बारहवीं सदी में हुई। इस पर दो अज्ञातकर्तृक भाष्य तथा अनेक टीकाएँ हैं। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि व मलयगिरि मुख्य हैं।

शतक अथवा बन्धशतक प्रकरण के कर्ता शिवशर्मसूरि हैं। इसपर तीन भाष्य, एक चूर्णि व तीन टीकाएँ हैं। तीन भाष्यों में से दो लघुभाष्य हैं जो अज्ञातकर्तृक हैं। बृहद्भाष्य के कर्ता चक्रेश्वरसूरि हैं। यह भाष्य विक्रम सं० ११७९ में लिखा गया। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। तीन टीकाओं में से एक के कर्ता मलधारी

---

१. प्रथम चार कर्मग्रन्थ सटीक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७२.

पंचम कर्मग्रन्थ सटीक—

(अ) जेन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०.

(आ) वीरसमाज ग्रन्थरत्नमाला, अहमदाबाद, सन् १९२२ व १९२३.

षष्ठ कर्मग्रन्थ सटीक—

(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१९.

(आ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमचन्द्र (विक्रम की १२ वीं सदी), दूसरी के उदयप्रभसूरि (सम्भवतः विक्रम की १३ वीं सदी) तथा तीसरी के गुणरत्नसूरि (विक्रम की १५ वीं सदी) हैं ।

सप्ततिका के कर्ता के विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । सामान्य प्रचलित मान्यता के अनुसार चन्द्रर्षिमहत्तर इसके कर्ता कहे जाते हैं । ऐसी भी सम्भावना है कि शिवशर्मसूरि ही इसके कर्ता हों । इस पर अभयदेवसूरिकृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षिमहत्तरकृत प्राकृत वृत्ति, मलयगिरिकृत टीका, मेरुतुंगसूरिकृत भाष्यवृत्ति, रामदेवकृत टिप्पन व गुणरत्नसूरिकृत अवचूरि है ।

इन छः कर्मग्रन्थों में से प्रथम पाँच में उन्हीं विषयों का प्रतिपादन है जो देवेन्द्रसूरिकृत पाँच नव्य कर्मग्रन्थों में साररूप से हैं । सप्ततिकारूप षष्ठ कर्मग्रन्थ में निम्न विषयों का विवेचन है :

बन्ध, उदय, सत्ता व प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ एवं बन्धादिस्थान, आठ कर्मों के उदीरणास्थान, गुणस्थान एवं प्रकृतिबन्ध, गतियाँ एवं प्रकृतियाँ, उपशमश्रेणि व क्षपकश्रेणि तथा क्षपकश्रेणि-आरोहण का अन्तिम फल ।

जिनवल्लभकृत सार्धशतक :

अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभगणि (विक्रम की १२ वीं सदी) की कर्मविषयक यह कृति[1] १५५ गाथाओं में है । इस पर अज्ञातकर्तृक भाष्य, मुनिचन्द्रसूरिकृत चूर्णि (वि० सं० ११७०), चक्रेश्वरसूरिकृत प्राकृत वृत्ति, धनेश्वरसूरिकृत टीका (वि० सं० ११७१) एवं अज्ञातकर्तृक वृत्ति-टिप्पन है ।

देवेन्द्रसूरिकृत नव्य कर्मग्रन्थ :

स्वोपज्ञवृत्तियुक्त पाँच नव्य कर्मग्रन्थों[2] की रचना करने वाले देवेन्द्रसूरि जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे । देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ

१. धनेश्वरसूरिकृत टीकासहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१५.

२. (क) प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ स्वोपज्ञविवरणोपेत तथा तृतीय अन्याचार्यविरचित अवचूरिसहित—

(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६६–१९६८.

(आ) मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, वि० सं० २४४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। इन्होंने सटीक पाँच कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति, सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ति, सुदर्शनाचरित्र, वन्दारुवृत्ति, सिद्धदण्डिका आदि ग्रन्थों की भी रचना की। ये प्राकृत एवं संस्कृत के साथ-ही-साथ जैनसिद्धान्त एवं दर्शनशास्त्र के भी पारंगत विद्वान् थे।[1]

आचार्य देवेन्द्रसूरि ने जिन पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की है उनका आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्षिमहत्तर आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाये गये कर्मग्रन्थ हैं। देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों में केवल प्राचीन कर्मग्रन्थों का भावार्थ अथवा सार ही नहीं दिया है; अपितु नाम, विषय, वर्णनक्रम आदि बातें भी उसी रूप में रखी हैं। कहीं-कहीं नवीन विषयों का भी समावेश किया है। प्राचीन षट् कर्मग्रन्थों में से पाँच कर्मग्रन्थों के आधार पर आचार्य देवेन्द्रसूरि ने जिन पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की है वे नव्य-कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। इन कर्मग्रन्थों के नाम भी वही हैं: कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्ध-स्वामित्व, षडशीति और शतक। ये पाँचों कर्मग्रन्थ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम कर्मग्रन्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त पाँच नामों में से भी प्रथम तीन नाम विषय को दृष्टि में रखते हुए रखे गये हैं, जबकि अन्तिम दो नाम गाथा संख्या को दृष्टि में रखकर रखे गये हैं। इन कर्मग्रन्थों की भाषा भी प्राचीन कर्मग्रन्थों की ही भाँति प्राकृत ही है। जिस छन्द में इनकी रचना हुई है उसका नाम आर्या है।

कर्मविपाक—ग्रन्थकार ने प्रथम कर्मग्रन्थ के लिए आदि एवं अन्त में 'कर्मविपाक' (कम्मविवाग) नाम का प्रयोग किया है। कर्मविपाक का विषय सामान्यतया कर्मतत्त्व होते हुए भी इसमें कर्मसम्बन्धी अन्य बातों पर विशेष विचार न किया जाकर उसके प्रकृति-धर्म पर ही प्रधानतया विचार किया गया है। दूसरे शब्दों में प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों के विपाक—परिपाक—फल का ही मुख्यतया वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से इसका 'कर्मविपाक' नाम सार्थक है।

(इ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३४.
(ख) स्वोपज्ञटीकासहित पंचम कर्मग्रन्थ (सप्ततिका सटीकसहित)—
(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१९.
(आ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०.

१. देखिए—मुनि चतुरविजयसम्पादित 'चत्वारः कर्मग्रन्थाः', प्रस्तावना, पृ० १६-२० (जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३४).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने बताया है कि कर्मबन्ध सहेतुक अर्थात् सकारण है। इसके बाद कर्म के स्वरूप का परिचय देने के लिए ग्रन्थकार ने कर्म का चार दृष्टियों से विचार किया है : प्रकृति, स्थिति, अनुभाग अथवा रस एवं प्रदेश। प्रकृति के मुख्य आठ भेद हैं : ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल प्रकृतियों के विविध उत्तरभेद होते हैं जिनकी संख्या १५८ तक होती है। इन भेदों का स्वरूप बताने के लिए आचार्य ने प्रारम्भ में ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों का संक्षेप में निरूपण करते हुए तदावरणभूत कर्म का सदृष्टान्त निरूपण किया है। दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेदों में पाँच प्रकार की निद्राएँ भी समाविष्ट हैं, इसे बताते हुए आचार्य ने इन निद्राओं का सुन्दर वर्णन किया है। इसके बाद सुख और दुःख के जनक वेदनीय कर्म, श्रद्धा और चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म, जीवन की मर्यादा के कारणभूत आयु कर्म, जाति आदि विविध अवस्थाओं के जनक नाम कर्म, उच्च और नीच गोत्र के हेतुभूत गोत्र कर्म एवं प्राप्ति आदि में बाधा पहुँचाने वाले अन्तराय कर्म का संक्षेप में वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक प्रकार के कर्म के कारण पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में ६० गाथाएँ हैं।

कर्मस्तव—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में कर्म की चार अवस्थाओं का विशेष विवेचन किया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता। इन अवस्थाओं के वर्णन में गुणस्थान की दृष्टि प्रधान रखी गयी है। बन्धाधिकार में आचार्य ने चौदह गुणस्थानों के क्रम को लेते हुए प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव की कर्मबन्ध की योग्यता-अयोग्यता का विचार किया है। इसी प्रकार उदयादि अवस्थाओं के विषय में भी समझना चाहिए। गुणस्थान का अर्थ है आत्मा के विकास की विविध अवस्थाएँ। इन अवस्थाओं को हम आध्यात्मिक विकासक्रम कह सकते हैं। जैन परम्परा में इस प्रकार की चौदह अवस्थाएँ मानी गई हैं। इनमें आत्मा क्रमशः कर्म-मल से विशुद्ध होता हुआ अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है। कर्म-पुंज का सर्वथा क्षय कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले प्रभु महावीर की स्तुति के बहाने से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करने के कारण इसका नाम 'कर्मस्तव' रखा गया है। इसकी गाथा-संख्या ३४ है।

बन्ध-स्वामित्व—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं की दृष्टि से गुणस्थानों का वर्णन किया गया है एवं यह बताया गया है कि मार्गणास्थित जीवों की सामान्यतया कर्मबन्ध-सम्बन्धी कितनी योग्यता है व गुणस्थान के विभाग के अनुसार कर्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध की योग्यता क्या है ? इस प्रकार इस ग्रन्थ में आचार्य ने मार्गणा एवं गुणस्थान दोनों दृष्टियों से कर्मबन्ध का विचार किया है। संसार के प्राणियों में जो भिन्नताएँ अर्थात् विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनको जैन कर्मशास्त्रियों ने चौदह विभागों में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों के ६२ उपभेद हैं। वैविध्य के इसी वर्गीकरण को 'मार्गणा' कहा जाता है। गुणस्थानों का आधार कर्मपटल का तरतमभाव एवं प्राणी की प्रवृत्ति-निवृत्ति है, जबकि मार्गणाओं का आधार प्राणी की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विभिन्नताएँ हैं। मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं अपितु उसके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों के पृथक्करण की सूचक हैं, जबकि गुणस्थानों में जीव के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का विचार किया जाता है। इस प्रकार मार्गणाओं का आधार प्राणियों की विविधताओं का साधारण वर्गीकरण है जबकि गुणस्थानों का आधार जीवों का आध्यात्मिक विकास-क्रम है। प्रस्तुत कर्मग्रन्थ की गाथा-संख्या २४ है।

षडशीति—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ को 'षडशीति' इसलिए कहते हैं कि इसमें ८६ गाथाएँ हैं। इसका एक नाम 'सूक्ष्मार्थ-विचार' भी है और वह इसलिए कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में 'सुहुमत्थवियारो' (सूक्ष्मार्थविचार) शब्द का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में मुख्यतया तीन विषयों की चर्चा है : जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान। जीवस्थान में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों का वर्णन किया गया है। मार्गणास्थान में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्प-बहुत्व इन छः विषयों का वर्णन है। गुणस्थान में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्प-बहुत्व इन दस विषयों का समावेश किया गया है। अन्त में भाव तथा संख्या का स्वरूप बताया गया है। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम होता है कि जीव किन-किन अवस्थाओं में भ्रमण करता है। मार्गणास्थान के वर्णन से यह विदित होता है कि जीव के कर्मकृत व स्वाभाविक कितने भेद हैं। गुणस्थान के परिज्ञान से आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति का आभास होता है। इस जीवस्थान, मार्गणास्थान एवं गुणस्थान के ज्ञान से आत्मा का स्वरूप एवं कर्मजन्य रूप जाना जा सकता है।

शतक—शतक नामक पंचम कर्मग्रन्थ में १०० गाथाएँ हैं। यही कारण है कि इसका नाम शतक रखा गया है। इसमें सर्वप्रथम बताया गया है कि प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन-कौन प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघाती, देशघाती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अघाती, पुण्यधर्मा, पापधर्मा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना हैं। तदनन्तर इस बात का विचार किया गया है कि इन्हीं प्रकृतियों में से कौन-कौन प्रकृतियाँ क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी एवं पुद्गलविपाकी हैं। इसके बाद ग्रन्थकार ने प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, (रसबन्ध) एवं प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार के बन्धों का स्वरूप बताया है। इनका सामान्य परिचय तो प्रथम कर्मग्रन्थ में दे दिया गया है, किन्तु विशेष विवेचन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार लिया गया है। प्रकृतिबन्ध का वर्णन करते हुए आचार्य ने मूल तथा उत्तरप्रकृतियों से सम्बन्धित भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित एवं अवक्तव्य बन्धों पर प्रकाश डाला है। स्थितिबन्ध का विवेचन करते हुए जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति एवं इस प्रकार की स्थिति का बन्ध करने वाले प्राणियों का वर्णन किया है। अनुभागबन्ध के वर्णन में शुभाशुभ प्रकृतियों में तीव्र अथवा मन्द रस पड़ने के कारण, उत्कृष्ट व जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी इत्यादि का समावेश किया गया है। प्रदेशबन्ध के वर्णन में वर्गणाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है एवं अन्त में उपशमश्रेणि एवं क्षपकश्रेणि का स्वरूप बताया गया है।

नव्य कर्मग्रन्थों की व्याख्याएँ :

आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने पाँचों कर्मग्रन्थों पर स्वोपज्ञ टीका लिखी थी किन्तु किसी कारण से तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो गई। इसकी पूर्ति के लिए बाद के किसी आचार्य ने अवचूरिरूप नई टीका लिखी। गुणरत्नसूरि व मुनिशेखर-सूरि ने पाँचों कर्मग्रन्थों पर अवचूरियाँ लिखीं। इनके अतिरिक्त कमलसंयम उपाध्याय आदि ने भी इन कर्मग्रन्थों पर छोटी-छोटी टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी व गुजराती में भी इन पर पर्याप्त विवेचन लिखा गया है।[1]

---

१. (अ) हिन्दी विवेचन (सप्ततिकासहित)—आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा.

(आ) गुजराती विवेचन (सप्ततिकासहित)—

(क) जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाना.

(ख) प्रथम तीन—हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थमाला, अहमदाबाद.

(ग) शतक (पंचम)—मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा.

(घ) टबार्थसहित (छः)—जैन विद्याशाला, अहमदाबाद.

(ङ) यंत्रपूर्वक कर्मादिविचार—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावप्रकरण :

विजयविमलगणि ने वि० सं० १६२३ में भावप्रकरण[1] की रचना की। इसमें ३० गाथाएँ हैं जिनमें औपशमिकादि भावों का वर्णन है। इस पर ३२५ श्लोक-प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति है।

बन्धहेतूदयत्रिभंगी :

हर्षकुलगणिकृत बन्धहेतूदयत्रिभंगी[2] में ६५ गाथाएँ हैं। यह विक्रम की १६ वीं सदी की रचना है। इस पर वानरर्षि ने वि० सं० १६०२ में टीका लिखी है। यह टीका ११५० श्लोकप्रमाण है।

dबन्धोदयसत्ताप्रकरण :

विजयविमलगणि ने विक्रम की १७ वीं सदी के प्रारम्भ में बन्धोदयसत्ता-प्रकरण[3] की रचना की। इसमें २४ गाथाएँ हैं। इस पर ३०० श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञ अवचूरि है।

दिगम्बरीय कर्मसाहित्य में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एवं कषायप्राभृत के बाद गोम्मटसार का स्थान है। यह नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कृति है।

नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार :

गोम्मटसार[4] के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विक्रम की ११ वीं शताब्दी में विद्यमान थे। ये चामुण्डराय के समकालीन थे। चामुण्डराय गोम्मटराय

---

१. स्वोपज्ञ वृत्तिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९६८.

२. टीकासहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४.

३. अवचूरिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४.

४. (अ) प्रथम काण्ड पर अभयचन्द्रकृत टीका एवं द्वितीय काण्ड पर केशव-वर्णीकृत टीका के साथ—हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९२१.

(आ) अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ—अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९२७–१९३७.

(इ) हिन्दी अनुवाद आदि के साथ—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, सन् १९२७–१९२८.

(ई) टोडरमल्लकृत हिन्दी टीका के साथ—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता.

९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कहलाते थे क्योंकि उन्होंने श्रवणबेलगुल की प्रख्यात बाहुबली गोम्मटेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे—प्रकाण्ड पंडित थे अतएव वे सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाते थे। गोम्मटसार के अतिरिक्त निम्नलिखित कृतियाँ भी नेमिचन्द्र की ही हैं : लब्धिसार, क्षपणासार (लब्धि-सारान्तर्गत), त्रिलोकसार और द्रव्यसंग्रह। ये सब ग्रंथ धवलादि महासिद्धान्त-ग्रन्थों के आधार से बनाये गये हैं।

गोम्मटसार की रचना चामुण्डराय जिनका कि दूसरा नाम गोम्मटराय था, के प्रश्न के अनुसार सिद्धान्तग्रन्थों के सार के रूप में हुई अतः इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रखा गया। इस ग्रन्थ का एक नाम पंचसंग्रह भी है क्योंकि इसमें बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु व बन्धभेद इन पाँच विषयों का वर्णन है। इसे गोम्मटसंग्रह अथवा गोम्मटसंग्रहसूत्र भी कहा जाता है। प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध के रूप में भी इसकी प्रसिद्धि है।[१]

गोम्मटसार में १७०५ गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है : जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में ७३३ व कर्मकाण्ड में ९७२ गाथाएँ हैं।

जीवकाण्ड—गोम्मटसार के प्रथम भाग जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्तसम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड इन पाँच विषयों का विवेचन है। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

प्रारम्भ में निम्नलिखित मंगलगाथा है जिसमें तीर्थंकर नेमि को नमस्कार कर जीव की प्ररूपणा करने का संकल्प किया गया है :

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं।
गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥ १ ॥

---

१. देखिये—पं० खूबचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित गोम्मटसार (जीवकाण्ड), प्रस्तावना, पृ० ३–६ (परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९२७); एस. सी. घोसाल द्वारा सम्पादित द्रव्यसंग्रह, प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ० ३९–४० (सेंट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा, सन् १९१७); डा० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३१२–३१३ (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६१).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी गाथा में जीवकाण्ड के गुणस्थानादि बीस अधिकारों—प्ररूपणाओं—प्रकरणों का नामोल्लेख है :

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा॥ २॥

इसके बाद आचार्य ने यह बताया है कि अभेद की विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो ही प्ररूपणाएँ हैं तथा भेद की विवक्षा से उपर्युक्त बीस प्ररूपणाएँ हैं।

गुणस्थान प्रकरण में गुणस्थान का लक्षण बताते हुए चौदह गुणस्थानों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है एवं संक्षेप में सिद्धों का स्वरूप बताया गया है।

जीवसमास प्रकरण में निम्नोक्त विषयों का विचार है : जीवसमास का लक्षण, जीवसमास के १४ भेद, जीवसमास के ५७ भेद, जीवसमास के स्थान, योनि, अवगाहना व कुल ये चार अधिकार।

पर्याप्ति प्रकरण में दृष्टान्त द्वारा पर्याप्त व अपर्याप्त का स्वरूप समझाया गया है तथा पर्याप्ति के छः भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

प्राण प्रकरण में प्राण के लक्षण, प्राण के भेद, प्राणों की उत्पत्ति एवं प्राणों के स्वामी का विचार किया गया है।

संज्ञा प्रकरण में संज्ञा के स्वरूप, संज्ञा के भेद एवं संज्ञाओं के स्वामी का विचार है।

मार्गणा प्रकरण में निम्नोक्त १४ मार्गणाओं का विवेचन किया गया है : १. गतिमार्गणा, २. इन्द्रियमार्गणा, ३. कायमार्गणा, ४. योगमार्गणा, ५. वेद-मार्गणा, ६. कषायमार्गणा, ७. ज्ञानमार्गणा, ८. संयममार्गणा, ९. दर्शनमार्गणा, १०. लेश्यामार्गणा, ११. भव्यमार्गणा, १२. सम्यक्त्वमार्गणा, १३. संज्ञिमार्गणा, १४. आहारमार्गणा। गतिमार्गणा में निम्न विषय हैं : गति शब्द की निरुक्ति, गति के नारकादि चार भेद, सिद्धगति का स्वरूप, गतिमार्गणा में जीवसंख्या। इन्द्रियमार्गणा में निम्न बातों का विचार है : इन्द्रिय का निरुक्तिसिद्ध अर्थ, इन्द्रिय के द्रव्य व भावरूप दो भेद, इन्द्रिय की अपेक्षा से जीवों के भेद, इन्द्रियों का विषयक्षेत्र, इन्द्रियों का आकार, इन्द्रियगत आत्मप्रदेशों का अव-गाहनप्रमाण, अतीन्द्रिय ज्ञानियों का स्वरूप, एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या। कायमार्गणा में निम्न विषय समाविष्ट हैं : काय का लक्षण, काय के भेद, काय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रमाण, स्थावर और त्रसकायिकों का आकार, काय का कार्य, कायरहितों अर्थात् सिद्धों का स्वरूप, पृथ्वीकायिकादि की संख्या। योगमार्गणा में निम्नलिखित विषयों का व्याख्यान किया गया है : योग का सामान्य व विशेष लक्षण, दस प्रकार का सत्य, चार प्रकार का मनोयोग, चार प्रकार का वचनयोग, सात प्रकार का काययोग, सयोगी केवली का मनोयोग, अयोगी जिन, शरीर में कर्म-नोकर्म का विभाग, कर्म-नोकर्म का उत्कृष्ट संचय, पाँच प्रकार के शरीर की उत्कृष्ट स्थिति, योगमार्गणा में जीवों की संख्या। वेदमार्गणा में तीन वेदों का स्वरूप बताया गया है तथा वेद की अपेक्षा से जीवों की संख्या का विचार किया गया है। कषायमार्गणा में कषाय का निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हुए क्रोधादि चार कषायों का स्वरूप समझाया गया है तथा कषाय की अपेक्षा से जीवसंख्या का विचार किया गया है। ज्ञानमार्गणा में निम्नोक्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है : ज्ञान का लक्षण, पाँच ज्ञानों का क्षायोपशमिक व क्षायिकरूप से विभाग, मिथ्याज्ञान का कारण, मिश्रज्ञान का कारण, तीन मिथ्याज्ञानों का स्वरूप, मतिज्ञान का स्वरूप, श्रुतज्ञान का लक्षण, श्रुतज्ञान के भेद, अवधिज्ञान का स्वरूप, अवधि का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से वर्णन, मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप व भेद, केवलज्ञान का स्वरूप, ज्ञानमार्गणा में जीवसंख्या। संयममार्गणा में निम्न विषय हैं : संयम का स्वरूप, संयम के पाँच भेद, संयम की उत्पत्ति, सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहारविशुद्धि संयम, सूक्ष्मसाम्पराय संयम, यथाख्यात संयम, देशविरत, असंयत, संयम की अपेक्षा से जीवसंख्या। दर्शनमार्गणा में दर्शन का लक्षण बताते हुए चक्षुर्दर्शन आदि का स्वरूप समझाया गया है एवं दर्शन की अपेक्षा से जीवसंख्या का प्रतिपादन किया गया है। लेश्यामार्गणा में निम्नोक्त १६ दृष्टियों से लेश्याओं का विचार किया गया है : १. निर्देश, २. वर्ण, ३. परिणाम, ४. संक्रम, ५. कर्म, ६. लक्षण, ७. गति, ८. स्वामी, ९. साधन, १०. संख्या, ११. क्षेत्र, १२. स्पर्श, १३. काल, १४. अन्तर, १५. भाव, १६. अल्पबहुत्व। भव्यमार्गणा में भव्य, अभव्य एवं भव्यत्वाभव्यत्वरहित जीव का स्वरूप बताते हुए तत्सम्बन्धी जीवसंख्या का प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए निम्न विषयों का निरूपण किया गया है : षड्द्रव्य, पचास्तिकाय, नव पदार्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्वग्रहण के योग्य जीव, सम्यक्त्वमार्गणा में जीवसंख्या। संज्ञिमार्गणा में संज्ञी-असंज्ञी का स्वरूप बताते हुए तद्गत जीवसंख्या का विचार किया गया है। आहारमार्गणा में निम्न बातों का निरूपण है : आहार का स्वरूप,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारक-अनाहारक का अन्तर, समुद्घात के भेद, आहारक व अनाहारक का काल-प्रमाण, आहारमार्गणा में जीवसंख्या।

उपयोग प्रकरण में उपयोग का लक्षण बताते हुए साकार एवं अनाकार उपयोग का विवेचन किया गया है।

अन्तिम गाथा में आचार्य ने गोम्मटराय को आशीर्वाद दिया है :

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

कर्मकाण्ड—गोम्मटसार के द्वितीय भाग कर्मकाण्ड में कर्मसम्बन्धी निम्नोक्त नौ प्रकरण हैं : १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. बन्धोदयसत्त्व, ३. सत्त्वस्थानभंग, ४. त्रिचूलिका, ५. स्थानसमुत्कीर्तन, ६. प्रत्यय, ७. भावचूलिका. ८. त्रिकरण-चूलिका, ९. कर्मस्थितिरचना।

सर्वप्रथम आचार्य ने तीर्थंकर नेमि को नमस्कार किया है तथा प्रकृतिसमुत्कीर्तन प्रकरण का कथन करने का संकल्प किया है :

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविभूषणं महावीरं।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥ १ ॥

प्रकृति समुत्कीर्तन प्रकरण में निम्न विषय हैं : कर्मप्रकृति का स्वरूप, कर्म-नोकर्म ग्रहण करने का कारण, कर्म-नोकर्म के परमाणुओं की संख्या, कर्म के भेद, घाति-अघातिकर्म, बन्धयोग्य प्रकृतियाँ, उदयप्रकृतियाँ, सत्त्वप्रकृतियाँ, घाती कर्मों के भेद, अघाती कर्मों के भेद, कषायों का कार्य, पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ, भवविपाकी-क्षेत्रविपाकी-जीवविपाकी प्रकृतियाँ, नामादि चार निक्षेपों से कर्म के भेद।

बन्धोदयसत्त्व प्रकरण के प्रारम्भ में पुनः तीर्थंकर नेमि को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण में निम्नोक्त विषयों का प्रतिपादन हुआ है : कर्म की बन्ध-अवस्था के भेद, प्रकृतिबन्ध व गुणस्थान, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति, स्थितिबन्ध का स्वरूप, स्थिति के उत्कृष्टादि भेद, स्थिति की आबाधा, उदय की आबाधा, उदीरणा की आबाधा, कर्मों का निषेक, अनुभाग-बन्ध का स्वरूप, अनुभाग के उत्कृष्टादि भेदों के स्वामी, प्रदेशबन्ध का स्वरूप, कर्मप्रदेशों का मूलप्रकृतियों में विभाजन, कर्मप्रदेशों का उत्तरप्रकृतियों में विभाजन, प्रदेशबन्ध के उत्कृष्टादि भेद, योगस्थानों का स्वरूप-संख्याभेद-स्वामी, कर्मों का उदय व उदयव्युच्छित्ति, उदय-अनुदयप्रकृतियों की संख्या, उदयप्रकृतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उदीरणा से विशेषता, उदीरणा की व्युच्छित्ति, उदीरणा-अनुदीरणाप्रकृतियों की संख्या, सत्त्वप्रकृतियों का स्वरूप, सत्त्वव्युच्छित्ति, सत्त्व-असत्त्व प्रकृतियों की संख्या। प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में भी मंगलाचरण किया गया है।

सत्त्वस्थानभंग प्रकरण के प्रारम्भ में तीर्थंकर वर्धमान को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण में निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन है: आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से गुणस्थानों में सत्त्वस्थान, मिथ्यात्वगुणस्थान के स्थानों की प्रकृतियाँ, मिथ्यात्वगुणस्थान में भंगसंख्या, सासादनादि गुणस्थानों में स्थान और भंगों की संख्या। प्रकरण के अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है कि श्रेष्ठ इन्द्रनन्दि गुरु के पास सकल सिद्धान्त सुनकर श्री कनकनन्दि गुरु ने सत्त्वस्थान का सम्यक् कथन किया है। जैसे चक्रवर्ती (भरत) ने अपने चक्ररत्न से (भारत के) छः खण्डों पर निर्विघ्न अधिकार किया था वैसे ही मैंने अपने बुद्धिचक्र से षट्खण्डागम पर अच्छी तरह अधिकार किया है:

वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥ ३९६ ॥
जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥

त्रिचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ में जिनेन्द्रदेवों को नमस्कार किया गया है तथा त्रिचूलिका प्रकरण के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। इस प्रकरण में निम्नोक्त तीन चूलिकाओं का व्याख्यान किया गया है: नवप्रश्नचूलिका, पंचभागहारचूलिका और दशकरणचूलिका। दशकरणचूलिका के व्याख्यान के प्रारम्भ में आचार्य ने अपने श्रुतगुरु अभयनन्दि को नमस्कार किया है:

जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ४३६ ॥

स्थानसमुत्कीर्तन प्रकरण के प्रारम्भ में आचार्य ने नेमिनाथ को प्रणाम किया है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्न विषयों का विवेचन है: गुणस्थानों में प्रकृतिसंख्यासहित बन्धादिस्थान, उपयोग-योग-संयम-लेश्या-सम्यक्त्व की अपेक्षा से मोहनीय कर्म के उदयस्थानों तथा प्रकृतियों की संख्या, मोहनीय कर्म के सत्त्वस्थान, नाम कर्म के जीवपद, नाम कर्म के बन्धादिस्थान तथा भंग, बन्ध-उदय-सत्त्व के त्रिसंयोगी भंग, जीवसमासों की अपेक्षा से बन्ध-उदय-सत्त्वस्थान, मार्गणाओं की अपेक्षा से बन्ध-उदय-सत्त्वस्थान, एक आधार और दो आधेयों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा से बन्धादिस्थान, दो आधारों व एक आधेय की अपेक्षा से बन्धादिस्थान।

प्रत्यय प्रकरण के प्रारम्भ में आचार्य ने मुनि अभयनन्दि, गुरु इन्द्रनन्दि तथा स्वामी वीरनन्दि को प्रणाम किया है :

णमिऊण अभयणंदिं सुदसायरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं॥ ७८५॥

इसके बाद आस्रवों का भेदसहित स्वरूप बताते हुए मूलप्रत्ययों और उत्तरप्रत्ययों का कथन किया है तथा प्रत्ययों की व्युच्छित्ति एवं अनुदय व कर्मों के बन्ध के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डाला है।

भावचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ में गोम्मट जिनेन्द्रचन्द्र को प्रणाम किया गया है :

गोम्मटजिणिंदचंदं पणमिय गोम्मटपयत्थसंजुत्तं।
गोम्मटसंगहविसयं भावगयं चूलियं वोच्छं॥ ८११॥

इसके बाद भावविषयक निम्न बातों का विचार किया गया है : भेदसहित भावों के नाम, भावों की उत्पत्ति का कारण, भावों के स्थानभंग और पदभंग, एकान्तमत के विविध भेद।

त्रिकरणचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने आचार्य वीरनन्दि एवं गुरु इन्द्रनन्दि को प्रणाम करने के लिए कहा है :

णमह गुणरयणभूसण सिद्धंतामियमहद्धिभवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं॥ ८९६॥

प्रस्तुत प्रकरण में निम्नलिखित तीन करणों का विवेचन किया गया है : अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण।

कर्मस्थितिरचना प्रकरण के प्रारम्भ में सिद्धों को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण में निम्नोक्त विषयों का प्रतिपादन है : कर्मस्थितिरचना के प्रकार, कर्मस्थितिरचना की अंकसंदृष्टि, कर्मस्थितिरचना की अर्थदृष्टि, सत्तारूप त्रिकोण यंत्ररचना, स्थिति के भेद, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, रसबन्धाध्यवसायस्थान।

ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्तिपरक आठ गाथाएँ हैं जिनमें ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताते हुए मुनि अजितसेन का सादर स्मरण किया गया है, गोम्मटराय (चामुण्डराय) को आशीर्वाद दिया गया है तथा गोम्मटरायकृत गोम्मटसार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशी अर्थात् कर्णाटकी वृत्ति का उल्लेख किया गया है। ये गाथाएँ इस प्रकार हैं :

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥ ९६५ ॥
जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥ ९६६ ॥
सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचंदकरकलिया।
गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥ ९६७ ॥
गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ ॥ ९६८ ॥
जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥ ९६९ ॥
वज्जयणं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ ॥ ९७० ॥
जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ९७१ ॥
गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी ॥ ९७२ ॥

कर्मप्रकृति—यह १६१ गाथाओं का एक संग्रहग्रन्थ[1] है जो प्रायः गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य की कृति समझा जाता है। इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग गोम्मटसार की गाथाओं से निर्मित हुआ है। इसमें गोम्मटसार की १०२ गाथाएँ ज्यों-की-त्यों उद्धृत हैं।

गोम्मटसार की व्याख्याएँ :

गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय—चामुण्डराय ने कर्णाटक—कन्नड़ में वृत्ति लिखी। इस वृत्ति का अवलोकन स्वयं नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने किया।

१. यह ग्रन्थ पं० हीरालाल शास्त्री द्वारा सम्पादित-अनूदित होकर भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में तीन टीकाएँ सम्मिलित हैं : १. मूलगाथाओं के साथ ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्त्ति की संस्कृत टीका, २. अज्ञात आचार्यकृत संस्कृत टीका, ३. संस्कृत टीकागर्भित पं० हेमराजरचित भाषा टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वृत्ति के आधार पर केशववर्णी ने संस्कृत में टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका बनाई। इन दोनों संस्कृत टीकाओं के आधार पर पं० टोडरमल्ल ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक हिन्दी टीका लिखी। इन टीकाओं के आधार पर जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद पं० खूबचन्द्र ने तथा कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद पं० मनोहरलाल ने किया है। श्री जे० एल० जैनी ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) :

क्षपणासारगर्भित लब्धिसार[1] भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की ही कृति है। गोम्मटसार में जीव व कर्म के स्वरूप का विस्तृत विवेचन है जब कि लब्धिसार में कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन है। लब्धिसार में ६४९ गाथाएँ हैं जिनमें २६१ गाथाएँ क्षपणासार की हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं: दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिकचारित्र। इनमें से क्षायिकचारित्र प्रकरण क्षपणासार के रूप में स्वतंत्र ग्रन्थ भी गिना जाता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने सिद्धों, अर्हन्तों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं साधुओं को वन्दन किया है तथा सम्यग्दर्शनलब्धि व सम्यक्चारित्रलब्धि के प्ररूपण का संकल्प किया है। दर्शनलब्धि प्रकरण में निम्नोक्त पाँच लब्धियों का विवेचन है: १. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि, ५ करणलब्धि। चारित्रलब्धि प्रकरण में देशचारित्र व सकलचारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसमें उपशमचारित्र का विस्तृत विवेचन है। क्षायिकचारित्र प्रकरण अर्थात् क्षपणासार में चारित्रमोह की क्षपणा (क्षय) का विधान करते हुए अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तकरण का स्वरूप समझाया गया है। इसमें निम्न विषयों का भी निरूपण है: संक्रमण, कृष्टिकरण, कृष्टिवेदन, समुद्घात, मोक्षस्थान। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार आचार्य ने अपना नाम नेमिचन्द्र बताया है तथा अपने को (ज्ञानदाता) वीरनन्दि व इन्द्रनन्दि का वत्स एवं (दीक्षादाता) अभयनन्दि का शिष्य कहा है और अपने गुरु को नमस्कार किया है:

---

१. (अ) पं० मनोहरलालकृत हिन्दी अनुवादसहित—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, सन् १९१६.
(आ) केशववर्णीकृत संस्कृत टीका व टोडरमल्लकृत हिन्दी टीका के साथ—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण ।
दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचंदेण ॥ ६४८ ॥
जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ६४९ ॥

लब्धिसार की व्याख्याएँ :

लब्धिसार पर दो टीकाएँ हैं : केशववर्णीकृत संस्कृत टीका और टोडरमल्ल-कृत हिन्दी टीका। संस्कृत टीका चारित्रलब्धि प्रकरण तक ही है। हिन्दी टीका-कार टोडरमल्ल ने चारित्रलब्धि प्रकरण तक तो संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया किन्तु क्षायिकचारित्र प्रकरण अर्थात् क्षपणासार का व्याख्यान माधवचन्द्रकृत संस्कृत गद्यात्मक क्षपणासार के अनुसार किया।

पंचसंग्रह :

अमितगतिकृत पंचसंग्रह[1] संस्कृत गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० सं० १०७३ में हुई। यह गोम्मटसार का संस्कृत रूपान्तर-सा है। इसके पाँचों प्रकरणों की श्लोक-संख्या १४५६ है। लगभग १००० श्लोक-प्रमाण गद्यभाग है।

प्राकृत पंचसंग्रह[2] के मूलग्रन्थकर्ता तथा भाष्यगाथाकार के नाम एवं समय दोनों ही अज्ञात हैं। इसकी गाथा-संख्या १३२४ है। गद्यभाग लगभग ५०० श्लोक-प्रमाण है।

●

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९२७.

२. संस्कृत टीका, प्राकृत वृत्ति तथा हिन्दी अनुवादसहित—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६० (सम्पादक—पं० हीरालाल जैन). ग्रन्थ के अन्त में श्रीपालसुत डड्ढविरचित संस्कृत पंचसंग्रह भी दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमिक प्रकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम प्रकरण

आगमिक प्रकरणों का उद्भव

समग्र जैन वाङ्मय के आगमिक और आगमेतर इस प्रकार दो विभाग किये जा सकते हैं। आगमिक साहित्य अर्थात् आगम और उनसे सम्बद्ध व्याख्यात्मक ग्रन्थ। इनसे भिन्न साहित्य 'आगमेतर' है और वह आगमों की भाँति 'आगमप्रविष्ट' नहीं, किन्तु 'आगमबाह्य' है।

आगमों के आधार पर रचित प्रकरणों को इस विभाग में 'आगमिक प्रकरण' कहा गया है। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के भी ग्रन्थों का समावेश आगमिक प्रकरणों में किया गया है। यह समग्र वाङ्मय आगमेतर साहित्य का एक भाग है।

जैन आगमों में दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) नामक बारहवें अंग का महत्त्व एवं विशालता की दृष्टि से अग्र स्थान है; इसमें भी उसका पुव्वगय (पूर्वगत) नामक उपविभाग विशेष महत्त्व का है। इसके पुव्व (पूर्व) नाम के उपविभाग और पुव्व के पाहुड (प्राभृत) के नाम से प्रसिद्ध अनुविभागों में से कतिपय प्राभृतों के नाम का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अमुक-अमुक विषय से सम्बद्ध निबन्ध के समान निरूपण होगा। इस समय 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है, अतः उसमें आये हुए प्रकरणों के बारे में कुछ कहने योग्य रहता ही नहीं है।

'पूर्वगत' की रचना के अनन्तर आयार (आचार) आदि ग्यारह अंगों की तथा कालान्तर में इतर आगमों की रचना हुई। इनमें से जिन विभिन्न पइण्णगों (प्रकीर्णकों) की रचना हुई वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु वे (उपलब्ध और अनुपलब्ध प्रकीर्णक) प्राभृत आदि की रचना के पश्चात् लिखित आगमिक प्रकरणों के उद्भव का आदि-काल अवश्य सूचित करते हैं।

उपलब्ध आगमों में 'उत्तरज्झयण' (उत्तराध्ययन) के कई अध्ययन और 'पण्णवणा' (प्रज्ञापना) का प्रत्येक पय (पद) एक-एक विषय का क्रमबद्ध निरू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पण करते हैं और इस प्रकार प्रकरण में कैसा निरूपण होना चाहिये इसका बोध कराते हैं।

आगमिक प्रकरणों की रचना क्यों हुई यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। विचार करने पर इसके निम्नलिखित कारण प्रतीत होते हैं :

१. आगमों का पठन-पाठन सामान्य कक्षा के लोगों के लिए दुर्गम ज्ञात होने पर उन आगमों के साररूप से भिन्न-भिन्न कृतियों की रचना का होना स्वाभाविक है। इस तरह रचित कृतियों को 'आगमिक प्रकरण' कहते हैं।

२. बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि आगमों में कई विषय इधर-उधर बिखरे हुए होते हैं। ऐसे विषयों में से कुछ तो महत्त्व के होते ही हैं; अतः वैसे विषयों के सुसंकलित और सुव्यवस्थित निरूपण की आवश्यकता रहती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुसम्बद्ध प्रकरण रचे जाने चाहिये, और ऐसा हुआ भी है।

३. आगमों में आनेवाले विषय सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें इसलिए उनकी रचना पद्य में होनी चाहिये, किन्तु आगमों में आनेवाले वे सभी विषय पद्य में नहीं होते। आगमिक प्रकरणों की रचना के पीछे यह भी एक कारण है।

४. आगमों में आनेवाले गहन विषयों में प्रवेश करने के लिए प्रवेशद्वार सरीखी कृतियों की—प्रकरणों की योजना होनी चाहिये और इस दिशा में प्रयत्न भी किया गया है।

५. जैन आचार-विचार अर्थात् संस्कृति का सामान्य बोध सुगमता से हो सके, इस दृष्टि से भी आगमिक प्रकरणों का उद्भव हो सकता है और हुआ भी है।

इस तरह उपर्युक्त एक या दूसरे कारण को लेकर पूर्वाचार्यों ने आगमों के आधार पर जो सुश्लिष्ट एवं सांगोपांग प्रकरण पाइय (प्राकृत) में और वह भी पद्य में लिखे वे 'आगमिक प्रकरण' कहे जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आगमिक प्रकरण प्राकृत पद्य में लिखे गये, परन्तु कालान्तर में संस्कृत में पद्य एवं गद्य उभयरूप में उनकी रचना हुई। स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदायों में 'थोकड़ा' (स्तबक) के नाम से प्रसिद्ध साहित्य आगमिक प्रकरणों की मानो गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं में रचित आवृत्तियाँ ही हैं। उनमें जीव, कर्म, लोक, द्वीप, ध्यान इत्यादि विषयों के बारे में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगमों में आनेवाले विचारों का संकलन किया जाता है। इस प्रकार उनमें विचारों का संग्रह—'थोक' होने से उनका 'थोकड़ा' नाम सार्थक प्रतीत होता है।

विषय की दृष्टि से आगमिक प्रकरणों के मुख्य दो विभाग किये जा सकते हैं : (१) तात्त्विक यानी अधिकांश में द्रव्यानुयोग और कभी-कभी गणितानुयोग-सम्बन्धी विचारों के निरूपक प्रकरण और (२) आचार अर्थात् चरणकरणानुयोग के निरूपण से सम्बद्ध प्रकरण।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय प्रकरण
आगमसार और द्रव्यानुयोग

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ :

द्राविड़ भाषा में कोण्डकुन्ड के नाम से प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा क एक अग्रगण्य एवं सम्माननीय मुनिवर तथा ग्रन्थकार हैं। बोधपाहुड के अन्तिम पद्य के आधार पर कई लोग इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का शिष्य मानते हैं, परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। इसी प्रकार शिवभूति के शिष्य होने की कतिपय श्वेताम्बरों की कल्पना भी समीचीन नहीं है। दिगम्बर ग्रन्थों में इनका विविध नामों से उल्लेख मिलता है; जैसे—पद्मनन्दी, गृध्रपिच्छ, वक्रग्रीव और एलाचार्य; किन्तु इन नामों की तथ्यता शंकास्पद है। कुन्दकुन्दाचार्य कब हुए इस बारे में कोई स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने स्त्री-मुक्ति तथा जैन साधुओं की सचेलकता जैसे श्वेताम्बरीय मन्तव्यों का जिस उग्रता से निरसन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैसे स्पष्ट दो वर्ग ७८ ई० के आसपास हो जाने के पश्चात् ये हुए हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध सभी ग्रन्थ प्राकृत पद्य में हैं,[१] अर्थात् उनका एक भी ग्रन्थ न तो गद्य में है और न संस्कृत में। पवयणसार[२] (प्रवचनसार)

---

१. दसभत्ति में गद्यात्मक अंश हैं, परन्तु उसके कुन्दकुन्द की मौलिक रचना होने में सन्देह है।

२. यह कृति अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदोपिका नाम की संस्कृत वृत्ति, जयसेनसूरिकृत तात्पर्यवृत्ति, हेमराज पाण्डे की विक्रम संवत् १७०९ में लिखी गयी हिन्दी 'बालबोधिनी' (भाषा टीका), डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के मूल अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावना आदि के साथ 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' में १९३५ ई० में प्रकाशित हुई है। अमृतचन्द्रसूरि की उपर्युक्त टीका तथा गुजराती अनुवाद आदि के साथ इसकी एक आवृत्ति 'जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट' सोनगढ़ की ओर से भी १९४८ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत के एक प्रकार जैन शौरसेनी में आर्या छन्द में रचित कृति है। इसकी दो वाचनाएँ मिलती हैं। इनमें से एक अमृतचन्द्र ने अपनी वृत्ति में अपनाई है, तो दूसरी जयसेन, बालचन्द्र[1] आदि ने अपनी-अपनी टीका में ली है। पहली वाचना में कुल २७५ पद्य हैं। तीन श्रुतस्कन्धों में विभक्त इसके प्रत्येक स्कन्ध में क्रमशः ९२, १०८ और ७५ गाथाएँ हैं और इनमें ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व तथा चरणतत्त्व का निरूपण किया गया है। दूसरी वाचना इससे बड़ी है। इसके तीन अधिकारों में क्रमशः १०१, ११३ और ९७ (कुल ३११) पद्य हैं।

पवयणसार, पंचत्थिकायसंगहसुत्त अथवा पंचत्थिकायसार और समयसार के समूह को प्राभृतत्रय' भी कहते हैं। यह वेदान्तियों के प्रस्थानत्रय[2] की याद दिलाता है।

प्रवचनसार :

पवयणसार का प्रारम्भ पंचपरमेष्ठी के नमस्कार से होता है। उसमें निम्नलिखित बातों का सन्निवेश किया गया है :

प्रथम अधिकार—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का मोक्षमार्ग के रूप में उल्लेख, चारित्र का धर्म के रूप में निर्देश, धर्म का शम के साथ ऐक्य और शम का लक्षण, द्रव्य का लक्षण, जीव के शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम, शुद्ध उपयोग वाले जीव को निर्वाण की और शुभ उपयोग वाले जीव को स्वर्ग की प्राप्ति, अशुभ परिणाम का दुःखदायी फल, सर्वज्ञ का स्वरूप, 'स्वयम्भू' शब्द की व्याख्या, ज्ञान द्वारा सर्वव्यापिता, श्रुतकेवली, सूत्र और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा क्षायिक ज्ञान की व्याख्या, तीर्थंकरों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, द्रव्यों की तथा प्रत्येक द्रव्य के पर्यायों की अनन्तता, पुद्गल का लक्षण, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान का स्पष्टीकरण, सिद्ध परमात्मा की सूर्य के साथ तुलना, इन्द्रियजन्य सुख की असारता, तीर्थंकर के समग्र स्वरूप के बोध से आत्मज्ञान तथा मोह के लिंग।

द्वितीय अधिकार—द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण और स्वरूप तथा इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध, सप्तभंगी का सूचन, जीवादि पाँच अस्तिकाय

---

१. इनकी टीका कन्नड़ भाषा में है।

२. प्रस्थानत्रय में वैदिक धर्म के मूलरूप उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का समावेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और काल का निरूपण, परमाणु और प्रदेश की स्पष्टता, प्रमेय का लक्षण, नाम-कर्म का कार्य, स्कन्धों की उत्पत्ति, शुद्ध आत्मा का स्वरूप, बन्ध की व्याख्या और ममत्व का अभाव।

तृतीय अधिकार—जैन श्रमण के अचेलकता आदि बाह्य और परिग्रहत्याग आदि आभ्यन्तर लिंग, श्रमण के मूल गुण, छेदोपस्थापक मुनि, निर्यापक श्रमण, अप्रमत्तता, श्रमणों का आहार, स्वाध्याय का महत्त्व, आदर्श श्रमणता, शुभ उपयोग में विद्यमान श्रमणों की प्रवृत्ति, गुणाधिक श्रमणों की सम्मानविधि और शुद्ध जीव का स्वरूप।

सोलहवीं गाथा में केवलज्ञान आदि गुण प्राप्त करनेवाले को 'स्वयम्भू' कहा है, क्योंकि अन्य किसी द्रव्य की सहायता के बिना वह अपने स्वरूप को प्रकट करता है; वह स्वयं छः कारकरूप बनकर अपनी सिद्धि प्राप्त करता है। सिद्धसेन दिवाकर ने प्रथम द्वात्रिंशिका के पहले श्लोक में और समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में 'स्वयम्भू' शब्द प्रयुक्त किया है।

अधिकार १, गाथा ५७-८ में प्रत्यक्ष और परोक्ष की जो व्याख्या दी गई है वह न्यायावतार (श्लोक ४) का स्मरण कराती है। अधि० १, गा० ४६ में और सन्मतिप्रकरण (काण्ड १, गा० १७-८) में एकान्तवाद में संसार और मोक्ष की अनुपपत्ति एक-जैसी दिखलाई गई है।[1] कुन्दकुन्द ने द्रव्य की चर्चा जिस तरह अनेकान्त दृष्टि से की है उसी तरह सिद्धसेन ने सन्मतिप्रकरण के तीसरे काण्ड में ज्ञेय के विषय में की है।[2]

व्याख्याएँ—पवयणसार पर संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी में व्याख्याएँ हैं। संस्कृत व्याख्याओं में अमृतचन्द्र की वृत्ति सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ लिखे हैं तथा समयसार और पंचत्थिकायसंगह पर टीकाएँ लिखी हैं। अमृतचन्द्र का समय ईसा की दसवीं सदी के लगभग है। इनकी वृत्ति का नाम तत्त्वदीपिका है।

दूसरी संस्कृत टीका जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति है। इसमें टीकाकार ने पंचत्थिकायसंगह की टीका का निर्देश किया है।[3] दार्शनिक विषयों के निरूपण में ये

१. समन्तभद्र ने भी ऐसा ही किया है। देखिए—स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १४.
२. देखिए—सन्मतिप्रकरण का गुजराती परिचय, पृ० ६२.
३. देखिए—पृ० १२१, १६२ और १८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमृतचन्द्र का अनुसरण करते हैं और उनकी वृत्ति का भी उपयोग करते हैं। जयसेन का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के आसपास है।

प्रभाचन्द्रकृत सरोजभास्कर[1] पवयणसार की तीसरी टीका है। इसकी रचना समयसार की बालचन्द्रकृत टीका के बाद हुई है। इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन्होंने दव्वसंगह (द्रव्यसंग्रह) की टीका लिखी है और आठ पाहुडों पर पंजिका लिखी थी ऐसा भी कई लोगों का मानना है।

मल्लिषेण नामक किसी दिगम्बर ने इस पर संस्कृत में टीका लिखी थी ऐसा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वर्धमान ने भी एक वृत्ति लिखी है।

बालावबोध—हेमराज पाण्डे ने वि० सं० १७०९ में हिन्दी में बालावबोध लिखा है और इसके लिए उन्होंने अमृतचन्द्र की टीका का उपयोग किया है। इस बालावबोध की प्रशस्ति में शाहजहाँ का उल्लेख आता है। पद्ममन्दिरगणी ने भी वि० सं० १६५१ में एक बालावबोध लिखा है।

समयसार :

यह[2] कुन्दकुन्दाचार्य की जैन शौरसेनी पद्य में (मुख्यतः आर्या में) रचित एक महत्त्व की कृति है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी जैसे श्वेताम्बर विद्वानों की दृष्टि में भी यह एक सम्मान्य ग्रन्थ है। इसकी भी दो वाचनाएँ मिलती हैं: एक में ४१५ पद्य हैं, तो दूसरी में ४३९ हैं। अमृतचन्द्र ने समग्र कृति को नौ अंकों में विभक्त किया है। प्रारम्भ की ३८ गाथाओं तक के भाग को उन्होंने पूर्व-रंग कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्य की उपलब्ध सभी कृतियों में समयसार सबसे बड़ी कृति है। इसमें जीव आदि नौ तत्त्वों की शुद्ध निश्चयनयानुसारी प्ररूपणा को अग्रस्थान दिया गया है। इस शुद्ध निश्चयनय को समझने के लिए व्यवहारनय की आवश्य-

---

१. इसे प्रवचनसरोजभास्कर भी कहते हैं।

२. यह रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में १९१९ में प्रकाशित हुआ है। अंग्रेजी अनुवाद के साथ Sacred Books of the Jainas सिरीज़ में १९३० में, तथा अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओं के साथ 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' बनारस में भी १९४४ में यह छप चुका है। इनके अतिरिक्त श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह का गुजराती पद्यात्मक अनुवाद जैन अतिथि सेवा समिति, सोनगढ़ की ओर से १९४० में प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कता है—ऐसा इसमें (गा० ७ इत्यादि) कहा गया है। इस कृति में कई विषयों की पुनरावृत्ति देखी जाती है। इसमें अधोलिखित विषय आते हैं :

जीव के स्वसमय और परसमय की विचारणा,[1] ज्ञायक भाव अप्रमत्त या प्रमत्त नहीं हैं ऐसा विधान, भूतार्थ अर्थात् शुद्ध नय द्वारा जीव आदि नौ तत्त्वों का बोध ही सम्यग्दर्शन, जो नय आत्मा को बन्धरहित, पर से अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, विशेषरहित और असंयुक्त देखता है वह शुद्ध नय, साधु द्वारा रत्नत्रय की आराधना, प्रत्याख्यान का ज्ञान के रूप में उल्लेख, भूतार्थ का आश्रय लेनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि, कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान में भेद, व्यवहारनय के अनुसार सब अध्यवसाय आदि का जीव के रूप में निर्देश, जीव का अरस, अरूप आदि वर्णन, बन्ध का कारण, जीव के परिणामरूप निमित्त से पुद्गलों का कर्म के रूप में परिणमन, जीव का पुद्गल-कर्म के निमित्त से परिणमन, निश्चयनय के अनुसार आत्मा का अपना ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व, मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान का अजीव एवं जीव के रूप में उल्लेख, पुद्गल-कर्म का कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी नहीं है ऐसा कथन, बन्ध के मिथ्यात्व आदि चार हेतु, इन हेतुओं के मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक के तेरह भेद, सांख्य-दर्शन की पुरुष एवं प्रकृतिविषयक मान्यता का निरसन, जीव में उसके प्रदेशों के साथ कर्मबद्ध एवं स्पृष्ट हैं ऐसा व्यवहारनय का मन्तव्य और अबद्ध एवं अस्पृष्ट हैं ऐसा निश्चयनय का मन्तव्य, कर्म के शुभ एवं अशुभ दो प्रकार, ज्ञानी को द्रव्य-आस्रवों का अभाव, संवर का उपाय, ज्ञान और वैराग्य की शक्ति, सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि आठ गुणों का निश्चयनय के अनुसार निरूपण, अज्ञानमय अध्यवसाय का बन्ध के कारण के रूप में निर्देश, मात्र व्यवहारनय के आलम्बन की निरर्थकता, अभव्य के धर्माचरण के हेतु के रूप में भोग की प्राप्ति, आत्मा का प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण, विषकुम्भ के प्रतिक्रमण आदि और अमृतकुम्भ के अप्रतिक्रमण आदि आठ-आठ प्रकार, आत्मा का कथंचित् कर्तृत्व और भोक्तृत्व, खड़िया मिट्टी के दृष्टान्त द्वारा निश्चयनय और व्यवहारनय का स्पष्टी-करण, द्रव्यलिंग के स्वीकार का कारण व्यवहारनय तथा अज्ञानियों की—आत्मा का सत्य स्वरूप नहीं जाननेवालों की 'जीव किसे कहना' इस विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ (जैसे—कोई अज्ञानी अध्यवसाय को, कोई कर्म को, कोई अध्यव-

---

१. यहाँ इन दोनों शब्दों का आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थ किया गया है, परन्तु सन्मतिप्रकरण (का० ३, गा० ४७ और ६७) में इनका 'दर्शन' के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सायों के तीव्र आदि अनुभाग को, कोई नोकर्म को, कोई कर्म के उदय को, कोई तीव्रता आदि गुणों से भिन्न प्रतीत होनेवाले को, कोई जीव और अजीव के मिश्रण को तथा कोई कर्म के संयोग को जीव मानता है)।

जैसे सुवर्ण अग्नि में तपाने पर भी अपना सुवर्णत्व नहीं छोड़ता, वैसे कर्म के उदय से तप्त होने पर भी ज्ञानी ज्ञानीपना नहीं छोड़ता—ऐसा १८४ वें पद्य में कहा है।

जैसे विष खाने पर भी (विष) वैद्य नहीं मरता, वैसे पुद्‌गल-कर्म के उदय का भोग करने पर भी ज्ञानी कर्म से नहीं बँधता (१९५)।

८५ वें पद्य में कहा है कि यदि आत्मा पुद्‌गल-कर्म का कर्ता बने और उसी का भोग करे तो वह इन दो क्रियाओं से अभिन्न सिद्ध हो और यह बात तो जैन सिद्धान्त को मान्य नहीं है।

टीकाएँ—इस पर अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नाम की टीका लिखी है। इसमें २६३ पद्य का एक कलश है।[1] इस टीका के अन्त में, समग्र मूल कृति का स्पष्टीकरण उपस्थित करने के उपरान्त, परिशिष्ट के रूप में निम्नलिखित बातों पर विचार प्रस्तुत किया है :

१. आत्मा के अनन्त धर्म हैं। इस ग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य ने उसे मात्र ज्ञान-रूप कहा है, तो क्या इसका स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता ?

२. ज्ञान में उपायभाव एवं उपेयभाव दोनों कैसे घट सकते हैं ?

इस टीका में उन्होंने पवयणसार की स्वोपज्ञ टीका का निर्देश किया है।

जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति[2] नाम की टीका संस्कृत में लिखी है। इनके अतिरिक्त इस पर टीका लिखनेवालों के नाम इस प्रकार हैं : प्रभाचन्द्र, नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र, विशालकीर्ति और जिनमुनि। इस पर एक अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका भी है।

---

१. इस कलश पर शुभचन्द्र ने संस्कृत में तथा रायमल्ल और जयचन्द्र ने एक-एक टीका हिन्दी में लिखी है।
२. इसमें पंचत्थिकायसंगह की अपनी टीका का उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियमसार :

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित यह पद्यात्मक कृति[1] भी जैन शौरसेनी में है। इसमें १८७ गाथाएँ हैं और टीकाकार पद्मप्रभ मलधारीदेव के मतानुसार यह बारह अधिकारों में विभक्त है। अनन्त सुख की इच्छावाले को कौन-कौन से नियम पालने चाहिए यह यहाँ दिखलाया गया है। नियम अर्थात् अवश्य करणीय। अवश्य करणीय से यहाँ अभिप्रेत है सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय। इसमें 'परमात्म' तत्त्व का अवलम्बन लेने का उपदेश दिया गया है। यही तत्त्व अन्तस्तत्त्व, कारणपरमात्मा, परम पारिणामिक भाव इत्यादि नाम से भी कहा जाता है।[2]

नियमसार में निम्नलिखित विषयों की चर्चा की गई है :

आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व की उत्पत्ति, अठारह दोषों का उल्लेख, आगम यानी परमात्मा के मुख में से निकला हुआ शुद्ध वचन, जीव आदि छः तत्त्वार्थ, ज्ञान एवं दर्शनरूप उपयोग के प्रकार, स्वभाव-पर्याय एवं विभाव-पर्याय, मनुष्य आदि के भेद, व्यवहार एवं निश्चय से कर्तृत्व और भोक्तृत्व, पुद्गल आदि अजीव पदार्थों का स्वरूप, हेय एवं उपादेय तत्त्व, शुद्ध जीव में बन्ध-स्थान, उदय-स्थान, क्षायिक आदि चार भावों के स्थान, जीव-स्थान और मार्गणा-स्थान का अभाव, शुद्ध जीव का स्वरूप, संसारी जीव का सिद्ध परमात्मा से अभेद, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की व्याख्या, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत की, ईर्या आदि पाँच समिति की तथा व्यवहार एवं निश्चय-नय की अपेक्षा से मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति की स्पष्टता, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, भेद-विज्ञान के द्वारा निश्चय-चारित्र की प्राप्ति, निश्चय-नय के अनुसार प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, चतुर्विध आलोचना, प्रायश्चित्त, परम समाधि (सामायिक) एवं

---

१. पद्मप्रभ की संस्कृत टीका तथा श्री शीतलप्रसादजी कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' की ओर से वि० सं० १९७२ में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त Sacred Books of the Jainas सिरीज़ में आरा से इसका अंग्रेजी अनुवाद तथा श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद आदि के साथ 'जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट' सोनगढ़ से भी यह प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए—गुजराती अनुवादवाली आवृत्ति का उपोद्घात, पृ० ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम भक्ति[१] का निरूपण, निश्चयनय के अनुसार आवश्यक कर्म[२], आभ्यन्तर और बाह्य जल्प, बहिरात्मा और अन्तरात्मा, व्यवहार एवं निश्चयनय के अनुसार सर्वज्ञगता,[3] केवलज्ञानी में ज्ञान और दर्शन का एक ही समय में सद्भाव,[४] सिद्ध का स्वरूप तथा सिद्ध होनेवाले की गति और उसका स्थान।

इसमें प्रतिक्रमण आदि जो आवश्यक गिनाये गये हैं उनकी अपेक्षा मूलाचार में भेद है। उसमें आलोचना का उल्लेख नहीं है और परम भक्ति के बजाय स्तुति एवं वन्दना का निर्देश है।[५]

९४ वीं गाथा में पडिक्कमणसुत्त नाम की कृति का उल्लेख है। १७ वीं गाथा में कहा है कि इसका विस्तार 'लोयविभाग' से जान लेना चाहिए। सर्वनन्दी आदि द्वारा रचित 'लोयविभाग' नाम की एकाधिक कृतियाँ हैं सही, परन्तु यहाँ तो पुस्तक-विशेष के बजाय लोकविभाग का सूचक साहित्य अभिप्रेत ज्ञात होता है।

टीका—पद्मप्रभ मलधारीदेव ने संस्कृत में तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका लिखी है। इसमें उन्होंने अमृताशीति, श्रुतबन्धु और मार्गप्रकाश में से उद्धरण दिये हैं। इनके अतिरिक्त अकलंक, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, चन्द्रकीर्ति, पूज्यपाद, माधवसेन, वीरनन्दी, समन्तभद्र, सिद्धसेन और सोमदेव का भी उल्लेख आता है।

इस तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में मूल कृति को बारह श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया है। इस टीका में प्रत्येक गाथा की गद्यात्मक व्याख्या के अनन्तर पद्य भी आते हैं। ऐसे पद्य कुल ३११ हैं। गुजराती अनुवाद वाली उपर्युक्त आवृत्ति में ऐसे प्रत्येक पद्य को 'कलश' कहा है।

---

१. इस परमभक्ति के दो प्रकार हैं: १. निर्वाणभक्ति (निर्वाण की भक्ति) और २. योगभक्ति (योग की भक्ति)।
२. १२१ वीं गाथा में निश्चय से कायोत्सर्ग का निरूपण है।
३. केवली सब जानता है और देखता है यह व्यवहारनय की दृष्टि से तथा केवली अपनी आत्मा को जानता है और देखता है यह निश्चयनय की दृष्टि से सर्वज्ञता है।
४. इस विषय में सूर्य के प्रकाश और ताप का उदाहरण दिया गया है।
५. देखिए—पवयणसार का अंग्रेजी उपोद्घात, पृ० ४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचास्तिकायसार :

पंचत्थिकायसंगहसुत्त[1] (पंचास्तिकायसंग्रहसूत्र) यानी पंचत्थिकायसार[2] (पंचास्तिकायसार) के कर्ता भी कुन्दकुन्दाचार्य हैं। पद्यात्मक जैन शौरसेनी में रचित इस कृति के दो स्वरूप मिलते हैं : एक में अमृतचन्द्रकृत टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ हैं, तो दूसरे में जयसेन और ब्रह्मदेवकृत टीका के अनुसार १८१ पद्य हैं। अन्तिम पद्य में यद्यपि 'पंचत्थिकायसंगहसुत्त' नाम आता है, परन्तु दूसरा नाम विशेष प्रचार में है। इसके टीकाकार अमृतचन्द्र के मत से यह समग्र कृति दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १०४ गाथाएँ हैं, जबकि दूसरे में १०५ से १७३ अर्थात् ६९ गाथाएँ हैं। प्रारम्भ के २६ पद्य पीठबन्धरूप हैं और ६४ वीं आदि गाथाओं का निर्देश 'सिद्धान्तसूत्र' के नाम से किया गया है। सौ इन्द्रों द्वारा नमस्कृत जिनों को वन्दन करके इसका प्रारम्भ किया गया है। इसमें निम्नांकित विषय आते हैं :

समय के निरूपण की प्रतिज्ञा, अस्तिकायों का समवाय (समूह) रूप 'समय', अस्तिकाय का लक्षण, पाँच अस्तिकाय और काल का निरूपण, द्रव्य के तीन लक्षण, द्रव्य, गुण एवं पर्याय का परस्पर सम्बन्ध, विवक्षा के अनुसार द्रव्य की सप्तभंगी, जीव द्रव्य के (अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा से) भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव, व्यवहार-काल के समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर जैसे भेद, संसारी जीव का स्वरूप, सिद्ध का स्वरूप और उसका सुख, जीव का लक्षण[3], मुक्ति का स्वरूप, ज्ञान और दर्शन के प्रकार, ज्ञानी और ज्ञान का सम्बन्ध, संसारी जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व, जीव

१. यह कृति अमृतचन्द्रकृत तत्त्वदीपिका यानी समयव्याख्या नाम की संस्कृत टीका तथा हेमराज पाण्डे के बालावबोध पर से पन्नालाल बाकलीवाल-कृत हिन्दी अनुवाद के साथ 'रायचंद्र जैन ग्रन्थमाला' में १९०४ में तथा अंग्रेजी अनुवादसहित आरा से प्रकाशित हुई है। इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित इसकी दूसरी आवृत्ति में अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाएँ तथा हेमराज पाण्डे का बालावबोध छपा है। अमृतचन्द्र की टीका के साथ गुजराती अनुवाद 'दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर' से वि० सं० २०१४ में प्रकाशित हुआ है।

२. धवला में 'पंचत्थिकायसार' का उल्लेख है।

३. जो चार प्रकार के प्राणों द्वारा जीता है, जियेगा और पहले जीता था वह 'जीव' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के एक, दो ऐसे दस विकल्प, पुद्गल के स्कन्ध आदि चार प्रकार, परमाणु का स्वरूप, शब्द की पौद्गलिकता, धर्मास्तिकाय आदि का स्वरूप, रत्नत्रय के लक्षण, जीव आदि नौ तत्त्वों का निरूपण, जीव के भेद-प्रभेद, प्रशस्त राग और अनुकम्पा की स्पष्टता, व्यवहार एवं निश्चयनय की अपेक्षा से मोक्ष एवं मोक्षमार्ग की विचारणा[1] तथा जीव का स्वसमय और परसमय में प्रवर्तन।

स्वयं कर्ता ने प्रस्तुत कृति को 'संग्रह' कहा है। इसमें परम्परागत पद्य कमो-बेशरूप में संकलित किये गये हों ऐसा प्रतीत होता है। २७ वीं गाथा में जीव के जिस क्रम से लक्षण दिये हैं उसी क्रम से उनका निरूपण नहीं किया गया है। क्या संग्रहात्मकता इसका कारण होगी?

प्रस्तुत कृति की बारहवीं गाथा का पूर्वार्ध सन्मति के प्रथम काण्ड की बारहवीं गाथा के पूर्वार्ध की याद दिलात. है। पंचत्थिकायसंगह की गाथा १५ से २१ में 'सत्' और 'असत्' विषयक वादों की अनेकान्तदृष्टि से जो विचारणा की गई है वह सन्मति के तृतीय काण्ड की गाथा ५० से ५२ में देखी जाती है। इसकी २७ वीं गाथा में आत्मा का स्वरूप जैन दृष्टि से दिखलाया है; यही बात सन्मति के तीसरे काण्ड की गाथा ५४-५५ में आत्मा के विषय में छः मुद्दों का निर्देश करके कही गई है।[2] सन्मति के तीसरे काण्ड की ८ से १५ गाथाएँ कुन्दकुन्द के गुण और पर्याय की भिन्नतारूप विचार का खण्डन करनेवाली हैं ऐसा कहा जा सकता है। उसमें 'गुण' के प्रचलित अर्थ में अमुक अंश में परिवर्तन देखा जा सकता है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर अमृतचन्द्र ने तत्त्वदीपिका अथवा समयव्याख्या नाम की टीका लिखी है। इसमें टीकाकार ने कहा है कि द्रव्य में प्रतिसमय परिवर्तन होने पर भी उसके स्वभाव अर्थात् मूल गुण को अबाधित रखने का कार्य 'अगुरुलघु' नामक गुण करता है। १४६ वीं गाथा की टीका में मोक्खपाहुड में से एक उद्धरण उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त जयसेन,[3] ब्रह्मदेव,

१. इस विभाग को कई लोग 'चूलिका' भी कहते हैं।
२. देखिए—सन्मति-प्रकरण की प्रस्तावना, पृ० ६२.
३. इनकी टीका का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है। इसकी पुष्पिका के अनुसार मूल कृति तीन अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में १११ गाथाएँ हैं और आठ अन्तराधिकार हैं, द्वितीय अधिकार में ५० हैं गाथाएँ और दस अन्तराधिकार हैं तथा तृतीय अधिकार में २० गाथाएँ हैं और वह बारह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र[1] ने भी संस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं।[2] इनके अलावा अज्ञातकर्तृक दो संस्कृत टीकाएँ भी हैं, जिनमें से एक का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है ऐसा उल्लेख जिनरत्नकोश (विभाग १, पृ० २३१) में है।

मूल कृति पर हेमराज पाण्डे ने हिन्दी में बालावबोध लिखा है।[3]

आठ पाहुड :

कई लोगों का मानना है कि कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुड लिखे थे। यह बात सच मान लें, तो भी इन सब पाहुडों के नाम अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।[4] यहाँ तो मैं जैन शौरसेनी में रचित पद्यात्मक आठ पाहुडों के विषय में ही कुछ कहूँगा। इन पाहुडों के नाम हैं : १. दंसण-पाहुड, २. चारित्त-पाहुड, ३. सुत्त-पाहुड, ४. बोध-पाहुड, ५. भाव-पाहुड, ६. मोक्ख-पाहुड, ७. लिंग-पाहुड, ८. सील-पाहुड।[5]

१. दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृत)—इसमें ३६ आर्या छन्द हैं। वर्धमान स्वामी को अर्थात् महावीर स्वामी को नमस्कार करके 'सम्यक्त्व का मार्ग संक्षेप में कहूँगा' इस प्रकार की प्रतिज्ञा के साथ इस कृति का प्रारम्भ किया गया है। इसमें सम्यक्त्व को धर्म का मूल कहा है। सम्यक्त्व के बिना निर्वाण की अप्राप्ति और भवभ्रमण होता है, फिर भले ही अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया गया हो अथवा उग्र तपश्चर्या की गई हो—ऐसा कहकर सम्यक्त्व का महत्त्व

विभागों में विभक्त है। इस तरह इस टीका के अनुसार कुल १८१ गाथाएँ होती हैं। जयसेन की इस टीका का उल्लेख पयवणसार और समयसार की उनकी टीकाओं में है। इन तीनों में से पंचत्थिकायसंगह की टीका में सबसे अधिक उद्धरण आते हैं।

१. इनकी टीका का नाम 'प्रदीप' है।

२ कई लोगों के मत से देवजित ने भी संस्कृत में टीका लिखी है।

३. बालचन्द्र ने कन्नड़ में टीका लिखी है।

४. ये आठ पाहुड और प्रत्येक की संस्कृत छाया, दंसणपाहुड आदि प्रारम्भ के छः पाहुडों की श्रुतसागरकृत संस्कृत टीका, रयणसार और बारसाणुवेक्खा 'षट्प्राभृतादिसंग्रहः' के नाम से माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं।

५. तैंतालीस पाहुडों के नाम पवयणसार की अंग्रेजी प्रस्तावना (पृ० २५ के टिप्पण) में दिये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखलाया है। सम्यक्त्वी को ज्ञान की प्राप्ति और कर्म का क्षय शक्य है तथा वह वन्दनीय है। सम्यक्त्व विषय-सुख का विरेचन और समस्त दुःख का नाशक है—ऐसे कथन के द्वारा सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन किया है। व्यवहार की दृष्टि से जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित जीव आदि द्रव्यों की श्रद्धा सम्यक्त्व है, तो निश्चय की दृष्टि से आत्मा सम्यक्त्व है इत्यादि बातें यहाँ उपस्थित की गई हैं। २९ वीं गाथा में तीर्थंकर चौसठ चामरों से युक्त होते हैं और उनके चौंतीस अतिशय होते हैं तथा ३५ वीं गाथा में उनकी देह १००८ लक्षणों से लक्षित होती है इस बात का उल्लेख है।

टीका—दंसणपाहुड तथा दूसरे पाँच पाहुडों पर भी विद्यानन्दी के शिष्य और **मल्लिभूषण** के गुरुभाई श्रुतसागर ने[1] संस्कृत में टीका लिखी है। दंसणपाहुड की टीका (पृ० २७-८) में १००८ लक्षणों में से कुछ लक्षण दिये हैं।[2] दंसणपाहुड आदि छः पाहुडों पर अमृतचन्द्र ने टीका लिखी थी ऐसा कई लोगों का मानना है।[3]

२. **चारित्तपाहुड** (**चारित्रप्राभृत**)—इसमें ४४ गाथाएँ हैं। इसकी दूसरी गाथा में इसका नाम 'चारित्तपाहुड' कहा है, जबकि ४४ वें पद्य में इसका 'चरणपाहुड' के नाम से निर्देश है। यह चारित्र एवं उसके प्रकार आदि पर प्रकाश डालता है। इसमें चारित्र के दर्शनाचारचारित्र और संयमचरणचारित्र ऐसे दो प्रकार बतलाये हैं। निःशंकित आदि का सम्यक्त्व के आठ गुण के रूप में उल्लेख है।

संयमचरणचारित्र के दो भेद हैं: सागार और निरागार। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह सागार अर्थात् गृहस्थों का चारित्र है, जबकि पाँच इन्द्रियों का संवरण, पाँच महाव्रतों का पालन तथा पच्चीस

---

१. इनका परिचय इन्हीं की रचित औदार्यचिन्तामणि इत्यादि विविध कृतियों के निर्देश के साथ मैंने 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड १: सार्वजनीन साहित्य पृ० ४२-४, ४६ और ३००) में दिया है। श्रुतसागर विक्रम की १६ वीं सदी में हुए हैं।

२. उदाहरणार्थ—W. Deneke. देखिए—Festgabe Jacobi (p. 163 f.).

३. देखिए—प्रो० विन्टर्नित्स का ग्रन्थ History of Indian Literature, Vol. II, p. 577.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाओं (भावनाओं), पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन—यह निरागार अर्थात् साधुओं का चारित्र है। पाँच महाव्रतों में से अहिंसा आदि प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ गिनाई हैं। सम्यक्त्वप्राप्त जीव ज्ञानमार्ग पर है, वह पापाचरण नहीं करता और अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा इसमें कहा गया है।

इसकी सातवीं गाथा 'अतिचार की आठ गाथा' के नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बरीय प्रतिक्रमणसूत्र की तीसरी गाथा के रूप में देखी जाती है।

टीका—चारित्तपाहुड पर श्रुतसागर की टीका है।

३. **सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत)**—यह २७ गाथाओं की कृति है। इसमें कहा है कि जैसे सूत्र (डोरे) से युक्त सूई हो तो वह नष्ट नहीं होती—गुम नहीं होती, वैसे ही सूत्र का ज्ञाता संसार में भटकता नहीं है—वह भव अर्थात् संसार का नाश करता है। सूत्र का अर्थ तीर्थंकर ने कहा है। जीवादि पदार्थों में से हेय और उपादेय को जो जानता है वह 'सद्दृष्टि' है। तीर्थंकरों ने अचेलकता और पाणिपात्रता का उपदेश दिया है, अतः इनसे भिन्न मार्ग मोक्षमार्ग नहीं है। जो संयमी आरम्भ-परिग्रह से विरक्त और बाईस परीषहों को सहन करनेवाले हों वे वन्दनीय हैं; जबकि जो लिंगी दर्शन और ज्ञान के योग्य धारक हों परन्तु वस्त्र धारण करते हों वे 'इच्छाकार' के योग्य हैं। सचेलक को, फिर भले ही वह तीर्थंकर ही हों, मुक्ति नहीं मिलती। स्त्री के नाभि इत्यादि स्थानों में सूक्ष्म जीव होते हैं, अतः वह दीक्षा नहीं ले सकती। जिन्होंने इच्छा के ऊपर काबू प्राप्त किया है वे सब दुःखों से मुक्त होते हैं। इस कथन से यह जाना जा सकता है कि इस पाहुड में अचेलकता एवं स्त्री की दीक्षा की अयोग्यता के ऊपर भार दिया गया है।

टीका—इसकी टीका के रचयिता श्रुतसागर हैं।

४. **बोधपाहुड (बोधप्राभृत)**—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। इसका प्रारम्भ आचार्यों के नमस्कार से होता है। इसकी तीसरी और चौथी गाथा में इसमें आनेवाले ग्यारह अधिकारों का निर्देश है। इनके नाम इस प्रकार हैं :

१. आयतन, २. चैत्यगृह, ३. जिनप्रतिमा, ४. दर्शन, ५. जिनबिम्ब, ६. जिनमुद्रा, ७. ज्ञान, ८. देव, ९. तीर्थ, १०. तीर्थंकर और ११. प्रव्रज्या।

२३ वीं गाथा में कहा है कि जिसके पास मतिज्ञानरूपी स्थिर धनुष है, श्रुतज्ञानरूपी प्रत्यंचा है और रत्नत्रयरूपी बाण हैं तथा जिसका लक्ष्य परमार्थ के विषय में बद्ध है वह मोक्षमार्ग से स्खलित नहीं होता।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अन्तिम गाथा में श्रुतकेवली भद्रबाहु का बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के धारक तथा गमकों के गुरु के रूप में निर्देश है।

५१ वीं गाथा में प्रव्रज्या को जन्म-समय के स्वरूपवाली अर्थात् नग्नरूप, आयुधरहित, शान्त और अन्य द्वारा निर्मित गृह में निवास करनेवाली कहा है।

टीका—इसपर श्रुतसागर की टीका है। अन्तिम तीन गाथाओं को उन्होंने 'चूलिका' कहा है। पृ० १६६ पर पद्मासन और सुखासन के लक्षण दिये हैं।

५. भावपाहुड (भावप्राभृत)—इसमें १६३ पद्य हैं और उनमें से अधिकांश आर्या छन्द में हैं। इस दृष्टि से उपलब्ध सभी (आठों) पाहुडों में यह सबसे बड़ा है। केवल इसी दृष्टि से नहीं, परन्तु दूसरी भी अनेक दृष्टियों से यह विशेष महत्त्व का है। इसकी पहली गाथा में 'भावपाहुड' शब्द दृष्टिगोचर होता है। भाव अर्थात् परिणाम की विशुद्धि। इस पाहुड में इस तरह की विशुद्धि से होनेवाले विविध लाभ तथा विशुद्धि के अभाव से होनेवाली विभिन्न प्रकार की हानियाँ विस्तार से दिखलाई हैं। बाह्य नग्नत्व की तनिक भी कीमत नहीं है, भीतर से आत्मा दोषमुक्त अर्थात् नग्न बना हो तभी बाह्य नग्नत्व सार्थक है; भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग निरर्थक है—यह बात स्पष्ट रूप से उपस्थित की गई है।

सच्चा भाव उत्पन्न न होने से संसारी जीव ने नरक और तिर्यञ्च गति में अनेकविध यातनाएँ सहन की हैं और मनुष्य तथा देव के भी कष्ट उठाये हैं। समस्त लोक में, मध्यभाग में गोस्तन (गाय के थन) के आकार के आठ प्रदेशों को छोड़कर, यह जीव सर्वत्र उत्पन्न हुआ है।[1] उसने अनन्त भवों में जननी का जो दूध पीया है, उसकी मृत्यु से माताओं ने जो आँसू बहाये हैं, उसके जो केश और नाखून काटे गये हैं तथा उसने जो शरीर धारण किये हैं उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। एक अन्तर्मुहूर्त में उसने निगोद के रूप में ६६३३६ बार, द्वीन्द्रिय के रूप में ८० बार, त्रीन्द्रिय के रूप में ६० बार और चतुरिन्द्रिय के रूप में ४० बार मरण का अनुभव किया है।[2] इसके अलावा, वह पासत्थ (पार्श्वस्थ) भावना से अनेक बार दुःखी हुआ है।

बाहुबली को गर्व के कारण केवलज्ञान की अप्राप्ति, निदान के कारण मधुपिंग मुनि को सच्चे श्रमणत्व का अभाव और वसिष्ठ मुनि का दुःख सहना,

१. देखिए, गाथा ३६. २. देखिए, गाथा २८-९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्डक नामक नगर को आभ्यन्तर दोष के कारण जलाने से जिनलिंगी बाहु का रौरव नरक में पड़ना, सम्यक्त्व आदि से पतित होने पर दीपायन श्रमण का भव-भ्रमण, युवतियों से परिवृत्त होने पर भी भावश्रमण शिवकुमार की अल्प संसारिता, श्रुतकेवली भव्यसेन[१] को सम्यक्त्व के अभाव में भावश्रमणत्व की अप्राप्ति तथा तुसमास (तुषमाष) की[२] उद्घोषणा करनेवाले शिवभूति की भावविशुद्धि के कारण मुक्ति—इस प्रकार विविध दृष्टान्त यहाँ दिये गये हैं।

१८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैनयिक—इस प्रकार कुल ३६३ पाखण्डियों का निर्देश करके उनके मार्गको उन्मार्ग कहकर जिनमार्ग में मन को लगाने का उपदेश दिया है।

शालिसिक्थ मत्स्य (तन्दुल-मत्स्य) अशुद्ध भाव के कारण महानरक मे गया, ऐसा ८६ वीं गाथा में कहा है।

मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विचार करना चाहिए। कर्मरूप बीज का नाश होने पर मोक्ष मिलता है।[3] आत्मा जब परमात्मा बनता है तब वह ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा जाता है (देखिए, गाथा १४९)। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए पाँच ज्ञान की विचारणा, कषाय और नोकषाय का त्याग, तीर्थंकर-नामकर्म के उपार्जन के सोलह कारणों का परिशीलन, बारह प्रकार की तपश्चर्या का सेवन, शुद्ध चारित्र का पालन, परीषहों का सहन, स्वाध्याय, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, जीव आदि सात तत्त्व और नौ पदार्थों का ज्ञान, चौदह गुणस्थानों की विचारणा तथा दशविध वैयावृत्त्य इत्यादि का इसमें उल्लेख है। मन शुद्ध हो तो अर्थ आदि चार पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं ऐसा १६२ वें पद्य में कहा है।

---

१. पृ० १९८ पर श्रुतसागर ने कहा है कि भव्यसेन ग्यारह अंगों का धारक होने से चौदह पूर्व के अर्थ का ज्ञाता था। इसी से यहाँ उसे श्रुतकेवली कहा है।

२. तुष अर्थात् छिलके से जिस तरह माष अर्थात् उड़द भिन्न है, उसी तरह शरीर से आत्मा भिन्न है इस बात के सूचक तुषमाष का उच्चारण करनेवाले केवल छः प्रवचनमात्रा के ज्ञाता परम वैराग्यशाली शिवभूति थे, ऐसा श्रुतसागर ने टीका (पृ० २०७) में कहा है। यह श्वेताम्बरों को 'मा तुस मा रुस' कथा का स्मरण कराती है।

३. यह बात १२४ वीं गाथा में कही गई है। यह तत्त्वार्थसूत्र (अ० १०, सू० ७) के स्वोपज्ञ भाष्य के आठवें श्लोक का स्मरण करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस भावपाहुड में चारित्तपाहुड और बोधपाहुड की तरह व्यवस्थित निरूपण नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि इसमें संग्रह को विशेष स्थान दिया गया है। लिंग का निरूपण लिंगपाहुड में भी देखा जाता है। भावपाहुड में दूसरे सभी पाहुडों की अपेक्षा जैन पारिभाषिक शब्दों तथा दृष्टान्तों का आधिक्य है। गुणभद्रकृत आत्मानुशासन में तथा भावपाहुड में बहुत साम्य है।

टीका—इस पर श्रुतसागर की टीका है।

६. **मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृत)**—इसमें १०६ पद्य हैं[1]। अन्तिम पद्य में इस कृति का नाम दिया गया है। इसमें परमात्मा का स्वरूप वर्णित है और उस स्वरूप का ज्ञान होने पर मुक्ति मिलती है ऐसा कहा है। आत्मा के पर, आभ्यन्तर और बाह्य ऐसे तीन स्वरूपों का निर्देश करके इन्द्रियरूपी बहिरात्मा का परित्याग कर कर्मरहित परमात्मा का ध्यान धरने का उपदेश दिया गया है। स्वद्रव्य एवं परद्रव्य की स्पष्टता न करने से हानि होती है ऐसा इसमें प्रतिपादन किया गया है।

खान में से[2] निकलने वाले सुवर्ण में और शुद्ध किये गये सुवर्ण में जैसा अन्तर है वैसा अन्तर अन्तरात्मा और परमात्मा में है। जो योगी व्यवहार में सोया हुआ है अर्थात् व्यवहार में नहीं पड़ा है वह अपने कार्य के विषय में जाग्रत है और जो व्यवहार में जाग्रत है अर्थात् लोकोपचार में सावधान है वह योगी आत्मा के कार्य में सोया हुआ है। अतः सच्चा योगी सब प्रकार के व्यवहारों से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा का ध्यान करता है। पुण्य और पाप का परिहार 'चारित्र' है। सम्यक्त्वादि रत्नत्रय प्राप्त किये बिना उत्तम ध्यान अशक्य है। धर्मध्यान आज भी शक्य है। उग्र तप करनेवाले अज्ञानी को जिस कर्म का क्षय करने में अनेक भव लगते हैं उस कर्म का क्षय तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी अन्तर्मुहूर्त में करता है। जो अचेतन पदार्थ को सचेतन मानता है वह अज्ञानी है, जबकि चेतन द्रव्य में जो आत्मा को मानता है वह ज्ञानी है। बिना तप का ज्ञान और बिना ज्ञान का तप भी निरर्थक है, अतः ज्ञान और तप दोनों से युक्त होने पर ही मुक्ति मिलती है।

---

१. कुछ पद्य अनुष्टुप् में हैं। अधिकांश भाग आर्या छन्द में है।

२. २४ वें पद्य की टीका (पृ० ३२०) में श्रुतसागर ने शीशे से सोना बनाने की विधि की सूचक एक प्राचीन गाथा उद्धृत करके उसका विवेचन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्राभृत की गई गाथाओं का समाधिशतक के साथ साम्य देखा जाता है। यदि इस पाहुड के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य ही हों तो पूज्यपाद ने इसका उपयोग किया है ऐसा कहा जा सकता है।

टीका—श्रुतसागरलिखित इसकी टीका है।

७. **लिंगपाहुड (लिंगप्राभृत)**—इसमें २२ गाथाएँ हैं। अन्तिम गाथा में 'लिंगपाहुड' नाम देखा जाता है। सच्चा श्रमण किसे कहते हैं, यह इसमें समझाया है। भावलिंगरूप साधुता से रहित द्रव्यलिंग व्यर्थ है ऐसा यहाँ कहा गया है। साधु-वेश में रहकर जो नाचना, गाना इत्यादि कार्य करे वह साधु नहीं, किन्तु तिर्यंच है, जो श्रमण अब्रह्म का आचरण करे वह संसार में भटकता है; जो विवाह कराये, कृषिकर्म, वाणिज्य और जीवघात कराये वह द्रव्यलिंगी नरक में जाता है—ऐसे कथन द्वारा इसमें कुसाधु का स्वरूप चित्रित किया है। लिंगविषयक निरूपण, अमुक अंश में भावपाहुड में देखा जाता है।

टीका—लिंगपाहुड एवं सीलपाहुड पर एक भी संस्कृत टीका यदि रची गई हो तो वह प्रभाचन्द्र की मानी जाती है।

८. **सीलपाहुड (शीलप्राभृत)**—इस कृति में ४० गाथाएँ हैं। इसमें शील का महत्त्व दिखलाया गया है। प्रथम गाथा में शील के—ब्रह्मचर्य के गुण कहने की प्रतिज्ञा है। दूसरी गाथा में कहा है कि शील का ज्ञान के साथ विरोध नहीं है। पाँचवीं गाथा में ऐसा उल्लेख है कि चारित्ररहित ज्ञान, दर्शनरहित लिंगग्रहण और संयमरहित तप निरर्थक है। सोलहवीं गाथा में व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार और न्यायशास्त्र का उल्लेख है। उन्नीसवें पद्य में जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप को शील का परिवार कहा है। दशपूर्वी सुरत्तपुत्त (सात्यकिपुत्र) विषयलोलुपता के कारण नरक में गया, ऐसा तीसवीं गाथा में कहा है।

इस प्रकार आठों पाहुडों का संक्षिप्त परिचय हुआ।[१] ये कुन्दकुन्दरचित ही हैं या नहीं इसका निर्णय करने के लिए विशिष्ट साधन की अपेक्षा है। ये सब कमोबेश रूप में संग्रहात्मक कृतियाँ हैं। इनका समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशित होना चाहिए। कई पाहुडों में अपभ्रंश के चिह्न देखे जाते हैं। पाहुडों का उपयोग उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने किया है। जोइन्दु की कृति पाहुडों का स्मरण कराती है।

---

१. अंग्रेजी में परिचय के लिए देखिए—पवयणसार की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २९–३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवसमास :

इस ग्रन्थ[1] के कर्ता का नाम अज्ञात है, किन्तु वह पूर्वधर थे ऐसा माना जाता है। जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति में २८६ आर्या छन्द हैं। इनके अतिरिक्त कोई-कोई गाथा प्रक्षिप्त भी है। ऐसी एक गाथा का निर्देश मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने इसकी टीका के अन्त (पत्र ३०१) में किया है और उसकी व्याख्या भी की है, यद्यपि ऐसा करते समय उन्होंने सूचित किया है कि पूर्व टीका में इसकी व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। 'वलभी' वाचना का अनुसरण करनेवाली इस कृति का आरम्भ चौबीस तीर्थंकरों के नमस्कार से होता है। प्रारम्भ की गाथा में अनन्त जीवों के चौदह समास यानी संक्षेप के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। चार निक्षेप; छः तथा आठ अनुयोगद्वार; गति, इन्द्रिय इत्यादि चौदह मार्गणाओं द्वारा जीवसमासों का बोध; आहार, भव्यत्व इत्यादि की अपेक्षा से जीवों के प्रकार; मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान; नारक आदि के प्रकार; पृथ्वीकाय आदि के भेद; धर्मास्तिकाय आदि अजीव के भेद; अंगुल के तीन प्रकार; काल के समय, आवलिका इत्यादि भेदों से लेकर पल्योपम आदि का स्वरूप; संख्या के भेद-प्रभेद[2]; ज्ञान, दर्शन, नय और चारित्र के प्रकार; नारक आदि जीवों का मान; समुद्घात; नारक आदि का आयुष्य और उसका विरह-काल तथा गति, वेद इत्यादि की अपेक्षा से जीवों का और प्रदेश की अपेक्षा से अजीव पदार्थों का अल्प-बहुत्व—इन विषयों का निरूपण इसमें आता है।

गाथा ३०, ३६, ६५ इत्यादि[3] में पृथ्वीकाय आदि के जो प्रकार कहे हैं वे उपलब्ध आगमों में दिखाई नहीं पड़ते।

टीका—जीवसमास पर विशेषावश्यकभाष्य इत्यादि के टीकाकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११६४ में या उसके आसपास ६६२७ श्लोक-परिमाण वृत्ति लिखी है। इसके पहले एक वृत्ति और एक टीका लिखी गई थी ऐसा ४७वीं तथा १५८वीं गाथा पर की इस वृत्ति के उल्लेख से ज्ञात होता है[4], परन्तु

---

१. यह मलधारी हेमचन्द्र की वृत्ति के साथ 'आगमोदय समिति' की ओर से १९२७ में प्रकाशित हुई है। इसके प्रारम्भ में लघु एवं बृहद् विषयानुक्रम भी दिया गया है।

२. कुल इक्कीस भेद।

३. देखिए—मुद्रित आवृत्ति का उपोद्घात, पत्र ११.

४. देखिए—अनुक्रम से पत्र ३३ और १५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों में से एक भी अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। उपर्युक्त वृत्ति का 'मूल-वृत्ति' और टीका का 'अर्वाचीन टीका' के नाम से हेमचन्द्रसूरि ने अपनी वृत्ति में निर्देश किया है।

जीववियार (जीवविचार) :

जैन महाराष्ट्री में ५१ आर्या छन्दों में रचित इस कृति[1] की ५०वीं गाथा में कर्ता ने श्लेष द्वारा अपना 'शान्तिसूरि' नाम सूचित किया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में दूसरा कुछ ज्ञात नहीं। प्रो० विन्टर्नित्स ने इनका स्वर्गवास १०३९ में होने का लिखा है[2], परन्तु यह विचारणीय है।

प्रस्तुत कृति में जीवों के संसारी और सिद्ध ऐसे दो भेदों का निरूपण करके उनके प्रभेदों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त संसारी जीवों के आयुष्य, देहमान, प्राण, योनि इत्यादि का विचार किया गया है।

टीकाएँ—खरतरगच्छ के चन्द्रवर्धनगणी के प्रशिष्य और मेघनन्दन के शिष्य पाठक रत्नाकर ने सलेमसाह के राज्य में वि० सं० १६१० में घल्लू में प्राकृत वृत्ति के आधार पर संस्कृत में वृत्ति रची थी। यह संस्कृत वृत्ति प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु प्राकृत वृत्ति अबतक मिली नहीं है। उपर्युक्त मेघनन्दन ने वि० सं० १६१० में वृत्ति रची थी ऐसा जो उल्लेख जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १४२) में है वह भ्रान्त प्रतीत होता है। वि० सं० १६९८ में समयसुन्दर ने भी एक वृत्ति लिखी थी। ईश्वराचार्य ने अर्थदीपिका नाम की टीका लिखी है और उसके आधार पर भावसुन्दर ने भी एक टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त क्षमाकल्याण ने

---

१. भीमसी माणेक ने लघुप्रकरणसंग्रह में वि० सं० १९५९ में यह प्रकाशित किया है। एक अज्ञातकर्तृक टीका के साथ यह जैन आत्मानन्द सभा की ओर से प्रकाशित किया गया है। इनके सिवाय मूल कृति तो अनेक स्थानों से प्रकाशित हुई है। संस्कृत छाया तथा पाठक रत्नाकरकृत वृत्ति के साथ मूल कृति 'यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला' मेहसाणा ने १९१५ में प्रकाशित की थी। मूल कृति, संस्कृत छाया, पाठक रत्नाकर की वृत्ति (प्रशस्तिरहित), जयन्त पी० ठाकर के मूल के अनुवाद तथा वृत्ति के अंग्रेजी सारांश के साथ यह 'जैन सिद्धान्त सोसायटी' अहमदाबाद की ओर से १९५० में प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए—A History of Indian Literature, Vol. II p. 588.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि० सं० १८५० में तथा किसी अज्ञात लेखक ने प्रदीपिका नाम की अवचूरि-टीका लिखी है।

इसका फ्रेंच अनुवाद गेरिनो (Guarinot) ने किया है और वह 'जर्नल एशियाटिक' में मूल के साथ १९०२ में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त जयन्त पी० ठाकर के द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। इसके अलावा गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद भी कई स्थानों से प्रकाशित हुए हैं।

पण्णवणातइयपयसंगहणी (प्रज्ञापनातृतीयपदसंग्रहणी):

यह १३३ पद्य की जैन महाराष्ट्री में रचित संग्रहात्मक कृति[1] है। इसके संग्रहकर्ता नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि हैं। इन्होंने पण्णवणा (प्रज्ञापना) के ३६ पदो में से 'अप्पबहुत्त' (अल्पबहुत्व) नाम के तीसरे पद को लक्ष्य में रखकर जीवों का २७ द्वारों द्वारा अल्पबहुत्व दिखलाया है।

टीकाएँ—कुलमण्डनसूरि ने वि० सं० १४७१ में इसकी अवचूर्णि लिखी है। इसके अतिरिक्त ज्ञानविजय के शिष्य जीवविजय ने वि० सं० १७८४ में इस संग्रहणी पर बालावबोध भी लिखा है।

जीवाजीवाभिगमसंगहणी (जीवाजीवाभिगमसंग्रहणी):

अज्ञातकर्तृक इस कृति में २२३ पद्य हैं। इसकी एक ही हस्तलिखित प्रति का जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १४३) में उल्लेख है और वह सूरत के एक भण्डार में है। प्रति को देखने पर ही इसका विशेष परिचय दिया जा सकता है, परन्तु नाम से तो ऐसा अनुमान होता है कि इसमें जीवाजीवाभिगम सूत्र के विषयों का संग्रह होगा।

जम्बूद्वीपसमास :

इस कृति[2] के कर्ता वाचक उमास्वाति हैं ऐसा कई विद्वानों का कहना है। इसे क्षेत्रसमास भी कहते हैं। इसके प्रारम्भ में एक पद्य है, जबकि बाकी का

---

१. यह अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ने वि०सं० १९७४ में प्रकाशित की है।

२. यह सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम के साथ 'बिब्लियोथिका इण्डिका' सिरीज में बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से विजयसिंहसूरिरचित टीका के साथ १९०३ में प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त इसी टीका के साथ मूल कृति 'सत्यविजय ग्रन्थमाला' अहमदाबाद से भी १९२२ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारा भाग गद्य में है। यह चार आह्निक में विभक्त है। इसमें भरत क्षेत्र, हिमवत् (पर्वत), हैमवत (क्षेत्र), महाहिमवत् (पर्वत), हरिवर्ष (क्षेत्र), निषध (पर्वत), नीलगिरि (पर्वत), रम्यक (क्षेत्र), रुक्मिन् (पर्वत), हैरण्यवत (क्षेत्र), शिखरिन् (पर्वत), ऐरावत (क्षेत्र), मेरु, वक्षस्कार, उत्तरकुरु, देवकुरु, ३२ विजय, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करार्ध, नन्दीश्वर द्वीप और परिधि इत्यादि से सम्बद्ध सात करणों के विषय में जानकारी दी गई है।

टीका—प्रस्तुत कृति पर हरिभद्रसूरि के शिष्य विजयसिंहसूरि ने वि० सं० १२१५ में टीका लिखी है। इसके प्रारम्भ में सात और अन्त में सोलह (४ + १२) की प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति २८८० श्लोक-परिमाण की है।[1]

समयखित्तसमास (समयक्षेत्रसमास) अथवा खेत्तसमास (क्षेत्रसमास) :

वि० सं० ५४५ से ६५० में होनेवाले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणरचित यह कृति[2] जैन महाराष्ट्री में है और इसमें ६३७ गाथाएँ (पाठान्तर के अनुसार ६५५ गाथाएँ) हैं।[3]

प्रस्तुत कृति अपने नाम 'समयखित्तसमास' के अनुसार समयक्षेत्र का अर्थात् जितने क्षेत्र में सूर्य आदि के गति के आधार पर समय की गणना की जाती है उतने क्षेत्र का यानी ढाई द्वीप का—मनुष्य लोक का निरूपण करती है। इसमें

---

१. देखिए—जिन-रत्नकोश, विभाग १, पृ० ९८.

२. मलयगिरि की टीका के साथ यह ग्रन्थ वि० सं० १९७७ में जैनधर्म प्रसारक सभा ने बृहत्क्षेत्रसमास के नाम से छपवाया है। उसमें मूल ग्रन्थ पाँच अधिकारों में विभक्त किया गया है जिनमें क्रमशः ३९८, ९०, ८१, ११ और ७६ (कुल ६५६) पद्य हैं।

३. इस पर मलयगिरि ने जो टीका लिखी है उसमें उपान्त्य गाथा में आनेवाले ६३७ के उल्लेख को ही लक्ष्य में रखा है, न कि पाठान्तर को। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस तरह उन्हें ६३७ की पद्य-संख्या तो मान्य है, परन्तु टीका ६५६ पद्य की ही है। उन्होंने कहीं भी क्षेपक पद्यों का निर्देश नहीं किया है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, तो १९ अधिक पद्य कौन-से हैं इसका निर्णय करना बाकी रह जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच अधिकार हैं और क्रमशः जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करवर द्वीप के आधे भाग के बारे में जानकारी दी गई है। प्रथम अधिकार में प्रसंगवश सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति के विषय में तथा द्वितीय अधिकार में ५६ अन्तर्द्वीपों के बारे में विस्तृत निरूपण है। इस प्रकार इसमें खगोल और भूगोल की चर्चा आती है। इसमें जो चालीस[1] करणसूत्र[2] हैं वे इसके महत्त्व में अभिवृद्धि करते हैं।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर दस वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से तीन तो अज्ञातकर्तृक हैं। अवशिष्ट वृत्तियों के कर्ता के नाम और उनके रचना-समय का उल्लेख इस प्रकार है :

हरिभद्रसूरि (वि० सं० ११८५), सिद्धसूरि (वि० सं० ११९२), मलयगिरिसूरि (वि० सं० १२०० लगभग), विजयसिंह (वि० सं० १२१५), देवभद्र (वि० सं० १२३३), देवानन्द (वि० सं० १४५५) और आनन्दसूरि।

इनमें से हरिभद्रसूरि के अतिरिक्त बाकी के वृत्तिकारों की वृत्ति का ग्रन्थाग्र (श्लोक-परिमाण) अनुक्रम से ३०००, ७८८७, ३२५६, १०००, ३३३२ और २००० श्लोक हैं। इन सब में मलयगिरिकृत टीका (वृत्ति) सबसे बड़ी है। इसके प्रारम्भ में तीन[3] और अन्त में पाँच[4] श्लोक प्रशस्तिरूप हैं।

क्षेत्रविचारणा :

इसे नरखित्तपयरण (नरक्षेत्रप्रकरण)[5] तथा लघुक्षेत्रसमास[6] भी कहते हैं। २६४ पद्य में जैन महाराष्ट्री में रचित इस ग्रन्थ प्रणेता रत्नशेखरसूरि हैं। यह

---

१. उदाहरणार्थ देखिए—पद्य ७, १३, १४ आदि।

२. इन करणसूत्रों की व्याख्या 'जम्बुद्दीवकरणचुण्णि' में देखी जाती है। इस चूर्णि में अन्य करणसूत्रों का भी स्पष्टीकरण है।

३. प्रथम पद्य में जिनवचन की तथा द्वितीय में जिनभद्रगणी की प्रशंसा है।

४. इसके आरम्भ के तीन पद्यों में भी जिनभद्रगणी की प्रशंसा है।

५. यह कृति जैन आत्मानन्द सभा ने स्वोपज्ञवृत्ति के साथ वि० सं० १९७२ में प्रकाशित की है।

६. इस नाम से एक कृति मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला में वि० सं० १९९० में छपी है। उसमें चन्दुलाल नानचन्दकृत गुजराती विवेचन तथा यन्त्रों एवं चित्रों को स्थान दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रसेनसूरि के शिष्य तथा हेमतिलकसूरि के पट्टधर थे। इन्होंने वि० सं० १४२८ में सिरिवालकहा और वि० सं० १४४७ में गुणस्थानक्रमारोह लिखे हैं।

प्रस्तुत कृति जिनभद्रीय समयखित्तसमास के आधार पर तैयार की गई है, अतः इन दोनों में विषय की समानता है।

टीकाएँ—इस पर लिखी गई स्वोपज्ञवृत्ति का परिमाण १६०० श्लोक का है। इस वृत्ति में समयखित्तसमास की मलयगिरिसूरिकृत टीका का आधार लिया गया है। इस पर अज्ञातकर्तृक एक टिप्पण भी है। इसे अवचूरि भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त पार्श्वचन्द्र ने[1] तथा उदयसागर ने एक-एक बालावबोध भी लिखा है।

खेत्तसमास (क्षेत्रसमास) :

इसकी रचना देवानन्द (वि० सं० १३२०) ने की है।[2] इस नाम की दूसरी भी कितनी ही प्राकृत पद्य रचनाएँ मिलती हैं। जिनके कर्ता एवं गाथा-संख्या निम्नांकित हैं :

१. सोमतिलकसूरि[3]	गाथा	३८७
२. पद्मदेवसूरि	गाथा	६५६
३. श्रीचन्द्रसूरि	गाथा	३४१

देवानन्द का क्षेत्रसमास सात विभागों में विभक्त है। इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी है।

जम्बूदीवसंगहणी (जम्बूद्वीपसंग्रहणी) :

जैन महाराष्ट्री में २९ पद्यों में रचित इस कृति[4] के कर्ता हरिभद्रसूरि हैं।[5] इन्होंने इसमें जम्बूद्वीप के विषय में जानकारी प्रस्तुत की है। इसमें निम्नलिखित दस द्वारों का निरूपण किया गया है :

१. इनके नाम से एक नया गच्छ चला है।

२. इसी वर्ष में चन्द्रप्रभ ने क्षेत्रसमास नाम की कृति लिखी है।

३. इनकी इस कृति को नव्यक्षेत्रसमास या बृहत्क्षेत्रसमास भी कहते हैं।

४. यह प्रभानन्दसूरि की वृत्ति के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१५ में प्रकाशित की है।

५. यही आचार्य अनेकान्तजयपताका के प्रणेता हैं या अन्य, यह जानना बाकी रहता है।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

१. खण्ड, २. योजन, ३. क्षेत्र, ४. पर्वत, ५. कूट (शिखर), ६. तीर्थ, ७. श्रेणि, ८. विजय, ९. द्रह और १०. नदी।

टीकाएँ—इस कृति पर तीन वृत्तियाँ मिलती हैं, जिनमें से दो अज्ञात-कर्तृक हैं। तीसरी वृत्ति कृष्ण गच्छ के प्रभानन्दसूरि ने वि० सं० १३९० में लिखी थी। इसके प्रारम्भ में प्रस्तुत कृति का क्षेत्रसंग्रहणी और अन्त की प्रशस्ति में क्षेत्रादिसंग्रहणी के नाम से निर्देश है।

संगहणी (संग्रहणी अथवा बृहत्संग्रहणी) :

इसके कर्ता विशेषावश्यकभाष्य, समयक्षेत्रसमास आदि मननीय कृतियों के प्रणेता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं।

स्वयं कर्ता ने पहली गाथा में प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'संगहणी'[1] कहा है, परन्तु इसके पश्चात् रचित अन्य संग्रहणियों से इसका भेद दिखलाने के लिए इसे 'बृहत्संग्रहणी' कहा जाता है।

जैन महाराष्ट्री में रचित इस संग्रहणी में ऊपर-ऊपर से देखने पर ३६७ गाथाएँ हैं, परन्तु गा० ७३ और ७९ पर की विवृत्ति में मलयगिरि द्वारा किये गये उल्लेख से ज्ञात होता है कि ७३ से ७९ तक की सात गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। इनके अतिरिक्त ९, १०, १५, १६, ६८, ६९ और ७२ ये सात गाथाएँ मलयगिरि ने अन्यकर्तृक कही हैं। इनमें से अन्तिम तीन गाथाएँ अर्थात् ६८, ६९ और ७२ सूरपण्णत्ति की हैं। इस हिसाब से संग्रहणी में ३५३ गाथाएँ जिनभद्र की हैं। कई लोगों के मत से मूल गाथाएँ लगभग २७५ थीं किन्तु कालान्तर में किसी-न-किसी के द्वारा अन्यान्य गाथाओं का समावेश होने पर ५०० के करीब हो गई हैं।

विषय—प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित विषयों को स्थान दिया गया है ऐसा उसकी गा० २–३ में कहा है :

---

१. यह बृहत्संग्रहणी के नाम से मलयगिरिसूरिकृत विवृत्ति के साथ भावनगर से वि० सं० १९७३ में प्रकाशित हुई है। जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० सं० १९९१ में 'श्रीबृहत्संग्रहणी' के नाम से जो पुस्तक प्रकाशित की है उसमें मूल तथा मलयगिरि की टीका का गुजराती अनुवाद है। अनुवादक हैं श्री कुँवरजी आनन्दजी। अनुवाद में २३ और अन्त में श्री जेठालाल हरिभाई शास्त्री के तैयार किये हुये ४१ यंत्र दिये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवों और नारकों के आयुष्य, भवन एवं अवगाहन; मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों के शरीर का मान तथा आयुष्य का प्रमाण; देवों के और नारकों के उपपात (जन्म) और उद्वर्तन (च्यवन) का विरहकाल; एक समय में होनेवाले उपपात एवं उद्वर्तन की संख्या तथा सब जीवों की गति और आगति का आनुपूर्वी के अनुसार वर्णन। इनके अतिरिक्त देवों के शरीर का वर्ण, उनके चिह्न इत्यादि बातें भी इसमें आती हैं। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें जैन दृष्टि से खगोल और भूगोल का वर्णन आता है। साथ ही नारक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च के विषय में भी कुछ जानकारी इससे उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत कृति की रचना पण्णवणा इत्यादि के आधार पर हुई है। इसमें यदि कोई स्खलना हुई हो तो उसके लिये जिनभद्रगणी ने क्षमा माँगी है।

टीकाएँ—७३वीं गाथा की मलयगिरिकृत विवृत्ति से ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत कृति पर एक टीका लिखी थी। पूर्णभद्र के शिष्य और नमिसाधु के गुरु शीलभद्र ने वि० सं० ११३९ में २८०० श्लोक-परिमाण एक विवृत्ति और मुनिपतिचरित के कर्ता हरिभद्र ने एक वृत्ति लिखी है ऐसा जिनरत्नकोश में उल्लेख है।

मलयगिरिसूरि ने इस पर एक विवृत्ति लिखी है। यह विवृत्ति जीव एवं जगत् के बारे में विश्वकोश जैसी है। ५०० श्लोक-परिमाण की इस विवृत्ति में विविध यंत्र भी दिये गये हैं।

३६४वीं गाथा में संक्षिप्ततर संग्रहणी के विषय में सूचना है। इसके अनुसार इसके बाद की दो गाथाओं में शरीर इत्यादि चौबीस द्वारों का वर्णन आता है।

संखित्तसंगहणी (संक्षिप्तसंग्रहणी) अथवा संगहणिरयण (संग्रहणिरत्न):

इस कृति का[1] प्राकृत नाम इसके अन्तिम पद्य में देखा जाता है। इसके रचयिता श्रीचन्द्रसूरि हैं। इसमें जैन महाराष्ट्री में रचित २७३ आर्या गाथाएँ

१. २७३ गाथा की यह कृति देवभद्रसूरि की टीका के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९१५ में प्रकाशित की है। इसकी गाथा-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। ३४९ गाथावाली मूल कृति संस्कृत छाया एवं मुनि यशोविजयजीकृत गुजराती शब्दार्थ, गाथार्थ और विशेषार्थ के साथ 'मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला' के ४७वें पुष्प के रूप में सन् १९३९ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। श्रीचन्द्रसूरि 'मलधारी' हेमचन्द्र के लघु शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० ११९३ में मुणिसुव्वयचरिय (मुनिसुव्रत-चरित) लिखा। इसके अतिरिक्त खेत्तसमास ('नमिउं वीरं' से प्रारम्भ होनेवाला) भी लिखा है।[1] ये एक बार लाट देश के किसी राजा के, सम्भवतः सिद्धराज जयसिंह के, मंत्री (मुद्राधिकारी) थे। इन्होंने प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त संग्रहणीगत नौ अधिकारों को स्थान दिया है। इन अधिकारों के नाम पहली दो गाथाओं में दिये गये हैं। इस कृति में यद्यपि लगभग संग्रहणी के जितनी ही गाथाएँ हैं, तथापि इसमें अर्थ का आधिक्य है, ऐसा कहा जाता है। कितने ही दशकों से इस संगहणिरयण का ही अध्ययन के लिये उपयोग किया जाता है।

टीकाएँ—श्रीचन्द्रसूरि के ही शिष्य देवभद्रसूरि ने इस पर संस्कृत में एक टीका लिखी है। इन्होंने अपनी टीका में सूरपण्णत्ति की निर्युक्ति में से उद्धरण दिये हैं तथा अनुयोगद्वार की चूर्णि एवं उसकी हारिभद्रीय टीका का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका तथा धर्मनन्दनगणी एवं चारित्रमुनिरचित एक-एक अवचूरि भी है। दयासिंहगणी ने वि० सं० १४९७ में और शिवनिधानगणी ने वि० सं० १६८० में इस पर एक-एक बालावबोध भी लिखा है।

विचारछत्तीसियासुत्त (विचारषट्त्रिंशिकासूत्र):

इसे दण्डकप्रकरण अथवा लघुसंग्रहणी[2] भी कहते हैं। इसकी रचना धवल-

---

प्रकाशित हुई है। इसमें ६५ चित्र और १२४ यंत्र दिये गये हैं। अन्त में मूल कृति गुजराती अर्थ के साथ दी गई है। इस प्रकाशन का नाम 'त्रैलोक्यदीपिका' याने 'श्रीबृहत्संग्रहणीसूत्रम्' दिया गया है। इसी से सम्बद्ध पाँच परिशिष्ट इसी माला के ५२वें पुष्प के रूप में वि० सं० २००० में एक अलग पुस्तिका के रूप में छपे हैं।

१. प्रत्याख्यानकल्पाकल्पविचार यानी लघुप्रवचनसारोद्धार-प्रकरण भी इनकी कृति है।

२. ग्रन्थ-प्रकाशक सभा की ओर से गुजराती शब्दार्थ और विस्तारार्थ एवं यंत्र आदि के साथ 'दण्डकप्रकरणम्' के नाम से सन् १९२५ में यह प्रकाशित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्र के शिष्य गजसार ने जैन महाराष्ट्री की ४४ गाथाओं में की है। इसमें इन्होंने यद्यपि चौबीस दण्डकों के बारे में शरीर आदि चौबीस द्वारों का निर्देश करके जानकारी दी है, तथापि इसकी रचना तीर्थंकरों की विज्ञप्तिरूप है।

टीकाएँ—स्वयं गजसार ने वि० सं० १५७९ में इस पर एक अवचूर्णि लिखी है। अन्तिम गाथा की अवचूर्णि में लेखक ने प्रस्तुत कृति को विचारषट्त्रिंशिकासूत्र कहा है। इसमें जैसा सूचित किया है उसके अनुसार पहले यंत्र के रूप में इसकी रचना की गई थी। इसके अतिरिक्त उदयचन्द्र के शिष्य रूपचन्द्र ने वि० सं० १६७५ में अपने बोध के लिए इस पर एक वृत्ति लिखी है। इसके प्रारम्भ में प्रस्तुत कृति को 'लघुसंग्रहणी' कहा है। यह वृत्ति ५३६ श्लोक-परिमाण है। मूल कृति पर समयसुन्दर की भी एक टीका है।

पवयणसारुद्धार (प्रवचनसारोद्धार) :

जैन महाराष्ट्री में प्रायः आर्या छन्द में रचित १५९९ पद्यों के अत्यन्त मूल्यवान् इस ग्रन्थ[1] के प्रणेता नेमिचन्द्रसूरि हैं। यह आम्रदेव (अम्मएव) के शिष्य तथा जिनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य थे। यशोदेवसूरि इनके छोटे गुरुभाई होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन प्रवचन के सारभूत पदार्थों का बोध कराता है। इसमें आये हुए अनेक विषय प्रद्युम्नसूरि के वियारसार (विचारसार) में देखे जाते हैं, परन्तु ऐसे भी अनेक विषय हैं जो एक में है तो दूसरे में नहीं हैं।[2] इससे ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं।

प्रवचनसारोद्धार में २७६ द्वार हैं। इनमें निम्नलिखित विषयों का निरूपण है :

हुआ है। इसके उत्तर भाग में स्वोपज्ञ अवचूर्णि तथा रूपचन्द्र की संस्कृत वृत्ति के साथ मूल कृति दी गई है।

१. यह ग्रन्थ सिद्धसेनसूरिकृत तत्त्वप्रकाशिनी नाम की वृत्ति के साथ दो भागों में देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने अनुक्रम से सन् १९२२ और १९२६ में प्रकाशित किया है। दूसरे भाग के प्रारम्भ में उपोद्घात तथा अन्त में वृत्तिगत पाठों, व्यक्तियों, क्षेत्रों एवं नामों की अकरादि क्रम से सूची है। प्रथम भाग में १०३ द्वार और ७७१ गाथाएँ हैं, जबकि दूसरे भाग में १०४ से २७६ द्वार तथा ७७२ से १५९९ तक की गाथाएँ हैं।

२. ऐसे विषयों की सूची उपोद्घात में दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. चैत्यवन्दन, २. वन्दनक, ३. प्रतिक्रमण, ४. प्रत्याख्यान, ५. कायोत्सर्ग, ६. श्राद्ध प्रतिक्रमण के १२४ अतिचार, ७. भरतक्षेत्र के अतीत, वर्तमान और अनागत तथा ऐरावतक्षेत्र के वर्तमान और अनागत तीर्थंकरों के नाम, ८-९. ऋषभादि के आद्य गणधरों एवं आद्य प्रवर्तिनियों के नाम, १०. बीस स्थानक[1], ११-२. तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम तथा उनकी गति, १३-४. एक साथ विचरण करनेवाले तथा जन्म लेनेवाले तीर्थंकरों की उत्कृष्ट और जघन्य संख्या, १५-२५. ऋषभ आदि तीर्थंकरों के गणधर, साधु, साध्वी, विकुर्विक, वादी, अवधिज्ञानी, केवली, मनःपर्यायज्ञानी, श्रुतकेवली, श्रावक और श्राविका की संख्या, २६-३४. ऋषभ आदि तीर्थंकरों के यक्ष, शासनदेवी, देह का मान, लांछन, वर्ण, व्रतधारी-परिवार की संख्या, आयुष्य, शिवगमन, परिवार की संख्या और निर्वाणभूमि, ३५. तीर्थंकरों के बीच का अन्तर, ३६. तीर्थोच्छेद, ३७-८. दस तथा चौरासी आशातना, ३९-४१. तीर्थंकरों के आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और अठारह दोषों का अभाव, ४२. अर्हच्चतुष्क[2], ४३-५. ऋषभ आदि के निष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण-समय के तप, ४६. भावी जिनेश्वर, ४७. ऊर्ध्वलोक आदि में से एक ही समय में सिद्ध होनेवालों की उत्कृष्ट संख्या, ४८. एक ही समय में सिद्ध होनेवालों की संख्या, ४९. सिद्धों के पन्द्रह भेद, ५०. अवगाहना के आधार पर सिद्धों की संख्या, ५१. गृहिलिंग आदि से सिद्ध होनेवालों की संख्या, ५२. एक समय इत्यादि में सिद्ध होनेवालों की संख्या, ५३. लिंग (वेद) के आधार पर सिद्ध होनेवालों की संख्या, ५४-५. सिद्ध संस्थान और अवस्थान, ५६-८. सिद्धों की उत्कृष्ट आदि अवगाहना, ५९. शाश्वत जिनप्रतिमा के नाम, ६०-२. जिनकल्पी, स्थविरकल्पी और साध्वी के उपकरणों की संख्या, ६३. जिनकल्पी की एक वसति में उत्कृष्ट संख्या, ६४. आचार्य के छत्तीस गुण, ६५. विनय के बावन भेद, ६६. चरणसप्तति, ६७. करणसप्तति, ६८. जंघाचारण और विद्याचारण की गमनशक्ति, ६९. परिहारविशुद्धि, ७०. यथालन्दिक का स्वरूप, ७१. निर्यामक की संख्या, ७२-३. पचीस शुभ और पचीस अशुभ भावना, ७४-६. महाव्रतों की, कृतिकर्म[3] की और क्षेत्र के आधार पर चारित्र की संख्या, ७७. स्थितकल्प, ७८. अस्थितकल्प, ७९-८५. भक्ति-चैत्य इत्यादि चैत्य के, गण्डिका इत्यादि पुस्तक के, दण्ड के, तृण के, चर्म के, दूष्य

---

१. तीर्थंकर नाम-कर्म उपार्जित करने के। २. नाम-जिन, स्थापना-जिन, द्रव्य-जिन और भाव-जिन। ३. वन्दनक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वस्त्र) के और अवग्रह के पाँच-पाँच प्रकार, ८६. बाईस परीषह, ८७. साधु की सात मण्डली, ८८. दस बातों का उच्छेद, ८९. क्षपकश्रेणि, ९०. उपशम-श्रेणि, ९१. चौबीस हजार स्थण्डिल, ९२. चौदह पूर्व, ९३-५. निर्ग्रन्थ, श्रमण और ग्रासैषणा के पाँच-पाँच प्रकार, ९६. पिण्डैषणा और पानैषणा के सात-सात प्रकार, ९७. भिक्षाचर्या के आठ मार्ग, ९८. दस प्रकार के प्रायश्चित्त, ९९. ओघ-सामाचारी, १००. पदविभाग-सामाचारी, १०१. दस प्रकार की सामाचारी, १०२. भवनिर्ग्रन्थत्व की संख्या, १०३. साधु का विहार, १०४. अप्रतिबद्ध विहार, १०५. गीतार्थ और अगीतार्थ का कल्प, १०६. परिट्ठा-पनोच्चार, १०७-९. दीक्षा के लिए अयोग्य पुरुष आदि की संख्या, ११०. विकलांग, १११. साधु के लिए ग्रहण करने योग्य वस्त्र, ११२. शय्यातर का पिण्ड, ११३. श्रुत की अपेक्षा से सम्यक्त्व[1], ११४. निर्ग्रन्थों की चारों गतियाँ, ११५-८. क्षेत्र, मार्ग, काल और प्रमाण की अतिक्रान्ति, ११९-१२०. दुःशय्या और सुख-शय्या के चार-चार प्रकार, १२१. तेरह क्रियास्थान, १२२. सामायिक के आकर्ष, १२३. अठारह हजार शीलांग, १२४. सात नय, १२५. वस्त्र-ग्रहण की विधि, १२६. आगम आदि पाँच व्यवहार, १२७. चोलपट्टादि पाँच यथाजात, १२८. रात्रि-जागरण की विधि, १२९. आलोचनादायक गुरु की शोध, १३०. आचार्य आदि की प्रतिजागरणा, १३१. उपधि के धोने का समय, १३२. भोजन के भाग[2], १३३. वसति की शुद्धि[3], १३४. संलेखना, १३५. वसति का ग्रहण[4], १३६. जल की अचित्तता, १३७. देव आदि की अपेक्षा से देवी आदि की संख्या, १३८. दस आश्चर्य, १३९. चार प्रकार की भाषा, १४०. वचन के सोलह प्रकार, १४१-२. महीने और वर्ष के पाँच-पाँच प्रकार, १४३. लोक के खण्डक, १४४-७. संज्ञा के तीन, चार, दस और पन्द्रह प्रकार, १४८-९. सम्यक्त्व के सड़सठ और दस भेद, १५०. कुलकोटि की संख्या, १५१. योनि की संख्या, १५२. 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' से शुरू होनेवाले श्लोक की व्याख्या[5], १५३. श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा, १५४-५. धान्य एवं क्षेत्रातीत की अचित्तता, १५६. धान्य के चौबीस प्रकार, १५७. मृत्यु के सत्रह भेद, १५८-६२. पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गलपरावर्त्त का स्वरूप, १६३-४. पन्द्रह कर्मभूमियाँ

१. श्रुतकेवली निश्चय से सम्यक्त्वी होता है। २. कवल—कौर की संख्या।
३. वसति के सात गुण। ४. बैल की कल्पना। ५. यह ९७१वें पद्य के रूप में मूल में समाविष्ट किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और तीस अकर्मभूमियाँ, १६५. मद के आठ प्रकार, १६६. हिंसा के भेद, १६७. १०८ परिणाम, १६८. ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार, १६९. चौबीस काम, १७०. दस प्राण, १७१. दस कल्पवृक्ष, १७२. नरकों के नाम और गोत्र, १७३. नारकावासों की संख्या, १७४-६. नारक के दुःख, आयुष्य और देहमान, १७७. नरक में उत्पत्ति और मृत्यु का विरह, १७८-९. नारकों की लेश्या और उनका अवधिज्ञान, १८०. परमाधार्मिक, १८१. नरकों से निकले हुए जीवों की लब्धि, १८२. नरकों में उत्पन्न होनेवाले जीव, १८३-४. नरक में से निकलनेवालों की संख्या, १८५-६. एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति तथा भवस्थिति, १८७. उनके शरीर का परिमाण, १८८. इन्द्रियों का स्वरूप और उनके विषय, १८९ जीवों की लेश्या, १९०-१ एकेन्द्रिय आदि की गति और आगति, १९२-३. एकेन्द्रिय आदि के जन्म, मरण और विरह तथा उनकी संख्या, १९४ देवों के प्रकार और उनकी स्थिति, १९५. भवनपति इत्यादि के भवन, १९६-८. देवों के देहमान, लेश्या और अवधिज्ञान, १९९-२०१. देवों के उत्पाद-विरह, उद्वर्तना-विरह और उनकी संख्या, २०२-३. देवों की गति और आगति, २०४. सिद्धिगति में विरह, २०५. संसारी जीवों के आहार और उच्छ्वास, २०६. ३६३ पाखण्डी, २०७. आठ प्रकार के प्रमाद, २०८. भरत आदि बारह चक्रवर्ती, २०९. अचल आदि नौ हलधर (बलदेव), २१०. त्रिपृष्ठ आदि नौ हरि (वासुदेव), २११. अश्वग्रीव आदि नौ प्रतिवासुदेव, २१२. चक्रवर्ती के चौदह और वासुदेव के सात रत्न, २१३. नवनिधि, २१४. जीवसंख्याकुलक, २१५-६. कर्म की ८ मूलप्रकृति और १५८ उत्तरप्रकृति, २१७. बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता, २१८. कर्मों की स्थिति, २१९-२२०. ४२ पुण्यप्रकृति और ८२ पापप्रकृति, २२१. औपशमिक आदि छः भाव और उनके प्रकार, २२२-३. जीव एवं अजीव के १४-१४ भेद, २२४. चौदह गुणस्थान, २२५. चौदह मार्गणाएँ, २२६. बारह उपयोग, २२७. पन्द्रह योग, २२८. परलोक की अपेक्षा से गुणस्थान, २२९. गुणस्थान का कालमान, २३०. नारक आदि का विकुर्वणाकाल, २३१. सात समुद्घात, २३२. छः पर्याप्ति, २३३. अनाहारक के चार भेद, २३४. सात भयस्थान, २३५. अप्रशस्त भाषा के छः प्रकार, २३६. श्रावक के २, ८, ३२, ७३५ और १६८०६ प्रकार तथा बारह व्रत के १३, ८४, १२, ८७२०२ भंग, २३७. अठारह पापस्थान, २३८. मुनि के सत्ताईस गुण, २३९. श्रावक के इक्कीस गुण, २४०. मादा तिर्यञ्च की उत्कृष्ट गर्भस्थिति, २४१-२. मनुष्य–स्त्री की गर्भस्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कायस्थिति, २४३. गर्भस्थ जीव का आहार, २४४. गर्भसम्भूति, २४५-६. पुत्र एवं पिता की संख्या, २४७. स्त्री के गर्भाभाव और पुरुष के अबीजत्व का काल, २४८. गर्भ का स्वरूप, २४९. देशविरति आदि के लाभ का समय, २५०. मनुष्यगति की अप्राप्ति, २५१-२. पूर्वांग एवं पूर्व का परिमाण, २५३. लवणशिखा का परिमाण, २५४. उत्सेध आदि तीन प्रकार के अंगुल, २५५. तमस्काय, २५६. सिद्ध आदि छः अनन्त, २५७. अष्टांग निमित्त, २५८. मान, उन्मान और प्रमाण, २५९. अठारह प्रकार के भक्ष्य—भोज्य, २६०. षट्स्थानक वृद्धि और हानि, २६१. संहरण के लिए अयोग्य जीव (श्रमणी आदि), २६२. छप्पन अन्तर्द्वीप, २६३. जीव और अजीव का अल्पबहुत्व, २६४. युगप्रधानों की संख्या, २६५. उत्सर्पिणी में अन्तिम जिन का तीर्थ, २६६. देवों का प्रवीचार[1], २६७. आठ कृष्णराजी, २६८. अस्वाध्याय, २६९. नन्दीश्वर द्वीप का स्वरूप, २७०. अट्ठाईस लब्धियाँ, २७१. विविध तप, २७२. पातालकलश, २७३. आहारक का स्वरूप, २७४. अनार्य देश, २७५. आर्य देश और २७६. सिद्ध के इकतीस गुण।

अन्त में प्रशस्ति के रूप में कर्ता ने अपने वंश का परिचय देकर अपना नाम दिया है और अपनी विनम्रता प्रकट की है।

संक्षेप में कहना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की जानकारी दी गई है; सिद्ध, साधु, श्रावक, काल, कर्मग्रन्थि, आहार, जीवविचार, नय इत्यादि के बारे में अनेक बातें इसमें आती हैं; देव एवं नारकों के विषय में भी विचार किया गया है तथा भौगोलिक और गर्भविद्या के विषय में भी कतिपय बातों का इसमें निर्देश है।

जीवसंखाकुलय (जीवसंख्याकुलक) नाम की सत्रह पद्य की[2] अपनी कृति नेमिचन्द्रसूरि ने २१४ वें द्वार के रूप में मूल में ही समाविष्ट कर ली है। सातवें द्वार की ३०३वीं गाथा में श्रीचन्द्र नामक मुनिपति का उल्लेख है। ऐसा लगता है कि शायद गा० २८७ से ३०३ तक की गाथाएँ उन मुनिवर द्वारा रचित प्राकृत कृति हो।[3] गा० ४७० में श्रीचन्द्रसूरि का उल्लेख है। सम्भवतः वे ही उपर्युक्त मुनिपति हों। गा० ४५७ से ४७० भी शायद उन्हीं की कृति हो।

---

१. अब्रह्म का सेवन।

२. गा० १२३२ से १२४८ तक के इस छोटे से कुलक पर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति है।

३. देखिए—द्वितीय भाग का उपोद्घात, पत्र ४ आ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीचन्द्र नाम के दो या फिर अभिन्न एक ही मुनिवर यहाँ अभिप्रेत हों तो भी उनके विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती, जिसके आधार पर पवयण-सारुद्धार की पूर्वसीमा निश्चित की जा सके। गा० २३५ में आवस्सयचुण्णि का निर्देश है।

टीकाएँ—इस पर सिद्धसेनसूरि की १६५०० श्लोक-परिमाण की तत्त्व-प्रकाशिनी नाम की एक वृत्ति है। इसका रचना-समय 'कविसागररवि' अर्थात् वि० सं० १२४८ अथवा १२७८ है। वृत्ति में अनेक उद्धरण आते हैं। प्रारम्भ के तीन पद्यों में से पहले में जैन-ज्योति की प्रशंसा की गई है और दूसरे में वर्धमान विभु (महावीर स्वामी) की स्तुति है। वृत्ति के अन्त में १९ पद्य की एक प्रशस्ति है, जिससे इसके प्रणेता की गुरु-परम्परा ज्ञात होती है। वह परम्परा इस प्रकार है : अभयदेवसूरि[१], धनेश्वरसूरि, अजितसिंहसूरि, वर्धमानसूरि, देवचन्द्रसूरि, चन्द्रप्रभसूरि, भद्रेश्वरसूरि, अजितसिंहसूरि, देवप्रभसूरि।[२]

सिद्धसेनसूरि ने अपनी इस वृत्ति में स्वरचित निम्नलिखित तीन कृतियों का निर्देश किया है :

१. पउमप्पहचरिय[३]	पत्र ४४० आ
२. सामाआरी	पत्र ४४३ अ
३. स्तुति[४]	पत्र १८० आ ('जम्मि सिरिपासपडिमं' से शुरू होनेवाली)

इसके अतिरिक्त रविप्रभ के शिष्य उदयप्रभ ने इस पर ३२०३ श्लोकप्रमाण 'विषमपद' नाम की व्याख्या लिखी है। यह रविप्रभ यशोभद्र के शिष्य और धर्मघोष के प्रशिष्य थे। इस पर एक और ३३०३ श्लोक-परिमाण की विषमपद-पर्याय नाम की अज्ञातकर्तृक टीका है। एक अन्य टीका भी है, किन्तु उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। पद्ममन्दिरगणी ने इस पर एक बालावबोध लिखा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १६५१ की लिखी मिलती है।

---

१. वादमहार्णव के कर्ता।
२. प्रमाणप्रकाश के प्रणेता।
३. इस कृति का आद्य पद्य ही दिया गया है।
४. इस कृति का एक ही पद्य दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तरिसयठाणपयरण (सप्ततिशतस्थानप्रकरण) :

३५९ गाथा की जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति[1] के प्रणेता सोमतिलकसूरि हैं। ये तपागच्छ के धर्मघोषसूरि के शिष्य सोमप्रभसूरि के शिष्य थे। सोमतिलकसूरि का जन्म वि० सं० १३५५ में हुआ था। इन्होंने दीक्षा १३६९ में ली थी और सूरि-पद १३७३ में प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास १४२४ में हुआ था। इस कृति में ऋषभ आदि तीर्थंकरों के बारे में भव आदि १७० बातों का विचार किया गया है।

टीका—इस पर रामविजयगणी के शिष्य देवविजय ने २९०० श्लोक-परिमाण की एक टीका वि० सं० १३७० में लिखी है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय :

इसके[2] कर्ता प्रवचनसार इत्यादि के टीकाकार दिगम्बर अमृतचन्द्रसूरि हैं। इसमें २२६ आर्या पद्य हैं। इसे 'जिनप्रवचनरहस्यकोश' तथा 'श्रावकाचार'[3]

---

१. इसे देवविजयकृत टीका के साथ जैन आगमोदय समिति ने वि० सं० १९७५ में प्रकाशित की है। इसके पश्चात् श्री ऋद्धिसागरसूरिरचित छाया के साथ मूल कृति 'बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर' बीजापुर की ओर से वि० सं० १९९० में छपी है। इसका ऋद्धिसागरसूरिकृत गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

२. इस ग्रन्थ की प्रथम आवृत्ति रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में वीर संवत् २४३१ (सन् १९०४) में और चौथी वीर संवत् २४७९ (सन् १९५३) में प्रकाशित हुई है। इस चौथी आवृत्ति में पं० नाथूराम प्रेमी की हिन्दी में लिखित भाषा-टीका को स्थान दिया गया है। यह भाषा-टीका पं० टोडरमल की अपूर्ण टीका के आधार पर लिखी गई है। इसके अतिरिक्त जगमन्दरलाल जैनी के अंग्रेजी अनुवाद के साथ मूल कृति सन् १९३३ में प्रकाशित की गई है।

३. यह नाम मेघविजयगणी के 'जुत्तिपबोहनाडय' में आता है। उन्होंने 'जुत्तिपबोहनाडय' (गा० ७) की टीका में 'सव्वे भावा जम्हा' से शुरू होनेवाली गाथा को अमृतचन्द्र-रचित कहा है। यह तथा 'ढाढसी' गाथा में आनेवाली और 'संघो को वि न तारइ' से शुरू होनेवाली गाथा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कहते हैं। इसके प्रारम्भ में परम ज्योति अर्थात् चेतनारूप प्रकाश की जय हो ऐसा कहकर अनेकान्त को नमस्कार किया है। इसके पश्चात् निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप बतलाया है। इसके उपरान्त कर्म के कर्ता और भोक्ता के रूप में आत्मा का उल्लेख, धर्मोपदेश की रीति, सम्यक्त्व का स्वरूप और उसके निःशंकित आदि आठ अंग, सात तत्त्व, सम्यग्ज्ञान की विचारणा, हिंसा का स्वरूप, श्रावक के बारह व्रत और संलेखना तथा उनके पाँच-पाँच अतिचार, तप के दो भेद, छः आवश्यक, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशविध धर्म, बारह भावनाएँ, परीषह, बन्ध का स्वरूप, अनेकान्त की स्पष्टता तथा ग्रन्थकार द्वारा प्रदर्शित लघुता—इस प्रकार अनेक विषयों का आलेखन इसमें किया गया है।

आशाधर ने धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में इसमें से कई पद्य उद्धृत किये हैं।

टीकाएँ और अनुवाद—इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका है। पण्डित टोडरमल ने इस पर एक भाषा-टीका लिखी है, परन्तु उसके अपूर्ण रहने पर दौलतरामजी ने उसे वि० सं० १८२७ में पूर्ण किया है। दूसरी एक भाषा-टीका पं० भूधर ने वि० सं० १८७१ में लिखी है।[1]

तत्त्वार्थसार :

यह[2] दिगम्बर अमृतचन्द्रसूरि की कृति है। समग्र कृति सात अध्यायों में विभक्त है। इसमें जीव आदि सात पदार्थों का निरूपण है।

अ० ५, श्लो० ६ में इन्होंने कहा है कि केवली सचेलक हो सकता है और वह ग्रासाहार—कवलाहार करता है यह विपरीत मिथ्यात्व है। इससे अमृतचन्द्रसूरि दिगम्बर थे ऐसा फलित होता है। अ० ७, श्लो० १० में षष्ठ, अष्टम इत्यादि का प्रयोग आता है। इससे ऐसा सूचित होता है कि इन्हें श्वेताम्बर ग्रन्थों का परिचय था।

अमृतचन्द्र की है ऐसा कहा है, किन्तु यह विचारणीय प्रतीत होता है। देखिए—उपर्युक्त चौथी आवृत्ति में 'जैन साहित्य और इतिहास' में से उद्धृत अंश।

१. इसका अंग्रेजी में अनुवाद जगमंदरलाल जैनी ने किया है और वह छपा भी है।

२. यह सन् १९०५ में 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवतत्तपयरण (नवतत्त्वप्रकरण) :

'जीवाजीवा पुण्णं' से शुरू होनेवाले इस[1] अज्ञातकर्तृक प्रकरण में जैन महाराष्ट्री में विरचित ३० आर्याछन्द हैं। इनमें जीव आदि नव तत्त्वों का स्वरूप बतलाया है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर संस्कृत टीकाएँ निम्नलिखित हैं :

१. देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डन की वृत्ति। कुलमण्डन ने 'रामाब्धि-शक्रं' अर्थात् १४४३ में 'विचारामृतसंग्रह' लिखा है। इनका स्वर्गवास वि० सं० १४५५ में हुआ था।[2]

२. देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्नरचित अवचूरि। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१५ में लिखी मिलती है।

३. अंचलगच्छ के मेरुतुंगसूरि के शिष्य माणिक्यशेखरकृत विवरण। इसका उल्लेख स्वयं उन्होंने अपनी 'आवश्यकदीपिका' में किया है।

४. परमानन्दसूरिरचित २५० श्लोक-परिमाण का विवरण।

५. खरतरगच्छ के सकलचन्द्र के शिष्य समयसुन्दर द्वारा वि० सं० १६९८ में रचित टीका।

६. वि० सं० १७९७ में रत्नचन्द्ररचित टीका।

७. पार्श्वकिपुर गच्छ के कल्याण के प्रशिष्य और हर्ष के शिष्य तेजसिंहकृत टीका। इनके अतिरिक्त दो-तीन अन्य अज्ञातकर्तृक टीकाएँ भी हैं।

गुजराती बालावबोध इत्यादि—देवसुन्दरसूरि के शिष्य सोमसुन्दरसूरि ने वि० सं० १५०२ में एक बालावबोध लिखा है। इसकी इसी वर्ष में लिखी गई हस्तलिखित प्रति मिलती है। हर्षवर्धन उपाध्याय ने भी एक बालावबोध लिखा है। तपागच्छ के शान्तिविजयगणी के शिष्य मानविजयगणी ने पुरानी गुजराती में अवचूरि लिखी है। इसके अतिरिक्त खरतरगच्छ के विवेकरत्नसूरि के शिष्य रत्नपाल ने प्राचीन गुजराती में वार्तिक लिखा है।[3]

---

१. भीमसिंह माणेक ने सन् १९०३ में 'लघुप्रकरणसंग्रह' में इसे प्रकाशित किया था। इसके अलावा अनेक स्थानों से यह प्रकाशित हुआ है।
२. देखिए—पट्टावलीसमुच्चय, भा० १, पृ० ६५.
३. प्रस्तुत कृति के अनेक गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन लिखे गये हैं और वे प्रकाशित भी हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगुलसत्तरि (अंगुलसप्तति) :

इसके[1] रचयिता मुनिचन्द्रसूरि हैं। ये यशोभद्रसूरि के शिष्य, आनन्दसूरि और चन्द्रप्रभसूरि के गुरुभाई तथा अजितदेवसूरि एवं वादी देवसूरि के गुरु थे। इनका स्वर्गवास वि० सं० ११७८ में हुआ था। इन्होंने छोटी-बड़ी ३१ कृतियाँ[2] रची हैं।

अंगुलसत्तरि में जैन महाराष्ट्री में विरचित ७० आर्या पद्य हैं। पहली गाथा में ऋषभदेव को नमन करके अंगुल का लक्षण कहने की प्रतिज्ञा की है। इस रचना में उत्सेधांगुल, आत्मांगुल और प्रमाणांगुल का स्वरूप समझाया है। साथ ही साथ इन तीनों का उपयोग भी सूचित किया है। किसी-किसी विषय में मतान्तरों का उल्लेख करके उनमें दूषण दिखलाया है। नगरी इत्यादि के परिमाण का यहाँ विचार किया गया है।

टीकाएँ—इस पर स्वयं मुनिचन्द्रसूरि की स्वोपज्ञ टीका है। अज्ञातकर्तृक एक अवचूरि भी इस पर है।[3]

छट्ठाणपयरण (षट्स्थानकप्रकरण) :

इसके[4] कर्ता जिनेश्वरसूरि हैं। ये वर्धमानसूरि के शिष्य, बुद्धिसागरसूरि के गुरुभाई तथा नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के गुरु हैं। इन्होंने वि० सं० १०८० में हारिभद्रीय अष्टकप्रकरण पर वृत्ति लिखी है।

प्रस्तुत कृति को 'श्रावकवक्तव्यता' भी कहते हैं। जैन महाराष्ट्री में आर्या छन्द में विरचित इस ग्रन्थ में १०४ पद्य हैं। समग्र कृति छः स्थानकों में विभक्त है। इनके नाम तथा प्रत्येक स्थानक की पद्य-संख्या इस प्रकार है: व्रतपरिकर्मत्व–२६, शीलवत्त्व–२४, गुणवत्त्व–५, ऋजुव्यवहार–१७, गुरु की शुश्रूषा–६, तथा प्रवचनकौशल्य–२६। इन छः स्थानकगत गुणों से विभूषित श्रावक उत्कृष्ट होता

---

१. गुजराती अनुवाद के साथ यह कृति 'महावीर जैन सभा' खम्भात से सन् १९१८ में प्रकाशित हुई है।

२. इनके नाम मैंने सवृत्तिक अनेकान्तजयपताका (खण्ड १) की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ३० पर दिये हैं।

३. किसी ने इसका गुजराती में अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

४. यह जिनपाल की वृत्ति के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड' सूरत से सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ऐसा इसमें कहा गया है। इन छः स्थानकों के अनुक्रम से ४, ६, ५, ४, ३ और ६ भेद किये गये हैं।

टीकाएँ—जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवांगीवृत्तिकार अभयदेव ने इस पर १६३८ श्लोक-परिमाण का एक भाष्य लिखा है।[1] जिनपतिसूरि के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने वि० सं० १२६२ में १४९४ श्लोक-परिमाण की एक वृत्ति संस्कृत में लिखी है। इसके प्रारम्भ में तीन पद्य, प्रत्येक स्थानक के अन्त में एक-एक और अन्त में प्रशस्ति के रूप में ग्यारह पद्य हैं। बाकी का समग्र अंश गद्य में है। इसके अतिरिक्त एक वृत्ति थारापद्र गच्छ के शान्तिसूरि ने लिखी है और एक अज्ञातकर्तृक है।

जीवाणुसासण (जीवानुशासन) :

इसके[2] कर्ता देवसूरि हैं। ये वीरचन्द्रसूरि के शिष्य थे, अतः ये 'वादी' देवसूरि से भिन्न हैं। इस ग्रन्थ में आगम आदि के उल्लेख के साथ जैन महाराष्ट्री में विरचित ३२३ आर्या छन्द हैं। समग्र ग्रन्थ ३८ अधिकारों[3] में विभक्त है। इनमें निम्नांकित विषयों की चर्चा की गई है :

१. जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा, २. पार्श्वस्थ को वन्दन, ३. पाक्षिक प्रतिक्रमण, ४. वन्दनकत्रय, ५. साध्वी द्वारा श्राविका की नन्दी, ६. दान का निषेध, ७. माघमाला का प्रतिपादन, ८. चतुर्विंशतिपट्टक आदि की विचारणा, ९. अविधि-करण, १०. सिद्ध को बलि, ११. पार्श्वस्थ आदि के पास श्रवण आदि, १२. विधिचैत्य, १३. दर्शनप्रभावक आचार्य, १४. संघ, १५. पार्श्वस्थ आदि की अनुवर्तना, १६. ज्ञान आदि की अवज्ञा, १७-८. गच्छ एवं गुरु के वचन का अत्याग, १९. ब्रह्मशान्ति इत्यादि का पूजन, २०. श्रावकों को आगम पढ़ने का अधिकार, २१. शिष्य के कन्धे पर बैठ कर विहार, २२. मासकल्प, २३. आचार्य की मलिनता का विचार, २४. केवल स्त्रियों का व्याख्यान, २५. श्रावकों का पार्श्वस्थ आदि को वन्दन, २६. श्रावक की सेवा, २७ साध्वियों को धर्मकथन का निषेध, २८. जिनद्रव्य का उत्पादन, २९. अशुद्ध ग्रहण का कथन, ३०. पार्श्वस्थ आदि के पास की गई तप की निन्दा, ३१. पार्श्वस्थ आदि द्वारा

---

१. यह अप्रकाशित ज्ञात होता है।

२. यह स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति के साथ 'हेमचन्द्राचार्य जैन सभा' पाटन ने सन् १९२८ में प्रकाशित किया है।

३. इन अधिकारों के नाम ३१७-३२१ गाथाओं में दिये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित जिनमन्दिर में पूजा, ३२. मिथ्यादृष्टि कौन, ३३. वेश का अप्रामाण्य, ३४. असंयत का अर्थ, ३५. प्राणियों का वध करनेवाले को दान, ३६. चारित्र की सत्ता, ३७. आचरणा और ३८. गुणों की स्तुति।

टीका—स्वयं कर्ता ने एक महीने के भीतर ही सिद्धराज जयसिंह के राज्य में अणहिल्लपुर में एक वृत्ति लिखी है। इसके आरम्भ में एक पद्य की और अन्त में पाँच पद्य की एक प्रशस्ति है। इस वृत्ति का संशोधन नेमिचन्द्रसूरि ने किया है।

सिद्धपंचासिया (सिद्धपंचाशिका) :

यह[1] जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि की रचना है। इनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ था। इनकी दूसरी रचनाओं में पाँच नव्य कर्मग्रन्थ, तीन भाष्य, दाणाइकुलय (दानादिकुलक), धर्मरत्नटीका, सवृत्तिक सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) एवं सुदर्शनाचरित्र (सहकर्ता विजयचन्द्रसूरि) हैं। सिद्धपंचासिया जैन महाराष्ट्री में रचित ५० गाथाओं की कृति है। इसकी रचना सिद्धपाहुड के आधार पर हुई है। इसमें सिद्ध के अनन्तर-सिद्ध और परम्परा-सिद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं। प्रथम प्रकार का १. सत्पदप्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव और ८. अल्पबहुत्व इन आठ दृष्टियों से विचार किया गया है। द्वितीय प्रकार का इनके अतिरिक्त सन्निकर्ष द्वारा भी निरूपण है। इन दोनों प्रकार के सिद्धों के विषय में अधोलिखित पन्द्रह बातों के आधार पर प्रकाश डाला गया है :

१. क्षेत्र, २. काल, ३. गति, ४. वेद, ५. तीर्थ, ६. लिंग, ७. चारित्र, ८. बुद्ध, ९. ज्ञान, १०. अवगाहना, ११. उत्कृष्टता, १२. अन्तर, १३. अनुसमय, १४. गणना और १५. अल्पबहुत्व।

टीकाएँ—इस पर स्वयं कर्ता ने ७१० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त कितनी ही टीकाएँ और अवचूरियाँ अज्ञातकर्तृक हैं।[2] विद्यासागर ने वि० सं० १७८१ में इस पर एक बालावबोध भी लिखा है।

---

१. यह अज्ञातकर्तृक अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई है।

२. इनमें से एक अवचूरि प्रकाशित भी हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोयमपुच्छा (गौतमपृच्छा) :

जैन महाराष्ट्री में विरचित इस अज्ञातकर्तृक कृति[1] में ६४ आर्या छन्द हैं। इसमें महावीर स्वामी के आद्य गणधर गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति के द्वारा पूछे गये ४८ प्रश्न प्रारम्भ की बारह गाथाओं में देकर तेरहवीं गाथा से महावीर स्वामी इन प्रश्नों के उत्तर देते हैं। धर्म एवं अधर्म का फल इसमें सूचित किया है। किस कर्म से संसारी जीव नरक आदि गति पाते हैं ? किस कर्म से उन्हें सौभाग्य या दौर्भाग्य, पाण्डित्य या मूर्खता, धनिकता या दरिद्रता, अपंगता, विकलेन्द्रियता, अनारोग्यता, दीर्घसंसारिता आदि प्राप्त होते हैं ? ये प्रश्न यहाँ उठाये गये हैं।

टीकाएँ—इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ संस्कृत में लिखी गई हैं :

१. रुद्रपल्लीय गच्छ के देवभद्रसूरि के शिष्य श्रीतिलकरचित वृत्ति। इसका परिमाण ५६०० श्लोक है और इसका प्रारम्भ 'माधुर्यधुर्य' से किया गया है। यह वृत्ति विक्रम की चौदहवीं शती के उत्तरार्ध में लिखी गई है।

२. वि० सं० १७३८ में जगतारिणी नगरी में खरतरगच्छ के सुमतिहंस के शिष्य मतिवर्धन द्वारा रचित ३८०० श्लोक-परिमाण की वृत्ति।

३-६. अभयदेवसूरि, केसरगणी और खरतरगच्छ के अमृतधर्म के शिष्य क्षमाकल्याण की लिखी हुई तथा 'वीरं जिनं प्रणम्यादौ' से शुरू होनेवाली अज्ञातकर्तृक टीका—इस प्रकार चार दूसरी भी टीकाएँ हैं।

बालावबोध—सुधाभूषण के शिष्य जिनसूरि ने[2], सोमसुन्दरसूरि ने[3] तथा वि० सं० १८८४ में पद्मविजयगणि ने एक-एक बालावबोध लिखा है। इनके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक बालावबोध भी है।

सिद्धान्तार्णव :

इसके कर्ता अमरचन्द्रसूरि हैं। ये नागेन्द्र गच्छ के शान्तिसूरि के शिष्य थे। इन्होंने तथा इनके गुरुभाई आनन्दसूरि ने बाल्यावस्था में प्रखर वादियों को

---

१. यह कृति मतिवर्धन की टीका के साथ हीरालाल हंसराज ने सन् १९२० में छपाई है। इन्होंने ही अज्ञातकर्तृक टीका, जिसमें छत्तीस कथाएँ आती हैं, के साथ भी यह सन् १९४१ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त अज्ञातकर्तृक टीका के साथ मूल कृति 'नेमि-अमृत-खान्ति-निरंजन-ग्रन्थमाला' में वि० सं० २०१३ में प्रकाशित हुई है।

२. इनकी टीका को वृत्ति भी कहते हैं।

३. इनकी टीका को चूर्णि भी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीता था। अतः सिद्धराज जयसिंह ने इन दोनों को अनुक्रम से 'सिंहशिशुक' और 'व्याघ्रशिशुक' विरुद दिये थे। गंगेशकृत तत्त्वचिन्तामणि में जिस सिंहव्याघ्र-लक्षण' का अधिकार है वह इन दोनों सूरियों के व्याप्ति के लक्षण को लक्ष्य में रखकर है ऐसा डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है। सिद्धान्तार्णव की एक भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है।

वनस्पतिसप्ततिका :

इसके रचयिता अंगुलसत्तरि आदि के कर्ता मुनिचन्द्रसूरि हैं। इसके नाम को देखते हुए इसमें ७० पद्य होंगे। इसमें वनस्पति के विषय में जानकारी दी गई होगी। यह कृति अमुद्रित है, अतः इसकी हस्तलिखित प्रति देखने पर ही विशेष कहा जा सकता है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर दो वृत्तियाँ हैं : एक स्वोपज्ञ और दूसरी नागेन्द्र गच्छ के गुणदेवसूरिकृत। एक अवचूरि भी है, किन्तु इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

कालशतक :

यह उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की कृति है। यह अप्रकाशित है, किन्तु नाम से प्रतीत होता है कि इसमें सौ या उससे कुछ अधिक पद्य होंगे और उनमें काल पर प्रकाश डाला गया होगा।

शास्त्रसारसमुच्चय :

इसके[१] कर्ता दिगम्बर माघनन्दी हैं। ये कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। इन्हें 'होयल' वंश के राजा नरसिंह ने सन् १२६५ में अनुदान दिया था। इन्होंने इसके अलावा पदार्थसार, श्रावकाचार और सिद्धान्तसार नाम के ग्रन्थ भी लिखे हैं।

टीका—इस पर कन्नड़ भाषा में एक टीका है।

सिद्धान्तालापकोद्धार, विचारामृतसंग्रह अथवा विचारसंग्रह :

२२०० श्लोक-परिमाण की इस कृति के रचयिता तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डनसूरि हैं।

---

१. यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के २१ वें ग्रन्थांक के रूप में वि० सं० १९७९ में प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विंशतिस्थानकविचारामृतसंग्रह :

वि० सं० १५०२ में रचित २८०० श्लोक-परिमाण की इस कृति[1] के रचयिता तपागच्छ के जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष हैं। इन्होंने इसके आरम्भ में धर्म के दान आदि चार प्रकारों का तथा दान एवं शील के उपप्रकारों का निर्देश करके विंशतिस्थानक-तप को अप्रतिम कहा है। इसके पश्चात् निम्नांकित बीस स्थानक गिनाये हैं :

१. अरिहन्त, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४-७. गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी का वात्सल्य, ८. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ९. दर्शन (सम्यक्त्व), १०. विनय, ११. आवश्यक का अतिचाररहित पालन, १२. शीलव्रत, १३. क्षणलव (शुभध्यान), १४. तप, १५. त्याग, १६. वैयावृत्य, १७. समाधि, १८. अपूर्व-ज्ञानग्रहण, १९. श्रुतभक्ति, २०. प्रवचन की प्रभावना।

इसमें इन बीस स्थानों की जानकारी दी गई है और साथ ही इनसे सम्बद्ध कथाएँ भी पद्य में दी हैं। अन्त में बाईस पद्यों की प्रशस्ति है।

सिद्धान्तोद्धार :

चक्रेश्वरसूरि ने २१३ गाथाओं में सिद्धान्तोद्धार[2] लिखा है। इसे सिद्धान्त-सारोद्धार भी कहते हैं। यह प्रकरणसमुच्चय में छपा है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक सिद्धान्तसारोद्धार भी है।

चच्चरी (चर्चरी) :

इस अपभ्रंश कृति[3] में ४७ पद्य हैं। इसकी रचना खरतरगच्छ के जिनदत्तसूरि ने वाग्जड (वागड) देश के व्याघ्रपुर नामक नगर में की है। इनका जन्म वि० सं० ११३२ में हुआ था। इन्होंने वि० सं० ११४१ में उपाध्याय धर्मदेव के

---

१. यह देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९२२ में प्रकाशित किया है।

२. इस नाम की एक कृति विमलसूरि के शिष्य चन्द्रकीर्तिगणी ने वि० सं० १२१२ में लिखी है। उसमें जैनधर्म और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध लगभग तीन हजार सिद्धान्तों का दो विभागों में निरूपण है।

३. यह कृति संस्कृत छाया तथा उपाध्याय जिनपालरचित व्याख्या के साथ 'गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज् के ३७वें पुष्प के रूप में सन् १९२७ में प्रकाशित 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' में पृ० १-२७ पर छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास दीक्षा ली थी और वि० सं० ११६९ में सूरिपद प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास १२११ में हुआ था।

चैत्यविधि पर प्रकाश डालनेवाली यह चर्चरी नृत्य करनेवाले 'प्रथम मंजरी' भाषा में[1] गाते हैं ऐसा उपाध्याय जिनपाल ने इसकी व्याख्या में लिखा है। इस प्रकार इस नृत्य-गीतात्मक कृति के द्वारा कर्ता ने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की स्तुति की है। इसमें उनकी विद्वत्ता का तथा उनके द्वारा सूचित विधिमार्ग का वर्णन है। विधिचैत्यगृह की विधि, उत्सूत्र भाषण का निषेध इत्यादि बातों को भी यहाँ स्थान दिया गया है।

गणहरसद्धसयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिगणीकृत बृहद्वृत्ति में इस चर्चरी के १६, १८ और २१ से २५ पद्य उद्धृत किये गये हैं।

टीका—चर्चरी पर उपाध्याय जिनपाल ने संस्कृत में वि० सं० १२९४ में एक व्याख्या लिखी है। ये जिनपतिसूरि के शिष्य थे। इन्होंने चर्चरी की बारहवीं गाथा की व्याख्या में उवएसरसायण (उपदेशरसायन) पर वि० सं० १२९२ में अपने लिखे हुए विवरण का उल्लेख किया है।

वीसिया (विंशिका) :

यह उपर्युक्त जिनदत्तसूरि को जैन महाराष्ट्री में रचित कृति है। इस नाम से तो इस कृति का उल्लेख जिनरत्नकोश में नहीं है। प्रस्तुत कृति में बीस पद्य होंगे।

कालसरूवकुलय (कालस्वरूपकुलक) :

इसके[2] कर्ता जिनदत्तसूरि हैं। अपभ्रंश में तथा 'पद्धटिका' छन्द में विरचित इस कृति में विविध दृष्टान्त दिये गये हैं। इसमें उन्होंने अपने समय का विषम स्वरूप दिखलाया है। मीन राशि में शनि की संक्रान्ति होकर मेष राशि में वह जाय और वक्री बने तो देशों का नाश, परचक्र का प्रवेश और बड़े-बड़े नगरों का विनाश होता है। गाय और आक के दूध के दृष्टान्त द्वारा सुगुरु और कुगुरु का भेद, कुगुरु की धतूरे के फूल के साथ तुलना, श्रद्धाहीन

---

१. अपभ्रंशकाव्यत्रयी की प्रस्तावना (पृ० ११४) में इसका 'पढ(ट)मंजरी' के रूप में उल्लेख है। वहाँ पटमंजरी राग के विषय में थोड़ी जानकारी दी गई है।

२. यह कृति उपाध्याय सूरपालरचित व्याख्या के साथ 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' के पृ० ६७–८० में छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों का विपरीत बर्ताव, असंयत की पूजा, चाहिल द्वारा प्रदर्शित मार्ग, एकता के लिए प्रमार्जनी का दृष्टान्त, श्लेषपूर्वक ग्रह और नक्षत्र के दृष्टान्त द्वारा औचित्य से युक्त मनुष्य को धन की प्राप्ति, लोहचुम्बक से युक्त और उससे रहित जहाज के दृष्टान्त द्वारा लोभ के त्याग से होनेवाले लाभ का वर्णन इत्यादि विषय इस कृति में आते हैं।

टीका—इसके रचयिता उपाध्याय सूरप्रभ हैं। ये जिनपतिसूरि के शिष्य और जिनपाल, पूर्णभद्रगणी, जिनेश्वरसूरि तथा सुमतिगणी के सतीर्थ्य थे। इन्होंने उपाध्याय चन्द्रतिलक को विद्यानन्द-व्याकरण पढ़ाया था और दिगम्बर वादी यमदण्ड को स्तम्भतीर्थनगर में हराया था। इन्होंने २८ वें पद्य की व्याख्या में लिखा है कि ग्रह भी धीरे-धीरे नक्षत्रों पर आरोहण करते हैं, अतः धन न मिलने पर आकुल-व्याकुल होना उचित नहीं।

आगमियवत्थुवियारसार (आगमिकवस्तुविचारसार) :

यह[1] जैन महाराष्ट्री में ८६ पद्यों की रचना है।[2] इससे इसे 'छासीइ' (षडशीति) भी कहते हैं। यह प्राचीन कर्मग्रन्थों में से एक माना जाता है। इसमें जीवमार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या का निरूपण है : इसके रचयिता खरतरगच्छ के जिनवल्लभसूरि हैं। इनका स्वर्गवास वि० सं० ११६७ में हुआ था।

टीकाएँ—इसपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं :

१. जिनवल्लभगणीकृत टीका।

२. वृत्ति (वृत्ति)—८०५ श्लोक-परिणाम की जैन महाराष्ट्री में लिखी गई यह वृत्ति कर्ता के शिष्य रामदेवगणी ने वि० सं० ११७३ में लिखी है। इसकी कागज पर लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२४६ की मिलती है। इससे प्राचीन कोई जैन हस्तलिखित कागज की प्रति देखने-सुनने में नहीं आई।

---

१. मलयगिरि की वृत्ति तथा बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि की विवृति के साथ वि० सं० १९७२ में यह जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।

२. एक हस्तलिखित प्रति में ९४ पद्य हैं। इसके लिए देखिए—भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर से प्रकाशित मेरा Descriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts, Vol. XVIII, Part 1, No. 129.

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

३. विवृति—८५० श्लोक-परिमाण की यह संस्कृत विवृति हरिभद्रसूरि ने वि० सं० ११७२ में लिखी है। ये बृहद्गच्छ के जिनदेवसूरि के शिष्य थे।

४. टीका—यह मलयगिरिसूरि की २४१० श्लोक-परिमाण की रचना है।

५. वृत्ति—१६७२ श्लोक-परिमाण की इस वृत्ति के लेखक हैं चन्द्रकुल के धर्मसूरि के शिष्य यशोभद्रसूरि।

६. विवरण—यह मेरुवाचक की कृति है।

७. टीका—यह अज्ञातकर्तृक है।[1]

सूक्ष्मार्थविचारसार अथवा सार्धशतक प्रकरण :

यह[2] खरतरगच्छ के जिनवल्लभसूरि की कृति है। ये नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इनका स्वर्गवास वि० सं० ११६७ में हुआ था। इसमें कर्मसिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

टीकाएँ—इस पर अनेक टीकाएँ हैं। एक अज्ञातकर्तृक भाष्य है। अंगुलसत्तरि इत्यादि के प्रणेता मुनिचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११७० में इस पर एक चुण्णि (चूर्णि) लिखी है। शीलभद्र के शिष्य धनेश्वरसूरि ने ११७१ में ३७०० श्लोक-परिणाम एक वृत्ति लिखी है। दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरि ने ११७२ में लिखी है। तीसरी एक वृत्ति चक्रेश्वर ने भी लिखा है। कर्ता के शिष्य रामदेवगणि ने तथा महेश्वरसूरि ने इस पर एक-एक टीका लिखी है। एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है। किसी ने एक १४०० श्लोकप्रमाण वृत्ति-टिप्पण भी लिखा है।

प्रश्नोत्तररत्नमाला अथवा रत्नमालिका :

२९ पद्यों की[3] यह कृति[4] सर्वमान्य सामान्य नीति पर प्रश्न एवं उत्तर के द्वारा प्रकाश डालती है। इसके प्रणेता विमलसूरि हैं। कई विद्वानों के मत से इसके लेखक दिगम्बर जिनसेन के अनुरागी राजा अमोघवर्ष हैं। कई इसे बौद्ध कृति मानते हैं, तो कई वैदिक हिन्दुओं की।[5]

---

१. कई लोगों का मानना है कि इस पर दो भाष्य भी लिखे गये थे।
२. धनेश्वरसूरि की वृत्ति के साथ इसे जैनधर्म प्रसारक सभा ने छपवाया है।
३. किसी-किसी हस्तलिखित प्रति में ३० पद्य हैं।
४. यह देवेन्द्रकृत टीका के साथ हीरालाल हंसराज ने जामनगर से सन् १९१४ में प्रकाशित की है।
५. इसके विषय में देखिए—मेरी पुस्तक 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास', खण्ड १, पृ० २४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकाएँ—हेमप्रभ ने वि० सं० १२२३ या मतान्तर के अनुसार १२७३ में २१३४ श्लोक-परिमाण की एक वृत्ति लिखी है। इसका आरम्भ 'चन्द्रादित्य-महौषधी' से होता है। ये धर्मघोष के शिष्य यशोघोष के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त उपलब्ध होनेवाली अन्य दो वृत्तियों में से एक वृत्ति मुनिभद्र ने लिखी है और अज्ञातकर्तृक दूसरी ८५८० श्लोक-परिमाण की है।[1] संघतिलक के शिष्य देवेन्द्र ने वि० सं० १४२९ में ७३२६ श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इसमें प्रत्येक प्रश्न के ऊपर एक-एक कथा दी गई है।[2]

सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय :

यह पार्श्वदेवगणी अपर नाम श्रीचन्द्रसूरि की कृति है। ये शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। श्रीचन्द्रसूरि ने न्यायप्रवेशकव्याख्या पर पंजिका और वि० सं० १२२८ में निरयावलीसुयक्खंध पर वृत्ति लिखी है। प्रस्तुत कृति २२६४ श्लोक-प्रमाण है और विविध आगमों की व्याख्याओं में आनेवाले दुर्बोध स्थानों पर प्रकाश डालती है।

इसी नाम की अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध होती हैं। खरतरगच्छीय जिन-राजसूरि के शिष्य जिनभद्रसूरि ने भी 'सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसे 'समस्तसिद्धान्तविषमपदपर्याय' भी कहते हैं। इन जिनभद्रसूरि ने जयसागर की सन्देहदोलावली के संशोधन में वि० सं० १४९५ में सहायता की थी।

●

---

१. इस अज्ञातकर्तृक वृत्ति की वि० सं० १४४१ की एक हस्तलिखित प्रति मिलती है।

२. प्रस्तुत कृति का फ्रेंच भाषा में अनुवाद हुआ है और वह छपा भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय प्रकरण

धर्मोपदेश

उवएसमाला (उपदेशमाला) :

५४२ आर्याछन्द में[1] रचित इस कृति[2] के प्रणेता धर्मदासगणी हैं।[3] इनके विषय में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि ये स्वयं महावीरस्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य थे, परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, क्योंकि इस ग्रन्थ में सत्तर के लगभग जिन कथाओं का सूचन है उनमें वज्रस्वामी का भी उल्लेख है। इसकी भाषा भी आचारांग आदि जितनी प्राचीन नहीं है।

आचारशास्त्र की प्रवेशिका का श्रीगणेश इस कृति से होता है और इस दिशा में मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने सबल प्रयत्न किया है ऐसा उनकी 'उवएस-माला' देखने से ज्ञात होता है। प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित विषयों का रसप्रद एवं सदृष्टान्त निरूपण है :

गुरु का महत्त्व, आचार्य के गुण, विनय, पुरुषप्रधान धर्म, क्षमा, अज्ञान-तपश्चर्या का मूल्य, प्रव्रज्या का प्रभाव, सहनशीलता, पाँच आस्रवों का त्याग, शील का पालन, सम्यक्त्व, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन, चार कषायों पर विजय, सच्चा श्रामण्य, संयम, अप्रमाद, अपरिग्रह और दया।

इस प्रकार इस कृति में जीवन-शोधन और आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री भरी हुई है।

---

१. लगभग ३ गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं।

२. यह अनेक स्थानों से प्रकाशित हुई है। बम्बई से सन् १९२६ में 'श्री श्रुतज्ञान अमीधारा' के पृ० १२२–१५० में छपी है। इसके अलावा जामनगर से हीरालाल हंसराज ने सन् १९३४ में रामविजयगणीकृत वृत्ति के साथ तथा सन् १९३९ में सिद्धर्षि की टीका के साथ यह प्रकाशित की है। रामविजयगणीकृत टीका का गुजराती अनुवाद भी छपा है।

३. देखिए—अन्तिम भाग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'दोससयमूलजालं' से प्रारम्भ होनेवाली इस कृति की ५१ वीं गाथा के सौ अर्थ उदयधर्म ने वि० सं० १६०५ में किये हैं। ४७१ वीं गाथा में 'मासाइस' नामक पक्षी का उल्लेख है।

टीकाएँ—प्रस्तुत 'उवएसमाला' पर लगभग बीस संस्कृत टीकाएँ हैं। कृष्णर्षि के शिष्य जयसिंह ने वि० सं० ९१३ में जैन महाराष्ट्री में एक 'वृत्ति' लिखी है। दुर्गस्वामी के शिष्य और उपमितिभवप्रपंचाकथा के रचयिता सिद्धर्षि ने इस पर वि० सं० ९६२ में 'हेयोपादेया' नाम की ९५०० श्लोक-परिमाण एक दूसरी वृत्ति लिखी है। उवएसमाला की सब टीकाओं में यह अग्रस्थानीय है। इस पर लिखी गई एक दूसरी महत्त्व की टीका का नाम 'दोघट्टी' है।[1] 'वादी' देवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि की यह टीका ११५५० श्लोक-परिमाण है और इसका रचनाकाल वि० सं० १२३८ है। इसमें सिद्धर्षि का उल्लेख है। इस टीका में एक रणसिंह की कथा आती है, जिसमें कहा गया है कि वे विजयसेन राजा और विजया रानी के पुत्र थे। ये विजयसेन दीक्षा लेकर अवधिज्ञानी हुए थे और उन्होंने अपने सांसारिक पुत्र के लिए 'उवएसमाला' लिखी थी। ये विजयसेन ही धर्मदासगणी हैं। दोघट्टी की वि० सं० १५२८ में लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति में चार विभाग करके प्रत्येक विभाग को 'विश्राम' कहा है। इसके अलावा उसके पुनः दो विभाग करके उसे 'खण्ड' संज्ञा भी दी है। प्रथम खण्ड में प्रारम्भ की ९१ गाथाएँ हैं। दोघट्टी वृत्ति में उवएसमाला में सूचित कथाएँ जैन महाराष्ट्री में और कुछ अपभ्रंश में हैं, जबकि व्याख्या तो संस्कृत में ही है।

सिद्धर्षिकृत हेयोपादेया में कथानक अल्प और संक्षिप्त होने से वर्धमानसूरि ने उसमें और कथानक जोड़ दिये हैं। उसकी वि० सं० १२९८ में लिखित एक प्रति मिलती है। नागेन्द्रगच्छ के विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ ने १२९९ में १२२७४ श्लोक-परिमाण की 'कणिका' नाम की एक टीका लिखी है।[2]

---

१. इसकी पहली गाथा में 'घटाघटी' ऐसा शब्द-प्रयोग आता है, जिसके आधार पर इस टीका का नाम 'दोघट्टी' पड़ा है ऐसा कई लोगों का मानना है। इस टीका को 'विशेषवृत्ति' भी कहते हैं।

२. इनके अतिरिक्त दूसरी संस्कृत आदि टीकाओं का निर्देश मैंने अपने लेख 'धर्मदासगणीकृत उवएसमाला अने एनां प्रकाशनो तथा विवरणो' (आत्मानन्द प्रकाश) में किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवएसपय (उपदेशपद) :

१०३९ आर्याछन्द में जैन महाराष्ट्री में लिखित इस ग्रन्थ[1] के रचयिता हरिभद्रसूरि हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ में उत्तराध्ययन की निर्युक्ति, नन्दी, सन्मति-प्रकरण आदि की कई गाथाएँ मूल में ही गूँथ ली हैं।[2] इस कृति में मानवभव की दुर्लभतासूचक दस दृष्टान्त, जैन आगमों का अध्ययन, चार प्रकार की बुद्धि, धार्मिक बोध देने की और ग्रहण करने की पद्धति, वाक्यार्थ, महावाक्यार्थ एवं ऐदम्पर्यार्थ की स्पष्टता इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है।

टीकाएँ—उवएसपय के ऊपर किसी ने गहन वृत्ति रची थी ऐसा इस कृति की मुनिचन्द्रसूरिरचित (वि० सं० ११७४) सुखसम्बोधनी नाम की विवृति के प्रारम्भिक भाग (श्लोक ३) से ज्ञात होता है। इस महाकाय[3] विवृति के रचयिता को उनके शिष्य रामचन्द्रगणी ने सहायता की थी। इस विवृति में कई कथानक जैन महाराष्ट्री में हैं।

वि० सं० १०५५ में श्री वर्धमानसूरि ने इसपर एक टीका लिखी है। इसकी प्रशस्ति पार्श्विलगणी ने रची है। इस समग्र टीका का प्रथमादर्श आर्यदेव ने तैयार किया था। 'वन्दे देवनरेन्द' से शुरू होनेवाली इस टीका का परिमाण ६४१३ श्लोक है। मूल पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

उपदेशप्रकरण :

१००० श्लोक-परिमाण की यह पद्यात्मक कृति[4] अज्ञातकर्तृक है। इसमें धर्म, पूजा, दान, दया, सज्जन, वैराग्य और सूक्त जैसे विविध अधिकारों को स्थान दिया गया है।

---

१. यह मुनिचन्द्रसूरि की सुखसम्बोधनी नाम की विवृति के साथ 'मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला' में दो विभागों में अनुक्रम से सन् १९२३ और सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ है।

२. धर्मोपदेशमाला-विवरण के प्रास्ताविक (पृ० १४) में जिनविजयजी ने उवएसपय को धर्मदासगणीकृत उवएसमाला की अनुकृतिरूप माना है।

३. मूल कृति के साथ इसका श्लोक-परिमाण १४,५०० है।

४. इसके परिचय के लिए देखिए—Descriptive Catalogue of Govt. Collections of Mss. Vol. XVIII, pp. 331–2.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मोवएसमाला (धर्मोपदेशमाला) :

जैन महाराष्ट्री में ९८ आर्याछन्द में रचित इस कृति[1] के लेखक कृष्ण मुनि के शिष्य और प्रस्तुत कृति के आद्य विवरणकार जयसिंहसूरि माने जाते हैं। यह धर्मदासगणीकृत उवएसमाला का प्रायः अनुकरण करती है।

टीका—इस कृति पर उपर्युक्त जयसिंहसूरि ने ५,७७८ श्लोक-परिमाण एक विवरण नागोर में वि० सं० ९१५ में पूर्ण किया था। इसमें व्याख्या संस्कृत में है, परन्तु १५६ कथाएँ जैन महाराष्ट्री में हैं। ये कथाएँ अनेक दृष्टि से महत्त्व की हैं। सत्पुरुष के संग की महिमा को सूचित करने के लिए १९ वीं गाथा के विवरण में वंकचूलि की कथा दी गई है। पृ० १९३-४ पर ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुतिरूप जयकुसुममाला की रचना विवरणकार ने जैन महाराष्ट्री में की है। इसके अतिरिक्त इस विवरण के अन्त में इन तीर्थंकरों के गणधर एवं श्रुतस्थविरों[2] के बारे में जैन महाराष्ट्री पद्य में जानकारी दी गई है। प्रस्तुत विवरण में धर्मदासगणीकृत उवएसमाला के अपने (जयसिंहसूरि के) विवरण का अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। इन्होंने 'द्विमुनिचरित'[3] तथा 'नेमिनाथचरित' भी लिखे हैं।

इस पर हर्षपुरीय गच्छ के (मलधारी) हेमचन्द्रसूरि के पट्टधर विजयसिंह-सूरि ने वि० सं० ११९१ में १४,४७१ श्लोक-परिमाण विवरण संस्कृत में लिखा है। इसमें कथाओं का विस्तार है। इसके अतिरिक्त मदनचन्द्रसूरि के शिष्य मुनिदेव ने वि० सं० १३२५ में एक वृत्ति लिखी है और उसमें उन्होंने जयसिंह-सूरिकृत विवरण का उपयोग किया है।

उवएसमाला (उपदेशमाला) :

'पुष्पमाला' के नाम से भी प्रसिद्ध और 'कुसुममाला' का गौण नाम धारण करनेवाली तथा आध्यात्मिक रूपकों से अलंकृत जैन महाराष्ट्री के ५०५

---

१. यह कृति जयसिंहसूरिकृत विवरणसहित 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' के २८ वें ग्रन्थांक के रूप में सन् १९४९ में प्रकाशित हुई है।

२. जम्बूस्वामी से लेकर देववाचक तक के।

३. देखिए—उपर्युक्त प्रकाशन की प्रस्तावना, पृ० ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्याछन्द में रचित इस कृति[1] के प्रणेता मलधारी हेमचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने इसमें अपना नाम धर्मदासगणी की भाँति कुशलतापूर्वक सूचित किया है। यह धर्मदासगणी की उवएसमाला की अनुकरणरूप कृति है। इसमें विविध दृष्टान्त देकर अधोलिखित बीस अधिकारों का निरूपण किया गया है :

१. अहिंसा, २. ज्ञान, ३. दान, ४. शील, ५. तप, ६. भावना, ७. सम्यक्त्व की शुद्धि, ८. चारित्र की शुद्धि, ९. इन्द्रियों पर विजय, १०. कषायों का निग्रह, ११. गुरुकुलवास, १२. दोषों की आलोचना, १३. भववैराग्य, १४. विनय, १५. वैयावृत्य, १६. स्वाध्याय-प्रेम, १७. अनायतन का त्याग, १८. निन्दा का परिहार, १९. धर्म में स्थिरता और २०. अनशनरूप परिज्ञा।

टीकाएँ—बृहट्टिप्पनिका (क्रमांक १७७) के अनुसार स्वयं लेखक की स्वोपज्ञ वृत्ति वि० सं० ११७५ में रची गई है। इसका परिमाण लगभग १३,००० श्लोक है। इसमें मूल कृति में दृष्टान्त द्वारा सूचित कथाएँ गद्य और पद्य में जैन महाराष्ट्री में दी गई हैं। इसके अतिरिक्त इस पर अंचल-गच्छ के जयशेखरसूरि ने वि० सं० १४६२ में १९०० श्लोक-परिमाण अवचूरि, साधुसोमगणी ने वि० सं० १५१२ में वृत्ति, अन्य किसी ने वि० सं० १५१९ से पहले एक दूसरी वृत्ति और मेरुसुन्दर ने बालावबोध की रचना की है।[2]

उवएसरसायण (उपदेशरसायन) :

चच्चरी इत्यादि के कर्ता जिनदत्तसूरि ने 'पद्धटिका' छन्द में अपभ्रंश में इसकी[3] रचना की है। इसके विवरणकार के मतानुसार यह सब रागों में गाया जाता है। इसमें लोकप्रवाह, सुगुरु का स्वरूप, चैत्यविधि तथा श्रावक एवं श्राविका की हितशिक्षा—इन सब विषयों को स्थान दिया गया है।

---

१. श्री कर्पूरविजयजीकृत भावानुवाद के साथ यह कृति 'जैन श्रेयस्कर मण्डल,' महेसाणा ने सन् १९११ में प्रकाशित की है। इसके पश्चात् स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ यह 'ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था', रतलाम से वि० सं० १९९३ में प्रकाशित की गई है।

२. श्री कर्पूरविजयजी ने इसका भावानुवाद किया है और वह छप भी चुका है।

३. यह 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' (पृ० २९–६६) में जिनपालकृत संस्कृत व्याख्या के साथ छपी है। कर्ता ने अन्तिम पद्य में 'उवएसरसायण' नाम दिया है। जिनपाल ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में इसे उपदेशरसायन एवं धर्मरसायन रासक (रासा) कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति के ४, ६, २७, २९, ३३, ३४, ६९ और ७१ पद्य गणहर-सद्धसयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिगणी की बृहद्वृत्ति में उद्धृत किये गये हैं।

टीकाएँ—जिनपाल ने वि० सं० १२९२ में संस्कृत में एक व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त भांडागारिक नेमिचन्द्र ने इसपर एक विवरण लिखा था, ऐसा कई लोगों का कहना है।

उपदेशकन्दली :

जैन महाराष्ट्री के १२५ पद्य में रचित इस कृति के प्रणेता आसड हैं। ये 'भिन्नमाल' कुल के कटुकराज के पुत्र और जासड के भाई थे। इनकी माता का नाम रआनलदेवी था। इनकी यह रचना अभयदेवसूरि के[1] उपदेश का परिणाम है। इन्हीं आसड ने वि० सं० १२४८ में विवेगमंजरी (विवेकमंजरी) लिखी है। इनकी पृथ्वीदेवी और जैतल्ल नाम की दो पत्नियाँ थीं। जैतल्लदेवी से इन्हें राजड और जैत्रसिंह नाम के दो पुत्र हुए थे।

टीका—उपर्युक्त अभयदेवसूरि के शिष्य हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि ने आसड के पुत्र जैत्रसिंह की विज्ञप्ति से इसपर ७,६०० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी थी और इस कार्य में प्रद्युम्न[2] एवं पद्मचन्द्र ने[3] सहायता की थी। इसकी वि० सं० १२९६ में लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति मिलती है। इस टीका का तथा मूल कृति का कुछ भाग Descriptive Catalogue of Govt. Collections of Mss. (Vol. XVIII, part 1) में छपा है।

हितोपदेशमाला-वृत्ति :

इसे हितोपदेशमाला प्रकरण भी कहते हैं।[4] यह प्रकरण परमानन्दसूरि ने वि० सं० १३०४ में लिखा था। ये नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि के शिष्य थे।

---

१. ये 'चन्द्र' कुल के देवेन्द्रसूरि के शिष्य भद्रेश्वर के पट्टधर थे।

२. ये देवानन्द-गच्छ के कनकप्रभ के शिष्य थे।

३. ये बृहद्-गच्छ के धनेश्वरसूरि के शिष्य थे।

४. देखिए—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवएसचिंतामणि (उपदेशचिंतामणि) :

जैन महाराष्ट्री के ४१५ पद्यों में रचित इस कृति[१] के लेखक अंचलगच्छ के महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य जयशेखरसूरि हैं। यह चार अधिकारों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः धर्म की प्रशंसा, धर्म की सामग्री, देशविरति एवं सर्वविरति का निरूपण है। चतुर्थ अधिकार के उपान्त्य (१५७ वें) पद्य में कर्ता ने अपना प्राकृत नाम कुंजर, नयर, विसेस, आहव, सरस, पसूण और वरिस इन शब्दों के मध्याक्षर द्वारा सूचित किया है।

टीकाएँ—इस पर एक स्वोपज्ञ टीका है, जिसका श्लोक-परिमाण १२,०६४ है। यह टीका वि० सं० १४३६ में 'नृसमुद्र' नगर में रची गई थी। इसके अतिरिक्त स्वयं कर्ता ने इसी वर्ष में ४३०५ श्लोक-परिमाण की अवचूरि भी लिखी है। मेरुतुंग ने इसपर एक वृत्ति और किसी अज्ञात लेखक ने एक अवचूरि भी लिखी है।[२]

प्रबोधचिन्तामणि :

यह उपर्युक्त जयशेखरसूरि की वि० सं० १४६२ में १९९१ पद्यों में लिखी गई कृति[3] है। यह सात अधिकारों में विभक्त है और उनमें मोह और विवेक का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रथम अधिकार में चिदानन्दमय प्रकाश को वन्दन करके परमात्मा का निरूपण किया गया है। दूसरे में आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले पद्मनाभ तथा उनके शिष्य धर्मरुचि का जीवनवृत्तान्त है। तीसरे में मोह और विवेक की उत्पत्ति तथा मोह के द्वारा राज्य की प्राप्ति का वर्णन आता है। चौथे में विवेक का विवाह तथा उसे प्राप्त राज्य के विषय में निरूपण है। पाँचवें में मोह द्वारा भेजे गये दूत और कन्दर्प के दिग्विजय की बात आती है। छठे में कन्दर्प का प्रवेश, 'कलि' काल और विवेक का प्रस्थान

---

१. स्वोपज्ञ टीका एवं गुजराती अनुवाद के साथ यह कृति चार भागों में हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित की है, परन्तु जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४७) में मूल कृति में ५४० गाथाओं के होने का और हीरालाल हंसराज ने सन् १९१९ में प्रकाशित की है, ऐसा उल्लेख है।

२. मूल एवं स्वोपज्ञ टीका का श्री हरिशंकर कालिदास शास्त्री ने गुजराती में अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।

३. यह ग्रन्थ जैन धर्म प्रसारक सभा ने वि० सं० १९६५ में प्रकाशित किया है। इसी सभा ने इसका गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपित है। सातवें में मोह और विवेक का युद्ध, विवेक की जय, परमात्मा का वर्णन और ग्रन्थकार की प्रशस्ति है। इसमें प्रसंगोपात्त अजैन दर्शनों के बारे में भी जानकारी दी गई है।

उपदेशरत्नाकर :

यह[1] अध्यात्मकल्पद्रुम आदि के रचयिता और सोमसुन्दरसूरि के शिष्य सहस्रावधानी मुनिसुन्दरसूरि[2] की पद्यात्मक कृति है। अनेक दृष्टान्तों से अलंकृत यह कृति सर्वांशतः संस्कृत या जैन महाराष्ट्री में नहीं है। इसमें कुल ४४७ पद्य हैं, जिनमें से २३४ संस्कृत में और अवशिष्ट २१३ जैन महाराष्ट्री में हैं। बीच-बीच में ५६ पद्य उद्धरणरूप आते हैं। उन्हें न गिनें तो यह कृति ३९१ पद्यों की कही जा सकती है।

यह समग्र कृति तीन अधिकारों में विभक्त है। इसमें प्रथम अधिकार को 'प्राच्यतट' और अन्तिम को 'अपरतट' कहा है। पहले के दो अधिकारों में चार-चार अंश और प्रत्येक अंश में अल्पाधिक तरंग हैं। अन्तिम तट के आठ विभाग हैं और इनमें से पहले के चार का 'तरंग' के नाम से निर्देश है।[3]

इस कृति में विविध विषयों का निरूपण किया गया है, जैसे कि श्रोता की योग्यता, गुरुओं की योग्यता, सच्चा धर्म, जीवों का वैविध्य, साधुओं की वृत्ति, धर्म का फल, क्षत्रिय आदि के धर्म, जिनपूजा और जिनेश्वर का स्वरूप।

---

१. इस कृति के पहले दो अधिकारों का स्वोपज्ञ वृत्तिसहित प्रकाशन देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९१४ में किया है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ५२) में इस प्रकाशन का वर्ष सन् १९२२ दिया है, किन्तु वह भ्रान्त है। इसकी सम्पूर्ण आवृत्ति चन्दनसागरजी के गुजराती अनुवाद और मेरी विस्तृत प्रस्तावना के साथ 'जैन पुस्तक-प्रचारक संस्था' ने वि० सं० २००५ में प्रकाशित की है।

२. इनके जीवनकाल एवं कृति-कलाप के विषय में मैंने उपर्युक्त भूमिका (पृ० ५९-९२) में ब्योरेवार परिचय दिया है। इनका जन्म वि० सं० १४०३ और स्वर्गवास वि० सं० १५०३ में माना जाता है।

३. देखिये—उपर्युक्त भूमिका (पृ० ८)। वहाँ कुछ विशेष बातें दी गई हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका—स्वयं कर्ता ने इस पर एक वृत्ति लिखी है। इसका अथवा मूलसहित इसका परिमाण ७६७५ श्लोक है। अपरतट पर वृत्ति नहीं है।[1]

१. उपदेशसप्ततिका :

इसका[2] दूसरा नाम 'गृहस्थधर्मोपदेश' भी है। वि० सं० १५०३ में रचित ३००० श्लोक-परिमाण की इस कृति के रचयिता सोमधर्मगणी हैं। ये सोमसुन्दरसूरि के शिष्य चारित्ररत्नगणी के शिष्य थे। यह पाँच अधिकारों में विभक्त है। इसमें उपदेशात्मक ७५ कथाएँ हैं। प्रस्तुत कृति में देव-तत्त्व, गुरु-तत्त्व और धर्म-तत्त्व का निरूपण है। पहले और तीसरे तत्त्व के लिये दो-दो और दूसरे के लिये एक अधिकार है। इन पाँच अधिकारों में से पहले अधिकार में तीर्थंकर की पूजा, देवव्रत इत्यादि विषय हैं। दूसरे में तीर्थ का और तीसरे में गुरु के गुणों का कीर्तन, वन्दन एवं उनकी पूजा का वर्णन आता है। चौथा चार कषाय-विषयक है और पाँचवाँ गृहस्थ-धर्मविषयक है।[3]

२. उपदेशसप्ततिका :

इसकी[4] रचना खरतरगच्छ के क्षेमराज ने की है।

टीकाएँ—इसपर स्वयं लेखक की एक टीका है। ७९७५ श्लोक-परिमाण यह टीका वि० सं० १५४७ में लिखी गई थी। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

---

१. श्री चन्दनसागरजी ने इस मूल कृति का गुजराती में अनुवाद किया है और वह छपा भी है।
२. यह कृति जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७१ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त 'जैन सस्तु साहित्य ग्रन्थमाला' में वि० सं० १९९८ में भी यह प्रकाशित हुई है।
३. इसका गुजराती अनुवाद जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।
४. यह ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका एवं गुजराती अनुवाद के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने (मूल और टीका सन् १९१७ में तथा अनुवाद वि० सं० १९७६ में) प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशतरंगिणी :

३३०० श्लोक-परिमाण की इस गद्यात्मक कृति[1] को 'धर्मोपदेशतरंगिणी' भी कहते हैं। इसके रचयिता हैं रत्नमन्दिरगणी। ये तपागच्छ के सोमसुन्दरसूरि के शिष्य नन्दिरत्नगणी के शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० १५१७ में 'भोजप्रबन्ध' लिखा है। अनेक दृष्टान्त एवं सूक्तियों से अलंकृत प्रस्तुत कृति का प्रारम्भ शत्रुंजय इत्यादि विविध तीर्थों के संकीर्तन के साथ किया गया है। यह कृति कमोबेश उपदेशवाले पाँच तरंगों में विभक्त है। अन्तिम दो तरंग पहले तीन की अपेक्षा बहुत छोटे हैं। पहले तरंग में दान, शील, तप और भाव का निरूपण है। दूसरे में जिनमन्दिर इत्यादि सात क्षेत्रों में दान देने का कथन है। तीसरे तरंग में जिनपूजा का, चौथे में तीर्थयात्रा का और पाँचवें में धर्मोपदेश का अधिकार है। पत्र २६८ में वसन्तविलास के नामोल्लेख के साथ एक उद्धरण दिया गया है।[2]

१. आत्मानुशासन :

यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है, परन्तु अबतक यह उपलब्ध नहीं है।

२. आत्मानुशासन :

२७० श्लोकों की यह कृति[3] दिगम्बर जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र की रचना है। इसमें विविध छन्दों का उपयोग किया गया है। इसमें शिकार का

---

१. यह कृति यशोविजय जैन ग्रन्थमाला में बनारस से वीर संवत् २४३७ में प्रकाशित हुई है। इसकी वि० सं० १५१९ की एक हस्तलिखित प्रति मिली है। इसकी जानकारी मैंने DCGCM (Vol. XVIII, Part I, No. 201) में दी है।

२. इसका हीरालाल हंसराज ने गुजराती में अनुवाद किया है, जो अनेक दृष्टियों से दूषित है।

३. यह 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है। टीका एवं जगमन्दरलाल जैनी के अंग्रेजी अनुवाद के साथ यह Sacred Books of the Jainas ग्रन्थमाला में आरा से सन् १९२८ में छपा है। पं० टोडरमलरचित भाषाटीका के साथ इसे इन्द्रलाल शास्त्री ने जयपुर से 'मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला' में वीर संवत् २४८२ में छपाया है। इसके अतिरिक्त पं० वंशीधर शास्त्रीकृत भाषाटीकासहित भी मूल कृति छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषेध, काल की करालता, परीषह एवं दुःखों का सहन करना, गुरु की कठोर वाणी की आदरणीयता, आत्मा का स्वरूप इत्यादि बातें आती हैं। इसमें मुक्ति की साधना के लिये उपदेश दिया गया है। २६९ वाँ श्लोक श्लेषात्मक है। इसके द्वारा कर्ता ने अपना और अपने गुरु का नाम सूचित किया है।

टीका—इसपर प्रभाचन्द्र ने एक टीका लिखी है। इसी को आत्मानुशासन-तिलक कहते हैं या अन्य किसी को, यह विचारणीय है। इस मूल कृति पर पं० टोडरमल ने तथा पं० वंशीधर शास्त्री ने एक-एक भाषा-टीका लिखी है।[1]

धर्मसार :

यह हरिभद्रसूरि की कृति है। कृति का उल्लेख पंचसंग्रह (गा० ८) की टीका (पत्र ११ आ) में मलयगिरिसूरि ने किया है, परन्तु यह अभी तक तो अप्राप्य ही है।

टीका—प्रस्तुत कृति पर मलयगिरिसूरि ने एक टीका लिखी है, किन्तु वह भी मूल की भाँति अप्राप्य है। इस टीका का उल्लेख मलयगिरि ने धर्मसंग्रहणी में किया है।

धर्मबिन्दु :

यह हरिभद्रसूरि की आठ अध्यायों में विभक्त कृति[2] है। इन अध्यायों में अल्पाधिक सूत्र हैं। इनकी कुल संख्या ५४२ है। यह कृति गृहस्थ एवं श्रमणों के सामान्य तथा विशेष धर्मों पर प्रकाश डालती है। इसमें अधोलिखित अध्याय हैं: १. गृहस्थसामान्यधर्म, २. गृहस्थदेशनाविधि, ३. गृहस्थविशेषदेशनाविधि, ४. यतिसामान्यदेशनाविधि, ५. यतिधर्मदेशनाविधि, ६. यतिधर्मविशेषदेशनाविधि, ७. धर्मफलदेशनाविधि, ८. धर्मफलविशेषदेशनाविधि।

---

१. श्री जगमन्दरलाल जैनी ने इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया है।

२. यह मुनिचन्द्रसूरि की टीका के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९६७ में प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद सन् १९२२ में छपा है। इसके अतिरिक्त मुनिचन्द्रसूरि की टीकासहित मूल कृति का अमृतलाल मोदी-कृत हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी जैन साहित्य प्रचारक मण्डल', अहमदाबाद ने सन् १९५१ में प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कृति मार्गानुसारी के ३५ गुणों पर प्रकाश डालती है।

टीका—इसपर मुनिचन्द्रसूरि ने ३००० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० ११८१ की मिलती है।[1]

धर्मरत्नकरण्डक :

९५०० श्लोक-परिमाण का यह ग्रन्थ[2] अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमान ने वि० सं० ११७२ में लिखा है।

टीका—इसपर वि० सं० ११७२ की लिखी स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके संशोधकों के नाम अशोकचन्द्र, धनेश्वर, नेमिचन्द्र और पार्श्वचन्द्र हैं।

धम्मविहि (धर्मविधि)

यह चन्द्रकुल के सर्वदेवसूरि के शिष्य श्रीप्रभसूरि की कृति[3] है। जैन महाराष्ट्री में रचित इसमें ५० पद्य हैं। इसमें निम्नलिखित आठ द्वारों का निरूपण है : १. धर्म की परीक्षा, २. उसकी प्राप्ति, २. धर्म के गुण अर्थात् अतिशय, ४. धर्म के नाश के कारण, ५. धर्म देनेवाले गुरु, ६. धर्म के योग्य कौन, ७. धर्म के प्रकार और ८. धर्म का फल।

---

१. इसका गुजराती अनुवाद मणिलाल दोशी ने किया है और वह छपा भी है। मूल एवं उपर्युक्त टीका का हिन्दी अनुवाद अमृतलाल मोदी ने किया है। यह भी प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त डा० सुआली ने इटालियन भाषा में भी मूल का अनुवाद किया है। पहले तीन अध्यायों का अनुवाद टिप्पणियों के साथ Journal of the Italian Asiatic Society (Vol. 21) में छपा है।

२. यह कृति हीरालाल हंसराज ने दो भागों में सन् १९२५ में प्रकाशित की है।

३. पहले केवल मूल कृति 'हंसविजयजी फ्री लायब्रेरी' ने वि० सं० १९५४ में छपवाई थी, परन्तु बाद में सन् १९२४ में उदयसिंहसूरिकृत वृत्ति एवं संस्कृत छाया के साथ यह कृति उक्त लायब्रेरी ने पुनः प्रकाशित की। इसके प्रारम्भ में मूल कृति तथा उसकी संस्कृत छाया भी दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन द्वारों के निरूपण में विभिन्न उदाहरण दिये गये हैं। कथाएँ इस प्रकार हैं : इलापुत्र, उदयननृप, कामदेव श्रावक, जम्बूस्वामी, नन्दमणिकार, प्रदेशी राजा, मूलदेव, वंकचूल, विष्णुकुमार, सम्प्रति राजा, सुभद्रा, सुरदत्त श्रेष्ठी और स्थूलिभद्र। इन कथाओं की पद्य-संख्या ४३७५ है। इनमें से केवल जम्बूस्वामी कथा के पद्य १४५० हैं।

इसमें सम्यक्त्व की प्राप्ति से लेकर देशविरति की प्राप्ति तक का क्रम बतलाया है। इनमें दानादि चतुर्विध धर्म तथा गृहस्थ-धर्म एवं साधु-धर्म इस प्रकार द्विविध धर्म के विषय में कथन है। इन धर्मों का निरूपण करते समय सम्यक्त्व के दस प्रकार और श्रावक के बारह व्रतों का निर्देश किया गया है।

टीकाएँ—स्वयं कर्ता ने इस पर टीका लिखी थी, किन्तु उनके प्रशिष्य उदयसिंह ने वि० सं० १२५३ में उसके खो जाने का उल्लेख धर्मविधि की अपनी वृत्ति की प्रशस्ति (श्लो० ६) में किया है। उदयसिंह की यह वृत्ति ५५२० श्लोक-परिमाण है और चन्द्रावती में वि० सं० १२८६ में लिखी गई है। इसमें मूल में दिये गये उदाहरणों की स्पष्टता के लिए तेरह कथाएँ दी गई हैं। ये कथाएँ जैन महाराष्ट्री में रचित पद्यों में हैं। इस वृत्ति के अन्त में बीस पद्यों की प्रशस्ति है।

इस पर एक और वृत्ति जयसिंहसूरि की है, जो १११४२ श्लोक-परिमाण है। इन्होंने 'उवएससार' ऐसे नामान्तरवाली अन्य धम्मविहि पर टीका लिखी है।

धर्मामृत :

दिगम्बर आशाधर[1] द्वारा दो भागों में रचित यह पद्यात्मक कृति[2] है। इन दोनों भागों को अनुक्रम से 'अनगारधर्मामृत' और 'सागारधर्मामृत' कहते

---

१. इन्होंने पूज्यपादरचित 'इष्टोपदेश' एवं उसकी स्वोपज्ञ मानी जाती टीका के ऊपर टीका लिखी है और उसमें उपर्युक्त स्वोपज्ञ टीका का समावेश किया है।

२. यह कृति स्वोपज्ञ टीका के साथ माणिकचन्द्र दिगम्बर ग्रन्थमाला में छपी है। इसके अतिरिक्त सागारधर्मामृत 'विजयोदया' टीका के साथ 'सरल जैन ग्रन्थमाला' ने जबलपुर से वीर संवत् २४८२ और २४८४ में छपवाया है। उसमें मोहनलाल शास्त्री का हिन्दी अनुवाद भी छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। पहले भाग में नौ अध्याय हैं। उनमें साधुओं के आचार का निरूपण है। दूसरे भाग में आठ अध्याय हैं और उनमें श्रावकों के आठ मूलगुण[1] तथा बारह व्रतों को बारह उत्तरगुण मान कर उनका स्वरूप बतलाया है। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी मैंने अपने 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' भाग २ में प्रस्तुत की है।

आशाधर बघेरवाल जाति के राजमान्य सल्लक्षण और उनकी पत्नी श्रीरत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म माण्डवगढ़ में हुआ था। महावीर उनके विद्यागुरु थे। इन्होंने अपनी पत्नी सरस्वती से उत्पन्न पुत्र छाहड़ की प्रशंसा की है। इन्होंने नलकच्छपुर के राजा अर्जुनवर्मदेव के राज्य में पैंतीस वर्ष बिताये थे और बहुत साहित्य रचा था। उदयसेन ने 'नयविश्वचक्षु' एवं 'कलिकालिदास' कहकर तथा मदनकीर्ति ने 'प्रज्ञापुंज' कहकर इनकी प्रशंसा की है। इनके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं : अध्यात्मरहस्य, क्रियाकलाप, जिनयज्ञकल्प और उसकी टीका, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, नित्यमहोद्योत, प्रमेयरत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय, रत्नत्रय विधान, राजीमतीविप्रलम्भ, सहस्रनामस्तवन और उसकी टीका। इनके अतिरिक्त इन्होंने अमरकोश, अष्टांगहृदय, आराधनासार, इष्टोपदेश, काव्यालंकार, भूपालचतुर्विंशतिका एवं मूलाराधना—इन अन्यकर्तृक ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

टीकाएँ—इसपर स्वयं आशाधर ने 'ज्ञानदीपिका' नाम की पंजिका लिखी है। इसके अतिरिक्त स्वयं उन्होंने 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' नाम की दूसरी टीका भी लिखी है। यह ज्ञानदीपिका की अपेक्षा बड़ी है। अनगारधर्मामृत की यह स्वोपज्ञ टीका वि० सं० १३०० की रचना है, जबकि सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका वि० सं० १२९६ में लिखी गई थी।[2]

---

१. ये तीन प्रकार से गिने जाते हैं : १ मद्य, मांस और मधु इन तीन प्रकार एवं पाँच प्रकार के उदुम्बर फल का त्याग, २ उपर्युक्त तीन प्रकार तथा स्थूल हिंसा आदि पाँच पापों का त्याग और ३ मद्य, मांस एवं द्यूत तथा उपर्युक्त पाँच पापों का त्याग।

२. अनगारधर्मामृत और भव्यकुमुदचन्द्रिका का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी टीका' के नाम से पं० खूबचन्द ने किया है। यह खुशालचन्द पानाचन्द गाँधी ने सोलापुर से सन् १९२७ में प्रकाशित किया है। सागारधर्मामृत का हिन्दी में अनुवाद लालाराम ने किया है और दो भागों में 'दिगम्बर जैन पुस्तकालय', सूरत से प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मोपदेशप्रकरण :

८३३२ श्लोक-परिमाण यह कृति यशोदेव ने वि० सं० १३०५ में रची है। इसे प्राकृतमूल तथा बहुकथासंग्रह भी कहते हैं।

धर्मसर्वस्वाधिकार :

उपदेशचिन्तामणि आदि के प्रणेता जयशेखरसूरि ने २०० श्लोक में इसकी[1] रचना की है। पहले श्लोक में कहा है कि धर्म का रहस्य सुनना चाहिए, सुनकर उस धर्म को धारण करना चाहिए और अपने आपको जो बात प्रतिकूल हो उसका दूसरे के प्रति आचरण नहीं करना चाहिए। दूसरे श्लोक में कहा है कि जिस प्रकार सोने की कष (कसौटी पर कसना), ताप, छेदन और ताडन इन चार प्रकारों से परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार धर्म की श्रुत (ज्ञान), शील, तप और दया के गुणों से परीक्षा करनी चाहिए। इस कृति में अहिंसा की महिमा, मांसभक्षण के दोष, ब्राह्मण के लक्षण, अब्रह्म के दूषण, ब्रह्मचर्य के गुण, क्रोध एवं क्षमा का स्वरूप, रात्रि-भोजन के दोष, तीर्थों का अधिकार, बिना छना पानी का उपयोग करने में दोष, तप एवं दान की महिमा, अतिथि का स्वरूप तथा शहद खाने के और कन्दमूलभक्षण के दोष—ऐसी विविध बातों का वर्णन आता है। ऐसा करते समय महाभारत, स्मृति आदि अजैन ग्रन्थों में से प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध पद्य कहीं-कहीं गूँथ लिये गये हैं और इस प्रकार अजैनों को भी जैन मन्तव्य रुचिकर प्रतीत हों, ऐसा प्रयत्न किया है।[2]

भवभावणा (भवभावना)

यह कृति[3] उवएसमाला इत्यादि के रचयिता मलधारी हेमचन्द्रसूरि की है। इसमें उपमितिभवप्रपंचा कथा के आधार पर आयोजित रूपक आते हैं। जैन

१. हीरालाल हंसराजकृत गुजराती अनुवाद के साथ इसे भीमसी माणेक ने सन् १९०० में प्रकाशित किया है। इसके साथ कर्पूरप्रकर तथा उसका हीरालाल हंसराजकृत गुजराती अनुवाद भी दिया गया है। इस प्रकाशन का नाम 'धर्मसर्वस्वाधिकार' तथा 'कस्तुरीप्रकरण' है, परन्तु 'कस्तुरीप्रकरण' के बदले 'कस्तूरीप्रकर' होना चाहिए।

२. इसका हीरालाल हंसराज ने गुजराती में अनुवाद किया है और वह छपा भी है।

३, यह कृति स्वोपज्ञ टीका के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने दो भागों में प्रकाशित की है। प्रथम भाग में १ से ३६० पत्र हैं, जबकि दूसरे में ३६१ से ६९२ हैं। दूसरे भाग में संस्कृत उपोद्घात, विषयानुक्रम एवं पाँच परिशिष्ट आदि हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराष्ट्री में रचित आर्याछन्द के ५३१ पद्य इसमें हैं। इसका मुख्य विषय बारह भावनाओं में से भवभावना यानी संसारभावना है। ३२२ गाथाएँ केवल इसीके विषय में हैं। इसमें भवभावना के अतिरिक्त दूसरी ग्यारह भावनाओं का प्रसंगवश निरूपण आता है। एक ही भव की बाल्यादि अवस्थाओं का भी इसमें वर्णन है। इसके अतिरिक्त संसारी जीव की चारों गतियों के भव और दुःखों का विस्तृत वर्णन है। लेखक की उवएसमाला के साथ इस कृति का विचार करनेवाले को आचारधर्म का यथेष्ट बोध हो सकता है। यह नीतिशास्त्र का भी मार्गदर्शन कर सकती है।

टीकाएँ—इस पर वि० सं० ११७० में रचित १२,९५० श्लोक-परिमाण की एक स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसमें मूल में सूचित दृष्टान्तों की कथाएँ प्रायः जैन महाराष्ट्री में दी गई हैं। ये कथाएँ उवएसमाला की स्वोपज्ञ वृत्तिगत कथाओं से प्रायः भिन्न हैं। इन दोनो वृत्तियों की कथाओं को एकत्रित करने पर एक महत्त्वपूर्ण कथाकोश बन सकता है। इस वृत्ति के अधिकांश भाग में नेमिनाथ[1] और भुवनभानु के[2] चरित्र आते हैं।

भवभावना पर जिनचन्द्रसूरि ने एक टीका लिखी है। इसके अलावा एक अज्ञातकर्तृक टीका एवं अवचूरि भी है। इस पर माणिक्यसुन्दर ने वि० सं० १७६३ में एक बालावबोध लिखा है।

भावनासार :

यह अजितप्रभ की कृति है। उन्होंने स्वयं इसका उल्लेख वि० सं० १३७६ में रचित शान्तिनाथचरित्र की प्रस्तावना में किया है। ये अजितप्रभ पूर्णिमागच्छ के वीरप्रभ के शिष्य थे।

भावनासन्धि :

अपभ्रंश में रचित ७७ पद्यों की इस कृति[3] के रचयिता शिवदेवसूरि के शिष्य जयदेव हैं। इसमें सन् १०५४ में स्वर्गवासी होनेवाले मुंज के विषय में उल्लेख है।

---

१. देखिए—पत्र ७ से २६८। यह चरित्र जैन महाराष्ट्री के ४०५० (८ + ४०४२) पद्यों में लिखा गया है। इसमें साथ-ही-साथ नवें वासुदेव कृष्ण का चरित्र भी आलिखित है।

२. देखिए—पत्र २७९ से ३६०। यह चरित्र मुख्यरूप से संस्कृत गद्य में है।

३. यह कृति Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. XII) में छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहन्मिथ्यात्वमथन :

इसके कर्ता हरिभद्रसूरि हैं, ऐसा सुमतिगणी ने गणधरसार्द्धशतक की बृहद् वृत्ति में कहा है, परन्तु यह कृति आज तक उपलब्ध नहीं हुई है।

दरिसणसत्तरि (दर्शनसप्तति) अथवा सावयधम्मपयरण (श्रावकधर्म प्रकरण) :

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री के १२० पद्यों में रचित कृति[1] है। इसमें सम्यक्त्व एवं श्रावक के सागारधर्म का निरूपण है।[2]

दरिसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) अथवा दरिसणसत्तरि (दर्शनसप्तति) :

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित ७० पद्यों की कृति[3] है। इसमें सम्यक्त्व के ६७ बोल पर प्रकाश डाला गया है। इसे सम्यक्त्व-सप्ततिका भी कहते हैं। इसकी पाँचवीं और छठीं गाथा किसी पुरोगामी की कृति से उद्धृत की गई है। गाथा ५९-६३ में आत्मा का लक्षण और स्वरूप समझाया गया है।

टीकाएँ—वि सं० १४२२ में रचित ७७११ श्लोक-परिमाण 'तत्त्वकौमुदी' नामक विवरण के कर्ता गुणशेखरसूरि के शिष्य संघतिलकसूरि हैं। इसमें विविध कथाएँ दी गई हैं, जिनमें से कुछ संस्कृत में हैं तो कुछ प्राकृत में। इसके अतिरिक्त दो उपलब्ध अवचूरियों में से एक गुणनिधानसूरि के शिष्य की है और दूसरी अज्ञातकर्तृक। मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य शिवमण्डनगणी ने भी इस पर एक टीका लिखी है। शान्तिचन्द्र के शिष्य रत्नचन्द्रगणी ने वि० सं० १६७६ में इसपर एक बालावबोध लिखा है।

सम्मत्तपयरण (सम्यक्त्वप्रकरण) अथवा दंसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) :

यह प्रकरण चन्द्रप्रभसूरि ने जैन महाराष्ट्री में लिखा है। इसका प्रारम्भ **'पत्तभवण्णतीरं'** से होता है। इसमें सम्यक्त्व की शुद्धि के बारे में विचार किया गया है।

---

१. यह ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था द्वारा सन् १९२९ में प्रकाशित प्रकरणसन्दोह (पत्र १-८) में छपी है।

२. इसकी पहली गाथा इस प्रकार है :

नमिऊण वद्धमाणं सावगधम्मं समासओ वुच्छं।
सम्मत्ताई भावत्थसंगयसुत्तनीईए ॥ १ ॥

३. यह कृति तत्त्वकौमुदीसहित देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९१३ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकाएँ—कर्ता ने स्वयं इसपर बृहद्वृत्ति लिखी है, जिसका प्रारम्भ 'यद्वक्त्राम्भोजव्याप्यः' से होता है। धर्मघोषसूरि के शिष्य विमलगणी ने वि० सं० ११८४ में इसपर एक टीका लिखी है। चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि के शिष्य देवभद्र ने भी इसपर ५२७ श्लोक-परिमाण वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त इसपर ८००० श्लोक-परिमाण रत्नमहोदधि नाम की एक वृत्ति है, जिसका प्रारम्भ चक्रेश्वर ने किया था और जिसे उनके प्रशिष्य तिलकसूरि ने वि० सं० १२७७ में पूर्ण की थी। इसपर अज्ञातकर्तृक एक वृत्ति और दूसरी एक टीका भी मिलती है। इनमें से वृत्ति १२००० श्लोक-परिमाण है और जैन महाराष्ट्री में रचित कथाओं से विभूषित है।

१. सम्यक्त्वकौमुदी :

९९५ श्लोक-परिमाण यह कृति जयशेखर ने वि० सं० १४५७ में रची है। इसमें सम्यक्त्व का निरूपण है।

२. सम्यक्त्वकौमुदी :

इसकी[1] रचना जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणी ने वि० सं० १४८७ में की है। यह सात प्रस्तावों में विभक्त है। इसमें सम्यक्त्वी अर्हद्दास का चरित्र वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमें सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, देशविरति, सर्वविरति, बीस स्थानक, ग्यारह प्रतिमा, आठ दृष्टि इत्यादि विषयों का भी निरूपण आता है। संस्कृत एवं जैन महाराष्ट्री में उद्धरण दिये गये हैं।[2]

३. सम्यक्त्वकौमुदी :

यह चैत्र-गच्छ के गुणकरसूरि ने वि० सं० १५०४ में लिखी है। इसका श्लोक-परिमाण १४८८ है।

४. सम्यक्त्वकौमुदी :

इसके कर्ता आगम-गच्छ के सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि हैं। इन्होंने पद्य में वि० सं० १५७३ में ३३५२ श्लोक-परिमाण इस कृति की रचना की है।

---

१. यह जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७० में प्रकाशित की है।

२. कर्ता के शिष्य जिनभद्रगणी ने इसपर एक वृत्ति वि० सं० १४९७ में लिखी थी और वह छपी है, ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२४) में उल्लेख है, किन्तु यह भ्रान्त प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके अतिरिक्त दूसरी ग्यारह कृतियां सम्यक्त्वकौमुदी के नाम से मिलती हैं। इनमें से चार अज्ञातकर्तृक[1] हैं; अवशिष्ट के रचयिताओं के नाम इस प्रकार हैं : धर्मकीर्ति, मंगरस, मल्लिभूषण, यशःकीर्ति, वत्सराज, यशस्सेन और वादिभूषण।

सट्ठिसय (षष्टिशत) :

१६१ पद्यों की जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति[2] के प्रणेता भांडागारिक (भण्डारी) नेमिचन्द्र हैं। ये मारवाड़ के मरोट गाँव के निवासी थे। इन्होंने अपने पुत्र आंबड़ को जिनपतिसूरि के पास दीक्षा दिलायी थी। यही आंबड़ आगे जाकर जिनेश्वरसूरि (वि० सं० १२४५–१३३१) के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। नेमिचन्द्र के ऊपर जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा था। इन्होंने अपभ्रंश में ३५ पद्यों में 'जिणवल्लहसूरि-गुणवण्णण' लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'पासनाहथोत्त' भी रचा है।

सट्ठिसय में अभिनिवेश और शिथिल आचार की कठोर आलोचना की गई है। इसमें सद्गुरु, कुगुरु, मिथ्यात्व, सद्धर्म, सदाचार आदि का स्वरूप समझाया है। इसमें जो सामान्य उपदेश दिया गया है वह धर्मदासगणी की उपदेशमाला से प्रभावित है।

टीकाएँ—इसपर एक टीका खरतरगच्छ के तपोरत्न और गुणरत्न ने वि० सं० १५०१ में लिखी है। दूसरी टीका के रचयिता धर्ममण्डनगणी हैं। सहजमण्डनगणी ने इसपर एक व्याख्यान लिखा है। एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी है। जयसोमगणी ने इसपर एक स्तबक लिखा है तथा सोमसुन्दरगणी ने

---

१. एक का कर्ता श्रुतसागर का शिष्य है।

२. यह अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा ने सन् १९५३ में 'षष्टिशतकप्रकरण' के नाम से यह प्रकाशित किया है। उसमें सोमसुन्दरसूरि, जिनसागरसूरि और मेरुसुन्दर इन तीनों के बालावबोध एवं 'जिणवण्णण' एवं 'पासनाहथोत्त' भी छपा है। इसके अतिरिक्त गुणरत्न की टीका के साथ मूल कृति 'सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला', अहमदाबाद ने सन् १९२४ में और गुजराती अनुवाद के साथ मूल कृति हीरालाल हंसराज ने वि० सं० १९७६ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि० सं० १४९६ में, जिनसागरसूरि ने वि० सं० १५०१ में, धर्मदेव ने वि० सं० १५१५ में तथा मेरुसुन्दर ने वि० सं० १५०० से १५५० के बीच एक एक बालावबोध लिखा है।[1]

दाणसीलतवभावणाकुलय (दानशीलतपभावनाकुलक):

वि० सं० १३२७ में स्वर्गवासी होनेवाले तपागच्छ के देवेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री के ८० पद्यों में इसकी[2] रचना की है। इसमें उन्होंने दान, शील, तप एवं भावना का बीस-बीस गाथाओं में वर्णन किया है।

टीकाएँ—इसपर १२००० श्लोक-परिमाण एक टीका राजविजयगणी के शिष्य देवविजयगणी ने वि० सं० १६६६ में लिखी है। दूसरी एक ५५०० श्लोक-परिमाण टीका लाभकुशलगणी ने लिखी है। इसकी वि० सं० १७६६ में लिखी एक हस्तलिखित प्रति मिलती है।

दाणुवएसमाला (दानोपदेशमाला):

जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति के प्रणेता देवेन्द्रसूरि हैं। यह संघतिलकसूरि के पट्टधर शिष्य थे। इसमें दान के बारे में उपदेश दिया गया है।

टीका—इसपर स्वयं कर्ता ने वि० सं० १४१८ में वृत्ति लिखी है।

दानप्रदीप :

६६६५ श्लोक-परिमाण बारह प्रकाशों में विभक्त यह ग्रन्थ[3] चारित्ररत्नगणी ने वि० सं० १४९९ में चित्रकूट (चित्तौड़) में लिखा है। ये जिनसुन्दरसूरि एवं सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे।

इसके पहले प्रकाश में कहा है कि दान आदि चार प्रकार के धर्मों में दान से ही अवशिष्ट तीन प्रकार के धर्मों की स्थिरता होती है तथा तीर्थंकर की प्रथम देशना भी दान-धर्म के विषय में होती है, अतः दानरूप धर्म ही मुख्य है। दान के तीन प्रकार हैं : १. ज्ञान-दान, २. अभय-दान और ३. उपष्टम्भ-

१. इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित किया है।
२. यह कृति हीरालाल हंसराज ने धर्मरत्नमंजूषा एवं लाभकुशलगणीकृत टीका के साथ तीन भागों में सन् १९१५ में प्रकाशित की है।
३. यह जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७४ में प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद, बारहों प्रकाशों के गुजराती सारांश के साथ, इसी सभा ने वि० सं० १९८० में छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान। चित्त, वित्त और पात्र की विशुद्धि शास्त्रानुसार विस्तार से समझाने के लिये इसमें मेघरथ राजा की कथा दी गई है।

दूसरे प्रकाश में दान के तीनों प्रकारों की स्पष्टता करके ज्ञान-दान के प्रकार तथा ज्ञान लेते-देते समय ध्यान में रखने योग्य काल आदि आठ आचारों का निरूपण किया गया है। इन आठ आचारों से सम्बद्ध आठ कथाएँ और खास करके विजय राजा का दृष्टान्त दिया गया है।

तीसरे प्रकाश में अभय-दान की महिमा, उसका विवेचन, अंशतः और सर्वांशतः दया की विचारणा और इस विषय में शंख श्रावक की कथा—इस प्रकार विविध बातें आती हैं। प्रसंगोपात्त अर्जुन कपिल ऋषि, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रत स्वामी, महावीर स्वामी, मेतार्य मुनि, धर्मरुचि और कुमारपाल की दया-विषयक प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है।

चौथे प्रकाश में अपष्टम्भ-दान का अर्थ समझाकर और जघन्यादि तीन पात्रों का उल्लेख करके दान के आठ प्रकार तथा वसति, शयन इत्यादि का वर्णन किया है। इसके पश्चात् वंकचूलि की कथा कह कर शय्या-दान के विषय में कोशा की, उपाश्रय के दान के विषय में अवन्तीसुकुमाल की और वसति-दान के सम्बन्ध में ताराचन्द्र एवं कुरुचन्द्र की कथा कही गई है।

पाँचवें प्रकाश में शयन-दान का अर्थ समझाकर इस दान के सम्बन्ध में प्रज्ञाकर राजा की कथा दी गई है।

छठे प्रकाश में आसन-दान का वर्णन करके इस पर कविराज की कथा दी है। साथ ही गर्भित धन के ऊपर दण्डवीर्य का तथा धर्म के ऊपर धर्मबुद्धि मन्त्री का वृत्तान्त भी दिया है।

सातवें प्रकाश में आहार-दान के प्रकार तथा उससे सम्बद्ध कनकरथ की कथा दी गयी है। श्रेयांसकुमार, शालिभद्र, भद्र और अतिभद्र के दृष्टान्त भी दिये गये हैं।

आठवें प्रकाश में आरनाल इत्यादि नौ प्रकार के प्रासुक जल का तथा द्राक्षोदक आदि बारह प्रकार के जल का विस्तृत विवेचन किया गया है। पान-दान के विषय में रत्नपाल राजा की कथा दी गई है।

नवें प्रकाश में औषध-दान के विषय में विचार किया गया है। इसके सम्बन्ध में मुख्यतः धनदेव एवं धनदत्त की कथा देकर ऋषभ-

१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव द्वारा पूर्वभव में की गयी मुनि की चिकित्सा की बात उपस्थित की गयी है।

दसवें प्रकाश में जिनकल्पी की बारह उपाधियाँ, सचेलक और अचेलक दो प्रकार का धर्म, वस्त्रदान की महिमा और उस पर ध्वजभुजंग राजा की कथा—इस तरह विविध बातों का निरूपण किया गया है।

ग्यारहवें प्रकाश में तुम्बा, लकड़ी और मिट्टी—इन तीनों प्रकार के पात्रों का उल्लेख करके पात्र-दान के विषय में धनपति श्रेष्ठी की कथा दी गई है।

बारहवें प्रकाश में आशंसा, अनादर, पश्चात्ताप, विलम्ब और गर्व—दान के इन पाँच दोषों का और इनके विपरीत पाँच गुणों का निरूपण करके इनके बारे में दो वृद्धा स्त्रियों की, यक्ष श्रावक एवं धन व्यापारी की, भीम की, जीर्णश्रेष्ठी की, निधिदेव और भोगदेव की, सुधन और मदन की, कृतपुण्य और दशार्णभद्र की, धनसारश्रेष्ठी तथा कुन्तलदेवी की कथाएँ दी गई हैं।

अन्त में प्रशस्ति है, जिसमें कर्ता ने अपने गुरु की परम्परा, दानप्रदीप का रचना-स्थान और रचना-वर्ष इत्यादि के ऊपर प्रकाश डाला है।

सीलोवएसमाला (शीलोपदेशमाला) :

जयसिंहसूरि के शिष्य जयकीर्ति की जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति[1] में आर्या छन्द के कुल ११६ पद्य हैं। इसमें शील अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन के लिए दृष्टान्तपूर्वक उपदेश दिया गया है। शील का फल, स्त्री-संग का दोष, स्त्री को साथ में रखने से अपवाद, स्त्री की निन्दा और प्रशंसा आदि बातों का निरूपण है।

टीकाएँ—रुद्रपल्लीयगच्छ के संघतिलकसूरि के शिष्य सोमतिलकसूरि[2] ने वि० सं० १३९४ में लालसाधु के पुत्र छाजू के लिए इस ग्रन्थ पर शीलतरंगिणी नाम की वृत्ति लिखी है। इसके प्रारम्भ के सात-श्लोकों में मंगलाचरण है और

---

१. सोमतिलकसूरि की शीलतरंगिणी नाम की टीका के साथ यह मूल कृति हीरालाल हंसराज ने सन् १९०९ में प्रकाशित की है। इसके पहले सन् १९०० में मूल कृति शीलतरंगिणी के गुजराती अनुवाद के साथ 'जैन विद्याशाला' अहमदाबाद ने प्रकाशित की थी।

२. इनका दूसरा नाम विद्यातिलक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में चौदह श्लोकों की प्रशस्ति है। मूल में सूचित दृष्टान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ३९ कथाएँ दी गई हैं। वे कथाएँ इस प्रकार हैं: गुणसुन्दरी और पुण्यपाल, द्वैपायन और विश्वामित्र, नारद, रिपुमर्दन नृप, विजयपाल नृप, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आर्द्रकुमार, नन्दिषेण मुनि, रथनेमि, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, स्थूलभद्र, वज्रस्वामी, सुदर्शन श्रेष्ठी, वंकचूल, सुभद्रा, मदनरेखा, सुन्दरी, अंजना, नर्मदासुन्दरी, रतिसुन्दरी, ऋषिदत्ता, दवदन्ती, कमला, कलावती, शीलवती, नन्द यति, रोहिणी, कुलवालक, द्रौपदी, नूपुरपण्डिता, दत्तदुहिता, अगडदत्त, प्रदेशी नृप, सीता और धनश्री।

इसके अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति भी है। ललितकीर्ति एवं पुण्यकीर्ति ने मूल ग्रन्थ पर एक-एक टीका लिखी है।

खरतरगच्छ के रत्नमूर्ति के शिष्य मेरुसुन्दर ने इस पर एक बालावबोध लिखा है।[1]

१. धर्मकल्पद्रुम :

प्रासंगिक कथाओं और सुभाषितों से अलंकृत यह कृति[2] ४२४८ श्लोकों में आगम-गच्छ के मुनिसागर के शिष्य उदयधर्मगणी ने लिखी है। इन्होंने वि० सं० १५४३ में मलयसुन्दरीरास और १५५० में कथाबत्तीसी की रचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दान-धर्म, शील-धर्म, तपो-धर्म और भाव-धर्म—इन चार शाखाओं में विभक्त है। इनमें से पहली शाखा के तीन, दूसरी के दो, तीसरी का एक और चौथी के दो पल्लव हैं। इस तरह अष्टपल्लवयुक्त यह कृति दान आदि चतुर्विध धर्म का बोध कराती है। इसमें क्रमशः ३४०, ५२५, ६४४, ४५७, ८६७, ६२८, ४०० और ३८७ पद्य हैं। प्रथम पल्लव में धर्म की महिमा का वर्णन है। इस ग्रन्थ का संशोधन धर्मदेव ने किया।

२. धर्मकल्पद्रुम :

यह पूर्णिमागच्छ के धर्मदेव की वि० सं० १६६७ की रचना है, ऐसा उल्लेख मिलता है।

---

१. मूल कृति एवं शीलतरंगिणी टीका का गुजराती अनुवाद जैन विद्याशाला के किसी शास्त्री ने किया है और वह छपा भी है।

२. यह कृति देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने वि० सं० १९७३ में प्रकाशित की थी, किन्तु उसमें अशुद्धियाँ होने से जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० सं० १९८४ में दूसरी आवृत्ति प्रकाशित की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. धर्मकल्पद्रुम :

इस नाम की दो अज्ञातकर्तृक कृतियाँ भी हैं।

विवेगमंजरी (विवेकमञ्जरी) :

जैन महाराष्ट्री में रचित १४४ पद्य की यह कृति[1] आसड़ ने वि० सं० १२४८ में लिखी है। इसके पहले पद्य में महावीरस्वामी को वन्दन किया गया है। इसके पश्चात् विवेक की महिमा बताई गई है और उसके भूषण के रूप में मन की शुद्धि का उल्लेख किया गया है। इस शुद्धि के चार कारण बतला कर उनका विस्तार से निरूपण किया गया है। वे चार कारण इस प्रकार हैं : १. चार शरणों की प्रतिपत्ति अर्थात् उनका स्वीकार, २. गुणों की सच्ची अनुमोदना, ३. दुष्कृत्यों की—पापों की निन्दा और ४. बारह भावनाएँ।[2]

तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म—इन चारों को मंगल कहकर इन की शरण लेने के लिए कहा है। इसमें वर्तमान चौबीसी के नाम देकर उन्हें तथा अतीत चौबीसी आदि के तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है। प्रसंगोपात्त दृष्टान्तों का भी निर्देश किया गया है। गाथा ५०–३ में भिन्न-भिन्न मुनियों के तथा गाथा ५६–८ में सीता आदि सतियों के नाम आते हैं। इसके प्रारम्भ की सात गाथाओं में से छः गाथाएँ तीर्थंकरों की स्तुतिपरक हैं।

टीका—इसपर बालचन्द्र की एक वृत्ति है। इसकी वि० सं० १३२२ की लिखी हुई एक हस्तलिखित प्रति मिली है। इस वृत्ति के मूल में सूचित दृष्टातों के स्पष्टीकरण के लिये संस्कृत श्लोकों में छोटी-बड़ी कथाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ-बाहुबलि की कथा ('भारत-भूषण' नाम के चार सर्गों के रूप में महाकाव्य के नाम से अभिहित), सनत्कुमारकी कथा, स्थूलिभद्र की कथा, शालिभद्र की कथा, वज्रस्वामी की कथा, अभयकुमार की कथा (चार प्रकार की बुद्धि के ऊपर एक-एक प्रकाश के रूप में), सीता की कथा ('सीताचरित' नाम के चार सर्गों में

---

१. 'जैन त्रिविध साहित्य शास्त्रमाला' में यह (गा० १-५८) बालचन्द्र की वृत्ति के साथ प्रथम भाग के रूप में बनारस से वि० सं० १९७५ में छपी थी। इसका दूसरा भाग वि० सं० १९७६ में प्रकाशित हुआ था। इसमें ५९ से १४४ गाथाएँ दी गई हैं।

२. इन चारों को चार द्वार कहकर वृत्तिकार ने प्रत्येक द्वार के लिए 'परिमल' संज्ञा का प्रयोग किया है। प्रथम परिमल में २५ गाथाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाकाव्य के रूप से सूचित), दवदन्ती की चार सर्गों में कथा, विलासवती की कथा, अंजनासुन्दरी की कथा तथा नर्मदासुन्दरी की कथा ।

विवेगविलास (विवेकविलास) :

यह ग्रन्थ[1] वायड़गच्छ के जीवदेवसूरि[2] के शिष्य जिनदत्तसूरि ने १३२३ पद्यों में रचा है । इसमें बारह उल्लास हैं । यह एक सर्वसामान्य कृति है । इसकी रचना सन् १२३१ में स्वर्गवासी होनेवाले जाबालिपुर के राजा उदयसिंह[3], उसके मन्त्री देवपाल और उसके पुत्र धनपाल को प्रसन्न करने के लिये हुई थी । इसमें मानव जीवन को सफल बनाने के लिये जिन बातों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है उनका निरूपण किया गया है । पहले के पाँच उल्लासों में दिनचर्या की, छठें उल्लास में ऋतुचर्या की, सातवें में वर्षचर्या की और आठवें में जन्मचर्या की अर्थात् समग्र भव के जीवन-व्यवहार की जानकारी संक्षेप में दी गई है । नवें और दसवें उल्लास में अनुक्रम से पाप और पुण्य के कारण बतलाये गये हैं । ग्यारहवें उल्लास में आध्यात्मिक विचार और ध्यान का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । बारहवाँ उल्लास मृत्यु-समय के कर्तव्य का तथा परलोक के साधनों का बोध कराता है । अन्त में दस पद्यों की प्रशस्ति है ।

दिनचर्या अर्थात् दिन-रात का व्यवहार । इसके पाँच भाग किये गये हैं : १. पिछली रात्रि के आठवें भाग अर्थात् अर्ध प्रहर रात्रिसे लेकर प्रहर दिन, २. ढाई प्रहर दिन, ३. साढ़े तीन प्रहर दिन, ४. सूर्यास्त तक का दिन और ५. साढ़े तीन प्रहर रात्रि । इनमें से प्रत्येक भाग के लिये अनुक्रम से एक-एक उल्लास है । प्रारम्भ में स्वप्न, स्वर एवं दन्तधावन-विधि (दतुअन) के विषय में निरूपण है ।

---

१. यह ग्रन्थ 'सरस्वती ग्रन्थमाला' में वि० सं० १९७६ में छपा है । इसके अतिरिक्त पं० दामोदर गोविन्दाचार्यकृत गुजराती अनुवाद के साथ यह मूल ग्रन्थ सन् १८९८ में भी छपा है । इस विवेकविलास का माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन-संग्रह में उल्लेख किया है ।

२. प्रथम उल्लास के तीसरे पद्य के आद्य अक्षरों से यह नाम सूचित होता है ।

३. इसके वंश का नाम 'बाहुमा' है । देखिए—प्रशस्ति, श्लोक ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका—इसपर भानुचन्द्रगणी ने वि० सं० १६७१ में एक वृत्ति लिखी है। इसका संशोधन जयविजय ने किया है।[1]

१. वद्धमाणदेसणा (वर्धमानदेशना) :

३१६३ पद्य तक जैन महाराष्ट्री में तथा १० पद्य तक संस्कृत में रचित इस कृति[2] के कर्ता शुभवर्धनगणी हैं। इसका रचना-समय वि० सं० १५५२ है। जावड़[3] की अभ्यर्थना से उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा है। ये लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य साधुविजय के शिष्य थे। वर्धमान स्वामी अर्थात् महावीर स्वामी ने 'उवासगदसा' नामक सातवें अंग का जो अर्थ कहा था वह सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा। उसी को इसमें स्थान दिया गया है, अतः इस कृति को 'वर्धमानदेशना' कहते हैं। यह दस उल्लासों में विभक्त है। उल्लासानुसार इसकी पद्य-संख्या क्रमशः ८०३, ७२४, ३६०, २४४, १३५, २२५, १८६, १७८, १०७ और २११ है। इस प्रकार इसमें कुल पद्य-संख्या ३१७३ है। प्रत्येक उल्लास के अन्त में एक पद्य संस्कृत में है और वह सब में एक-सा है।

प्रत्येक उल्लास में आनन्द आदि दस श्रावकों में से एक-एक का अधिकार है। प्रथम उल्लास में सम्यक्त्व के बारे में आरामशोभा की कथा दी गयी है। उसमें श्रावक के बारह व्रतों को समझाने के लिये हरिबल मच्छीमार, हंस नृप, लक्ष्मीपुञ्ज, मदिरावती, धनसार, चारुदत्त, धर्म नृप, सुरसेन और महासेन, केसरी चोर, सुमित्र मन्त्री, रणशूर नृप और जिनदत्त इन बारह व्यक्तियों की एक-एक कथा दी गयी है।

रात्रिभोजनविरमण के बारे में हंस और केशव की कथा दी गयी है। शेष नौ उल्लासों में जो एक-एक अवान्तर कथा आती है उसकी तालिका इस प्रकार है :

---

१. इसका गुजराती अनुवाद पं० दामोदर गोविन्दाचार्य ने किया है और वह छपा भी है।
२. यह ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा ने दो भागों में वि० सं० १९८४ और १९८८ में छपवाया है। प्रथम भाग में तीन उल्लास और दूसरे में बाकी के सब उल्लास हैं। इसके पहले वि० सं० १९६० में बालाभाई छगनलाल ने यह प्रकाशित किया था।
३. ये गयासुद्दीन खिलजी के कोशाधिकारी थे। इन्हें 'लघुशालिभद्र' भी कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह-परिमाण के विषय में रत्नसार की, जैनधर्म की आराधना के सम्बन्ध में सहस्रमल्ल की, धर्म का माहात्म्य सूचित करने के लिये घृष्टक[1] को, सुपात्रदान के विषय में धनदेव और धनमित्र की, शील अर्थात् परस्त्री के त्याग के विषय में कुलध्वज की, तप के बारे में दामन्नक की, भावना के विषय में असम्मत की, जीवदया के विषय में भीम की और ज्ञान के विषय में सागरचन्द्र की।

इस कृतिमें बारह व्रतों के अतिचार और सम्यक्त्व आदि के आलापक भी आते हैं।

२. वद्धमाणदेसणा :

यह उवासगदसा का पद्यात्मक प्राकृत रूपान्तर है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। इसका प्रारम्भ **'वीरजिणंदं'** से होता है।

३. वर्धमानदेशना :

यह सर्वविजय का ३४०० श्लोक-परिमाण ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १७१५ की मिलती है।

४. वर्धमानदेशना :

यह गद्यात्मक कृति[2] रत्नलाभगणी के शिष्य राजकीर्तिगणी ने लिखी है। यह दस उल्लासों में विभक्त है। इसमें अनुक्रम से आनन्द आदि श्रावकों का वृत्तान्त दिया गया है। यह कृति विषय एवं कथाओं की दृष्टि से शुभवर्धनगणीकृत 'वद्धमाणदेसणा' के साथ मिलती-जुलती है।[3]

---

१. इसकी कथा के द्वारा, दुष्ट स्त्रियाँ अपने पति को वश में करने के लिए कैसे-कैसे दुष्कृत्य करती हैं तथा मंत्र-औषधि का प्रभाव कैसा होता है, यह बतलाया है।

२. यह कृति हीरालाल हंसराज ने वीर संवत् २४६३ में प्रकाशित की है। इसके पहले हरिशंकर कालिदास शास्त्री का गुजराती अनुवाद मगनलाल हठीसिंह ने सन् १९०० में छपवाया था। इसके बारे में विशेष जानकारी 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड २, उपखण्ड १) में दी है।

३. इसका गुजराती में अनुवाद हरिशंकर कालिदास शास्त्री ने किया है और वह छपा भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबोहपयरण (सम्बोधप्रकरण) अथवा तत्तपयासग (तत्त्वप्रकाशक) :

१५९० पद्य की यह कृति[1] हरिभद्रसूरि ने मुख्य रूप[2] से जैन महाराष्ट्री में लिखी है। यह बारह अधिकारों में विभक्त है। इसमें देव, सद्गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व, श्रावक और उसकी प्रतिमा एवं व्रत, संज्ञा, लेश्या, ध्यान, आलोचना आदि बातों का निरूपण है। इसकी कई गाथाएँ रत्नशेखरसूरि ने संबोहसत्तरि में उद्धृत की हैं।[3]

१. संबोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति) :

यह कृति हरिभद्रसूरि ने लिखी थी ऐसा कई लोगों का मानना है, परन्तु इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है।

२. संबोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति) :

७५ या ७६ पद्य की जैन महाराष्ट्री में रचित इस कृति[4] के प्रणेता रत्नशेखरसूरि हैं। ये जयशेखरसूरि के शिष्य वज्रसेनसूरि के शिष्य थे। यह पुरोगामियों के ग्रन्थों में से गाथाएँ उद्धृत करके रचित कृति है। इसमें देव, गुरु, कुगुरु, धर्म का स्वरूप, सम्यक्त्व की दुर्लभता, सूरि के ३६ गुण, सामान्य साधु एवं श्रावक के गुण, जिनागम का माहात्म्य, द्रव्यस्तव और भावस्तव का फल, शील की प्रधानता, कषाय, प्रमाद, निद्रा, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, अब्रह्म और मांस के दोष, जिनद्रव्य और पूजा—इन विविध बातों का निरूपण है।

टीकाएँ—इस पर अमरकीर्तिसूरि की एक वृत्ति है। ये मानकीर्तिगणी के शिष्य थे। इस वृत्ति के प्रारम्भ में दो तथा अन्त में तीन पद्य हैं। यह वृत्ति

---

१. यह जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१६ में छपवाया है। इसमें अनेक यंत्र हैं। इसे सम्बोधतत्त्व भी कहते हैं।

२. द्वितीय अधिकार के ५ से १२ पद्य संस्कृत में हैं।

३. इसका गुजराती अनुवाद विजयोदयसूरि के शिष्य पं० मेरुविजयगणी ने किया है। यह अनुवाद जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९५१ में प्रकाशित किया है। इसके अन्तिम पृ० २६५-३०० पर हरिभद्रकृत पूयापंचासग, जिणचेइयवंदणविहि और दिक्खापयरण के गुजराती अनुवाद दिये गये हैं।

४. यह अमरकीर्तिसूरि की टीका के साथ हीरालाल हंसराज ने सन् १९११ में छपाई है। इसमें मूल की ७६ गाथाएँ हैं। इसके अलावा यही मूल कृति गुणविनय की वृत्ति के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७२ में प्रकाशित की है। इसमें ७५ गाथाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशित हो चुकी है। इस मूल वृत्ति पर एक दूसरी वृत्ति जयसोम के शिष्य गुणविनय ने वि० सं० १६५१ में लिखी है। इसके प्रारम्भ में पाँच पद्य हैं और अन्त में चौंतीस पद्यों की प्रशस्ति तथा उसके पश्चात् वृत्तिकार की ग्यारह पद्यों की पट्टावली है।[1]

३. संबोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति) :

जैन महाराष्ट्री के ७० पद्यों में रचित इस कृति[2] के कर्ता अंचल-गच्छ के जयशेखरसूरि हैं ऐसा जिनरत्नकोश (खण्ड १, पृ० ४२२) में उल्लेख है, परन्तु वह विचारणीय है। यह उपर्युक्त कृति हो होगी ऐसा प्रतीत होता है।

टीकाएँ—इस पर यशोविजयजी की टीका है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अहमदाबाद के विमलगच्छ के उपाश्रय में है।[3] इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि की वि० सं० १५३७ की हस्तलिखित प्रति मिलती है। वि० सं० १५२८ में मेरुसुन्दर ने एक बालावबोध भी लिखा है।

सुभाषितरत्नसन्दोह :

यह[4] मथुरासंघ के माधवसेन के शिष्य अमितगति[5] की कृति है। इसमें

---

१. इस मूल कृति का गुजराती अनुवाद कई स्थानों से प्रकाशित हुआ है।

२. यह कृति गुणविनय के विवरण और बालावबोधसहित जैन आत्मानन्द सभा ने सन् १९२२ में प्रकाशित की है।

३. देखिए—जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२२)। यह जयशेखरसूरिकृत संबोहसत्तरि की टीका है ऐसा माना है। अवचूरि और बालावबोध के लिए भी ऐसा ही मान लिया है। मुझे तो ये तीनों रत्नशेखरीय कृति पर हों ऐसा लगता है।

४. यह कृति काव्यमाला (सन् १९०९, दूसरी आवृत्ति) में छपी है। इसके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद के साथ यह कृति 'हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला' कलकत्ता ने सन् १९१७ में प्रकाशित की है। आर. श्मिट और जोहानिस हर्टल ने मूल कृति का सम्पादन करके जर्मन भाषा में अनुवाद किया है और Z. D. M. G. (Vol. 59 & 61) में सन् १९०५ और १९०० में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त दयालजी गंगाधर भणसाली और भोगीलाल अमृतलाल झवेरीकृत गुजराती अनुवाद के साथ मूल कृति हीरजी गंगाधर भणसाली ने वि० सं० १९८८ में प्रकाशित की है।

५. इनकी विविध कृतियों का उल्लेख मैंने अपने 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड १, पृ० २४४-५) में किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९२२ श्लोक हैं। यह बत्तीस प्रकरणों में विभक्त है। २३ वें प्रकरण में आप्त के स्वरूप का वर्णन करते समय वैदिक देवों की समालोचना की गई है। इसके अन्त के २१७ श्लोकों द्वारा श्रावकों के धर्म पर प्रकाश डाला गया है।[1]

सिन्दूरप्रकर :

इसे[2] सूक्तिमुक्तावली और सोमशतक भी कहते हैं। इसमें १०० पद्य हैं। इसके कर्ता 'शतार्थी' सोमप्रभसूरि हैं। ये विजयसिंहसूरि के शिष्य थे। इसमें देव, गुरु, धर्म, संघ, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत, क्रोध आदि चार कषाय, दान, शील, तप एवं भाव का निरूपण है।

टीकाएँ—इसके टीकाकारों के नाम इस प्रकार हैं : गुणकीर्तिसूरि (वि० सं० १६६७), चरित्रवर्धन (वि० सं० १५०५), जिनतिलकसूरि, धर्मचन्द्र, भावचरित्र, विमलसूरि और हर्षकीर्ति। कई विद्वान् इस नामावली में गुणाकरसूरि एवं प्रमोदकुशलगणी के नाम भी गिनाते हैं।[3]

सूक्तावली :

पद्मानन्द महाकाव्य इत्यादि के रचयिता अमरचन्द्रसूरि की यह कृति है ऐसा चतुर्विंशतिप्रबन्ध (पृ० १२६)[4] में कहा गया है, परन्तु इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती

वज्जालग्ग :

इसे[5] पद्यालय, वज्रालय, विज्जाहल एवं विद्यालय भी कहते हैं। इसके कर्ता जयवल्लभ हैं। इसमें जैन महाराष्ट्री में रचित ७९५ और बड़ी वाचना के

---

१. इसका गुजराती अनुवाद दयालजी गंगाधर भणसाली और भोगीलाल अमृतलाल झवेरी के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। यह अनुवाद छपा है। इसका हिन्दी अनुवाद भी छप चुका है। इसके अतिरिक्त जर्मन भाषा में आर० श्मिट और जोहानिस हर्टल द्वारा किया गया अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

२. यह काव्यमाला (गुच्छक ७) में प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा हर्षकीर्तिसूरिकृत टीका के साथ यह कृति सन् ११२४ में छपी है।

३. इसका पवोलिनी ने इटालियन भाषा में अनुवाद किया है।

४. फार्बस गुजराती सभा द्वारा प्रकाशित और मेरे द्वारा सम्पादित संस्करण का यह पृष्ठांक है।

५. यह कृति 'बिब्लिओथिका इण्डिका' कलकत्ता से तीन भागों में सन् १९१४, १९२३ और १९४४ में प्रो० ज्यूलियस लेबर ने प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार १३३० पद्य हैं। यह ९५ वज्जा अर्थात् पद्धति में विभक्त है, जैसे कि सोयार-वज्जा, गाहा-वज्जा इत्यादि। इसके बहुत-कुछ पद्य सुभाषित हैं। यह गाहा-सत्तसई का स्मरण कराता है। प्रस्तुत कृति में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का निरूपण आता है।

टीका—इस पर रत्नदेवगणी ने एक टीका वि० सं० १३९३ में हरिभद्रसूरि के शिष्य धर्मचन्द्र की विज्ञप्ति से लिखी है। इस टीका में 'गउडवह' से उद्धरण दिये गये हैं।

नीतिधनद यानी नीतिशतक :

देहड के पुत्र धनद—धनदराज संघपति ने वि० सं० १४९० में मण्डपदुर्ग में यह[1] लिखा है। इसी प्रकार उन्होंने वैराग्यशतक और शृंगारशतक भी लिखे हैं। इन तीनों को धनशतकत्रय अथवा धनदत्रिशती भी कहते हैं। इन तीनों में शृंगारशतक सबसे प्रथम लिखा गया है। यह उसके चौथे श्लोक से ज्ञात होता है। यह धनद खरतर जिनभद्रसूरि के शिष्य थे। इन्होंने नीतिशतक विविध छन्दों में लिखा है। इसमें १०३ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में कर्ता ने खरतरगच्छ के मुनि के पास उसका अभ्यास किया था तथा प्रस्तुत कृति का नाम 'नयधनद' है इस बात का उल्लेख किया है। इसके प्रारम्भ में नीति की महत्ता का वर्णन आता है। इसके बाद नृपति की नीति के बारे में निरूपण है। राजा, मंत्री और सेवक कैसे होने चाहिए इस बात का भी इसमें उल्लेख है।

वैराग्यधनद यानी वैराग्यशतक :

यह भी उपर्युक्त धनद की कृति है। इसकी रचना नीतिधनद के बाद हुई होगी ऐसा लगता है। इसमें १०८ पद्य हैं और वे स्रग्धरा छन्द में हैं। दूसरे श्लोक में इसे 'शमशतक' कहा है और कर्ता के श्रीमाल कुल का निर्देश है।

इसमें संस्कृत छाया, रत्नदेवगणी की टीका में से उद्धरण एवं प्रारम्भ के ९० पद्यों के पाठान्तर दिये गये हैं। इसमें प्रस्तावना आदि भी हैं।

प्रो० एन० ए० गोरे ने सन् १९४५ में प्रारम्भ के ३०० पद्य छपवाये थे। उसके बाद उन्होंने प्रारम्भ के २०० पद्य अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् १९४७ में प्रकाशित किये हैं।

१. यह शतक तथा धनदकृत वैराग्यशतक एवं शृंगारशतक काव्यमाला, गुच्छक १३ के द्वितीय संस्करण में छपे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें योग, काल की करालता, विषयों की बिडम्बना और वैराग्यपोषक तत्त्वों का निरूपण है ।

पद्मानन्दशतक यानी वैराग्यशतक :

यह[1] धनदेव[2] के पुत्र पद्मानन्द को रचना है । इसमें १०३ पद्य शार्दूल-विक्रीडित छन्द में हैं । इसमें वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है और सच्चे योगी एवं कामातुर जनों का स्वरूप बतलाया गया है ।

अणुसासणंकुसकुलय (अनुशासनांकुशकुलक) :

अंगुलसत्तरि इत्यादि के प्रणेता मुनिचन्द्रसूरिरचित इस कृति में जैन महाराष्ट्री की २५ गाथाएँ हैं । इनका स्वर्गवास वि० सं० ११७८ में हुआ था ।

रणयत्तकुलय (रत्नत्रयकुलक) :

यह[3] भी उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरिरचित कुलक है । इसमें ३१ गाथाएँ हैं और उनमें देव, गुरु एवं धर्म—इन तीन तत्त्वों का—रत्नों का स्वरूप समझाया है ।

गाहाकोस (गाथाकोश) :

इसे रसाउल तथा रसाउलगाहाकोस भी कहते हैं । यह भी उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की रचना है । इसका श्लोक-परिमाण ३८४ है ।

मोक्षोपदेशपंचाशत :

यह[4] भी मुनिचन्द्रसूरि की ५१ पद्य की कृति है । इसमें संसार को विषवृक्ष कहकर उसके मूल, शाखा आदि का उल्लेख किया गया है । इसके पश्चात् नरक आदि चार गतियों के दुःखों का वर्णन आता है । इसके बाद संसार, विवेक, देव (परमेश्वर), गुरु और धर्म का स्वरूप संक्षेप में दिया है ।

---

१. इसकी चौथी आवृत्ति 'काव्यमाला' गुच्छक ७ प्रकाशित हुई है ।
२. इस श्रेष्ठी ने जिनवल्लभसूरि का उपदेश सुनकर नागपुर (नागोर) में नेमिनाथ का चैत्यालय बनवाया था, यह प्रस्तुत कृति के १०२ वें श्लोक से ज्ञात होता है ।
३. यह कुलक 'प्रकरणसमुच्चय' के पत्र ४१–४३ में छपा है ।
४. यह कृति उपर्युक्त 'प्रकरणसमुच्चय' के पत्र १९–२२ में छपा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिओवएसकुलय (हितोपदेशकुलक) :

इस[1] नाम की मुनिचन्द्रसूरि की दो रचनाएँ हैं। इन दोनों में जैन महाराष्ट्री में २५-२५ गाथाएँ हैं। इनमें हितकर उपदेश दिया गया है।

उवएसकुलय (उपदेशकुलक) :

यह[2] भी मुनिचन्द्रसूरि की कृति है। इसमें ३३ गाथाएँ जैन महाराष्ट्री में हैं। इसमें 'शोक' को पिशाच कहकर उसे दूर करने का उपदेश दिया गया है। इसी से इसे 'सोगहर-उवएसकुलय' भी कहते हैं। इसमें धार्मिक उपदेश दिया गया है, अतः इसे 'धम्मोवएस' भी कहते हैं।

नाणप्पयास (ज्ञानप्रकाश) :

अनेकविध स्तोत्र आदि के रचयिता खरतर जिनप्रभसूरि की यह अपभ्रंश रचना है। इसमें ११३ पद्य हैं। 'कुलक' के नाम से प्रसिद्ध इस कृति का विषय ज्ञान का निरूपण है।

टीका—इसकी संस्कृत टीका के कर्ता का नाम अज्ञात है।

धम्माधम्मवियार (धर्माधर्मविचार) :

यह भी उपर्युक्त जिनप्रभसूरि की अपभ्रंश रचना है। इसमें १८ पद्य हैं। इसका प्रारम्भ **'अह जण निसुणिज्जउ'** से हुआ है। इसमें धर्म एवं अधर्म का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

सुबोधप्रकरण :

यह हरिभद्रसूरि की कृति है ऐसा कई मानते हैं, परन्तु अब तक यह अप्राप्य है।

सामण्णगुणोवएसकुलय (सामान्यगुणोपदेशकुलक) :

यह अंगुलसित्तरि इत्यादि के कर्ता उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित २५ पद्यों की कृति है। इसमें सामान्य गुणों का उपदेश दिया गया होगा ऐसा इसके नाम से ज्ञात होता है।

---

१. इस नाम की दो कृतियाँ प्रकरणसमुच्चय में अनुक्रम से २५–२७ और २७–२८ पत्रों पर छपी हैं।

२. यह भी प्रकरणसमुच्चय (पत्र ३६–८) में छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मबोधकुलक :

यह जयशेखरसूरि की रचना है।

विद्यासागरश्रेष्ठिकथा :

५० पद्यों की यह कृति चैत्रगच्छ के गुणाकरसूरि ने लिखी है।

गद्यगोदावरी :

यह यशोभद्र ने लिखी है ऐसा कई लोगों का मानना है।

कुमारपालप्रन्बध :

यह[1] सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनमण्डनगणी की अंशतः गद्य में और अंशतः पद्य में २४५६ श्लोक-परिमाण वि० सं० १४९२ में रचित कृति है। इसमें कुमारपाल नृपति का अधिकार वर्णित है।

दुवालसकुलय (द्वादशकुलक) :

यह[2] खरतर जिनवल्लभसूरि ने जैन महाराष्ट्री में भिन्न-भिन्न छन्दों में लिखा है। इसकी पद्य-संख्या २३२ है।

टीकाएँ—इस पर ३३६३ श्लोक-परिमाण एक टीका जिनपाल ने वि० सं० १२९३ में लिखी है। इसके अतिरिक्त इस पर एक विवरण उपलब्ध है, जो भाण्डागारिक नेमिचन्द्र ने लिखा है ऐसा कई लोगों का मानना है।

●

---

१. यह प्रबन्ध जैन आत्मानंद सभा ने वि० सं० १९७१ में प्रकाशित किया है।

२. यह जिनपाल की टीका के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड' ने सन् १९३४ में प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ प्रकरण

योग और अध्यात्म

योग के विविध अर्थ होते हैं। प्रस्तुत में संसार में अनादि काल से परिभ्रमण करते जीव के दुःख का सर्वथा नाश करके शाश्वत आनन्द की दशा प्राप्त कराने वाला—परमात्मा बनाने वाला साधन 'योग' है। संक्षेप में कहें तो मुक्ति का मार्ग उन्मुक्त करनेवाला साधन 'योग' है। यह दैहिक और भौतिक आसक्ति के उच्छेद से शक्य है। ऐसा होने से हमारे देश में—भारतवर्ष में और कालान्तर में अन्यत्र तप को योग मानने की वृत्ति उत्पन्न हुई। आगे चलकर ध्यानरूप आभ्यन्तर तप को श्रेष्ठ मानने पर योगी को ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए ऐसी मान्यता रूढ़ हुई। इसके पश्चात् योग का अर्थ समदर्शिता किया जाने लगा। इस प्रकार योग का बाह्य स्वरूप बदलता रहा है, जबकि उसका आन्तरिक तथा मौलिक स्वरूप एवं ध्येय तो स्थिर रहा है।

हमारा यह देश योग एवं अध्यात्म की जन्मभूमि माना जाता है। इस अवसर्पिणी काल में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए हैं। उन्हें वैष्णव एवं शैवमार्गी अपने-अपने ढङ्ग से महापुरुष या अवतारी पुरुष मानते हैं। कई उन्हें 'अवधूत'[1] कहते हैं। वे एक दृष्टि से देखें तो आद्य योगी ही नहीं, योगीराज हैं। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं से योग-मार्ग का प्रवर्तन हुआ है। अतएव योगविषयक साहित्य की विपुल मात्रा में रचना हुई है, परन्तु वह सर्वांशतः आज उपलब्ध नहीं है, उसमें से अधिकांश तो नामशेष रह गया है। जैन साहित्य के एक अंगरूप योग-साहित्य के लिए भी यही परिस्थिति है। जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स (बम्बई) द्वारा प्रकाशित 'जैन ग्रन्थावली' के पृ० १०९ से ११३ पर 'अध्यात्म ग्रन्थ' शीर्षक के नीचे पचास ग्रन्थों की तालिका दी है। इस विषय के अन्य कई ग्रंथों का उसमें अन्यान्य शीर्षकों के नीचे निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों के प्रकाशन के पश्चात् दूसरे कई ग्रंथ ज्ञात हुए हैं। उनमें

---

१. इसका धूतरूप अंश आचारांग (श्रुत० १) के छठे अध्ययन के नाम 'धुय' (सं० धूत) का स्मरण कराता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से जितने शक्य हैं उतने ग्रन्थों के बारे में प्रायः शतकबार मैं यहाँ परिचय देने का प्रयत्न करूँगा। इसका आरम्भ महर्षि पतंजलिकृत 'योगदर्शन' विषयक जैन वक्तव्य से करता हूँ।

सभाष्य योगदर्शन की जैन व्याख्या :

महर्षि पतंजलि ने १९५ सूत्रों में उपर्युक्त योगदर्शन की रचना की है और उसे चार पादों में विभक्त किया है। उन पादों के नाम तथा प्रत्येक पाद के अन्तर्गत सूत्रों की संख्या इस प्रकार है :

१. समाधिपाद	५१
२. साधननिर्देश	५५
३. विभूतिपाद	५५
४. कैवल्यपाद	३४

सांख्यदर्शन के अनुसार सांगोपांग योगप्रक्रिया का निरूपण करनेवाले इस योगदर्शन पर व्यास ने एक महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है। उसका यथायोग्य उपयोग करके न्यायविशारद न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी गणी ने इस योगदर्शन के २७ सूत्रों पर व्याख्या लिखी है।[1] इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने दो कार्य किये हैं : १. सांख्यदर्शन और जैनदर्शन के बीच जो भेद हैं वह स्पष्ट किया है, और २. इन दोनों दर्शनों के बीच जहाँ मात्र परिभाषा का ही भेद है वहाँ उन्होंने समन्वय किया है।

पं० श्री सुखलालजी संघवी ने इस व्याख्या का हिन्दी में सार दिया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

योगदर्शन के द्वितीय पाद के २९वें सूत्र में योग के निम्नांकित आठ अंग गिनाये हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से यम, नियम और आसन के बदले तर्क के और प्राणायाम से लेकर समाधि तक के पाँच योगांगों के सिंहसूरिगणीकृत निरूपण पर अब हम विचार करेंगे।

---

१. यह व्याख्या विवरण एवं हिन्दी सार के साथ प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग के छः अंग

सिंहसूरिगणी वादिक्षमाश्रमण ने 'द्वादशारनयचक्र'[1] के तीसरे आरे की न्यायागमानुसारिणी नाम की वृत्ति (वि० १, पृ० ३३२) में निम्नलिखित पद्य 'को योगः ?' के उल्लेख के साथ दिया है :

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कः समाधिरित्येष षडङ्गो योग उच्यते ॥

यह श्लोक अमृतनाद उपनिषद् (६) में 'तर्कश्चैव समाधिश्च' इस प्रकार के तीसरे पाद के साथ तथा अत्रिस्मृति में दृष्टिगोचर होता है। इस उद्धरण का स्पष्टीकरण उपर्युक्त वृत्ति (पृ० ३३२) में आता है। उसमें प्राणायाम के रेचक, कुम्भक और पूरक इन तीन भेदों का निर्देश करके इन तीनों का स्वरूप संक्षेप में समझाया है। तर्क के स्पष्टीकरण में पल्यंक, स्वस्तिक और वीरासन इन तीन आसनों का उल्लेख आता है। अन्त में इस षडंग योग द्वारा सर्वत्र पृथ्वी इत्यादि मूर्तिरूप ईश्वर का दर्शन कर भावित आत्मा उसे अपनी आत्मा में किस प्रकार देखता है इसका निर्देश किया गया है।

इस प्रकार योग के छः अंगों का उल्लेख करने वाले उपर्युक्त क्षमाश्रमण ने मध्यस्थलक्षी हरिभद्रसूरि की अथवा अपने पुरोगामी सिद्धसेनगणी की भाँति अपनी इस वृत्ति में बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का अथवा उनकी किसी कृति का उल्लेख नहीं किया। फलतः वे सिद्धसेनगणी से पहले हुए हैं ऐसा माना जाता है।

योगनिर्णय :

गुणग्राही और सत्यान्वेषक श्री हरिभद्रसूरि[2] ने योगदृष्टिसमुच्चय (श्लो० १) की स्वोपज्ञ वृत्ति (पत्र २ अ) में उत्तराध्ययन के साथ 'योगनिर्णय' का योग-विषयक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। उसमें योगदृष्टिसमुच्चय में निर्दिष्ट इच्छा-योग, शास्त्र-योग और सामर्थ्य-योग का निरूपण होगा, मित्रा आदि आठ दृष्टियों का या पांच समिति और

---

१. इसका प्रकाशन चार आरा तक के भाष्य तथा उसकी टीका आदि के साथ आत्मानन्द सभा ने इस वर्ष (१९६७) भावनगर से किया है। इसका सम्पादन टिप्पण आदि के साथ मुनि श्री जम्बूविजयजी ने किया है।
२. इनका परिचय करानेवाली अपनी कृतियों का निर्देश मैंने आगे किया है।

१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन गुप्तियों का अथवा योगविषयक कोई अन्य बात होगी यह बताना सम्भव नहीं है। इस योगनिर्णय का श्री हरिभद्रसूरि ने ही उल्लेख किया है। किसी अजैन विद्वान् ने किया हो तो ज्ञात नहीं। इसके अतिरिक्त इसके साथ उत्तराध्ययन का उल्लेख होने से यह एक जैन कृति होगी ऐसा मेरा मानना है। इसके रचनाकाल की उत्तरावधि विक्रम की ८ वीं सदी है :

योगाचार्य की कृति :

योगदृष्टिसमुच्चय के श्लोक १४, १९, २२, २५ और ३५ की स्वोपज्ञ वृत्ति में 'योगाचार्य' का उल्लेख आता है। 'ललितविस्तरा' (प० ७६ अ) में 'योगाचार्याः' ऐसा उल्लेख है। ये दोनों उल्लेख एक ही व्यक्ति के विषय में होंगे। ऐसा लगता है कि कोई जैन योगाचार्य हरिभद्रसूरि के पहले हुए हैं। उनकी कोई कृति इस समय उपलब्ध नहीं है। यह कृति विक्रम की सातवीं शती की तो होगी ही।

हारिभद्रीय कृतियाँ :

समभावभावी श्री हरिभद्रसूरि[1] ने योगविषयक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; जैसे १. योगबिन्दु, २. योगदृष्टिसमुच्चय, ३. योगशतक, ४. ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय, ५. जोगविंशिका और ६. षोडशक के कई प्रकरण (उदाहरणार्थ १०–१४ और १६)। अन्य ग्रन्थों में भी प्रसंगोपात्त योगविषयक बातों को हरिभद्रसूरि ने स्थान दिया है। इन सब कृतियों में से 'ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय' के बारे में अभी थोड़े दिन पहले ही जानकारी प्राप्त हुई है। उसके तथा अन्य कृतियों के प्रकाश के विषय में आगे निर्देश किया गया है।

योगबिन्दु :

अनुष्टुप् छन्द के ५२७ पद्यों में रचित हरिभद्रसूरि की यह कृति[2] अध्यात्म

---

१. इनके जीवन एवं रचनाओं के बारे में मैंने 'अनेकान्त-जयपताका' के खण्ड १ (पृ० १७-२९) और खण्ड २ (पृ० १०–१०६) के अपने अंग्रेजी उपोद्घात में तथा श्री हरिभद्रसूरि, षोडशक की प्रस्तावना, समराइच्चकहाचरिय के गुजराती अनुवादविषयक अपने दृष्टिपात आदि में कतिपय बातों का निर्देश किया है। उपदेशमाला और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय भी उनकी कृतियाँ हैं। इनमें भी उपदेशमाला तो आज तक अनुपलब्ध ही है।

२. यह कृति अज्ञातकर्तृक वृत्ति के साथ 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने सन् १९११ में प्रकाशित की है। इसका सम्पादन डा० एल० सुआली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर प्रकाश डालती है। इसमें विविध विषयों का निरूपण आता है; जैसे—योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, विष, गर, अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृत ये पाँच प्रकार के अनुष्ठान[1], सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधनभूत यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि में स्वभाव, काल आदि पाँच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षेप इन पाँच आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं में से प्रथम चार का पतंजलि के कथनानुसार सम्प्रज्ञात के रूप में और अन्तिम का असम्प्रज्ञात के रूप में निर्देश, गोपेन्द्र[2] और कालातीत[3] के मन्तव्य तथा सर्वदेव-

---

(L. Suali) ने किया है। इसके पश्चात् यही कृति 'जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा' ने सन् १९४० में प्रकाशित की है। केवल मूल कृति गुजराती अर्थ (अनुवाद) और विवेचन के साथ 'बुद्धिसागर जैन ज्ञानमन्दिर' ने 'सुख-सागरजी ग्रन्थमाला' के तृतीय प्रकाशन के रूप में सन् १९५० में प्रकाशित की है। आजकल यह मूल कृति अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद की ओर से छप रही है।

१. वैयाकरण विनयविजयगणी ने 'श्रीपालराजानो रास' शुरू किया था, परन्तु वि० सं० १७३८ में उनका अवसान होने पर अपूर्ण रहा था। न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी ने तृतीय खण्ड की पाँचवीं ढाल अथवा उसके अमुक अंश से आगे का भाग पूर्ण किया है। उन्होंने चतुर्थ खण्ड की सातवीं ढाल के २९ वें पद्य में इन विषादि पाँच अनुष्ठानों का उल्लेख करके पद्य ३०–३३ में उनका विवेचन किया है। इसके अलावा २६ वें पद्य में भी अनुष्ठान से सम्बद्ध प्रीति, भक्ति, वचन और असंग का उन्होंने निर्देश किया है।

२. श्री हरिभद्रसूरि ने अन्य सम्प्रदायों के जिन विद्वानों का मानपूर्वक निर्देश किया है उनमें से एक यह गोपेन्द्र भी है। इन सांख्ययोगाचार्य के मत के साथ उनका अपना मत मिलता है ऐसा उन्होंने कहा है। हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरा (प० ४५ आ) में 'भगवद्गोपेन्द्र' ऐसे सम्मानसूचक नाम के साथ उनका उल्लेख किया है। गोपेन्द्र अथवा उनकी किसी कृति के बारे में किसी अजैन विद्वान् ने निर्देश किया हो तो ज्ञात नहीं।

३. ये परस्पर विरुद्ध बातों का समन्वय करते हैं। इस दृष्टि से इस क्षेत्र में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार की उदारवृत्ति के बारे में 'चारिसंजीवनी' न्याय और कालातीत की अनुपलब्ध कृति में से सात अवतरण।

योगबिन्दु के श्लोक ४५९ में "समाधिराज"[1] नामक बौद्ध ग्रन्थ का उल्लेख आता है, परन्तु वृत्तिकार को इसकी स्मृति न होने से उसका कोई दूसरा ही अर्थ किया है।

योगबिन्दु में योग के अधिकारी-अनधिकारी का निर्देश करते समय मोह में मुग्ध—अचरमावर्त में विद्यमान संसारी जीवों को उन्होंने 'भवाभिनन्दी' कहा है, जबकि चरमावर्त में विद्यमान शुक्लपाक्षिक, भिन्नग्रन्थि और चारित्री जीवों को योग के अधिकारी माना है। इस अधिकार की प्राप्ति पूर्वसेवा से हो सकती है—ऐसा कहते समय पूर्वसेवा का अर्थ मर्यादित न करके विशाल किया है। उन्होंने उसके चार अंग गिनाये है: १. गुरुप्रतिपत्ति अर्थात् देव आदि का पूजन; २. सदाचार, ३. तपश्चर्या और ४. मुक्ति के प्रति अद्वेष। गुरु अर्थात् माता, पिता, कलाचार्य, सगे-सम्बन्धी (ज्ञातिजन), वृद्ध और धर्मोपदेशक। इस प्रकार हरिभद्रसूरि ने 'गुरु' का विस्तृत अर्थ किया है। आजकल पूर्वसेवा का

ये हरिभद्रसूरि के पुरोगामी कहे जा सकते हैं। 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' (पृ० ८०) में ये शैव, पाशुपत या अवधूत परम्परा के होंगे ऐसी कल्पना की गई है।

१. यह बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर की तरह मिश्र संस्कृत में रचा गया है। इसका उल्लेख श्लो० ४५९ में नैरात्म्यदर्शन से मुक्ति माननेवाले के मन्तव्य की आलोचना करते समय आता है। इस मन्तव्य का निरूपण 'समाधिराज' (परिवर्त ७, श्लो० २८-२९) में आता है। यह समाधिराज ग्रन्थ दो स्थानों से प्रकाशित हुआ है: १. गिल्गिट मेन्युस्क्रिप्ट्स के द्वितीय भाग में सन् १९४१ में और २. मिथिला इन्स्टिट्यूट, दरभंगा (बिहार) से सन् १९६१ में। प्रथम प्रकाशन के सम्पादक डा० नलिनाक्ष-दत्त हैं और दूसरे के डा० पी० एल० वैद्य। डा० वैद्य द्वारा सम्पादित समाधिराज बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली के द्वितीय ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है।

समाधिराज के तीन चीनी अनुवाद हुए हैं। चौथा अनुवाद भोट भाषा में हुआ है। इस चौथे अनुवाद में सर्वाधिक प्रक्षिप्तांश हैं, ऐसा माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो ह्रास हो रहा है वह शोचनीय है। आधुनिक शिक्षा में पूर्वसेवा को धार्मिक शिक्षा की नींव के रूप में मान्य रखा जाय तो आज की विषम परिस्थिति में खूब लाभ हो सकता है।

वृत्ति—'सद्योगचिन्तामणि' से शुरू होनेवाली इस वृत्ति का श्लोक-परिमाण ३६२० है। योगबिन्दु के स्पष्टीकरण के लिए यह वृत्ति अति महत्त्व की है। कई लोग इसे स्वोपज्ञ मानते हैं, परन्तु 'समाधिराज' का जो भ्रान्त अर्थ किया गया है उससे यह मान्यता अनुचित सिद्ध होती है। योगदृष्टिसमुच्चय तथा योगशतक पर एक-एक स्वोपज्ञ वृत्ति है और वह मिलती भी है। योगबिन्दु पर भी स्वोपज्ञ वृत्ति होगी, ऐसी कल्पना होती है।[1]

योगशतक (जोगसयग) :

श्री हरिभद्रसूरि ने संस्कृत में जैसे योगविषयक ग्रन्थ लिखे हैं वैसे प्राकृत में भी लिखे हैं। उनमें से एक है योगशतक[2] तथा दूसरा है वीसवीसिया की जोग-

---

१. प्रो० मणिलाल न० द्विवेदी ने योगबिन्दु का गुजराती अनुवाद किया था और वह 'वडोदरा देशी केलवणीखातुं' ने सन् १८९९ में प्रकाशित किया था।

योगबिन्दु एवं उसकी अज्ञातकर्तृक वृत्ति आदि के बारे में विशेष जानकारी के लिए लेखक के 'श्री हरिभद्रसूरि' तथा 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' ग्रन्थ देखिए।

२. यह गुजराती अर्थ, विवेचन, प्रस्तावना, विषय-सूची तथा छः परिशिष्टों के साथ अहमदाबाद से 'गुजरात विद्यासभा' ने प्रकाशित किया है। इसका सम्पादन डा० इन्दुकला हीराचन्द झवेरी ने किया है। इस कृति का नाम 'योगशतक' रखा है। सन् १९६५ में यही कृति स्वोपज्ञ वृत्ति तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के साथ 'योगशतक' के नाम से लालभाई दलपत-भाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ने प्रकाशित की है। इसका सम्पादन मुनि श्री पुण्यविजयजी ने किया है। उनकी अपनी संस्कृत प्रस्तावना, डा० इन्दुकला ही० झवेरी के अंग्रेजी उपोद्घात, संस्कृत में विषयानुक्रम, डा० के० के० दीक्षितकृत योगशतक का अंग्रेजी अनुवाद, आठ परिशिष्ट तथा योगशतक एवं ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय की ताड़पत्रीय प्रतियों के एक-एक पत्र की प्रतिकृति से यह समृद्ध है।

डा० इन्दुकला झवेरी द्वारा सम्पादित योगशतक का हिन्दी अनुवाद भी गुजरात विद्यासभा ने प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहाणवीसिया नाम की १७वीं वीसिया। प्रस्तुत योगशतक ग्रन्थ में निम्नलिखित विषय आते हैं :

नमस्कार, योग का निश्चय एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से लक्षण, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनों के लक्षण, व्यवहार से योग का स्वरूप, निश्चय योग से फल की सिद्धि, योगी का स्वरूप, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, योग के अधिकारी के लक्षण, अपुनर्बन्धक का लक्षण, सम्यग्दृष्टि के शुश्रूषा, धर्म का राग और गुरु एवं देव का वैयावृत्त्य (सेवा) ये तीन लिंग, चारित्री के लिंग, योगियों की तीन कथाएँ और तदनुसार उपदेश, गृहस्थ का योग, साधु की सामाचारी, अपात्र को योग देने से पैदा होने वाले अनिष्ट, योग की सिद्धि, मतान्तर, उच्च गुणस्थान की प्राप्ति की विधि, अरति दूर करने के उपाय, अनभ्यासी के कर्तव्य, राग, द्वेष एवं मोह का आत्मा के दोषों के रूप में निर्देश, कर्म का स्वरूप, संसारी जीव के साथ उसका सम्बन्ध, कर्म के कारण, कर्म की प्रवाह रूप से अनादिता, मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा पर प्रभाव, रागादि दोषों का स्वरूप तथा तद्विषयक चिन्तन, मैत्री आदि चार भावनाएँ, आहारविषयक स्पष्टीकरण, सर्वसम्पत्कारी भिक्षा, योगजन्य लब्धियाँ और उनका फल, कायिक प्रवृत्ति की अपेक्षा मानसिक भावना की श्रेष्ठता के सूचक दृष्टान्तों के रूप में मण्डूकचूर्ण और उसकी भस्म तथा मिट्टी का घड़ा और सुवर्ण-कलश, विकास-साधक के दो प्रकार, आशयरत्न का वासीचन्दन के रूप में उल्लेख तथा कालज्ञान के उपाय।

योगशतक की गा० ९, ३७, ६२, ८५, ८८, ९२, और ९७ में निर्दिष्ट बातें ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के ३७, १३६, १६३, २६३-६५, १७१, ४१३ और ३९२-९४ में पाई जाती हैं।[1]

जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, योगबिन्दु में आने वाली योगविषयक कितनी ही बातें योगशतक में संक्षेप में आती हैं।[2] इस बात का समर्थन योगशतक की स्वोपज्ञ टीका में आने वाले योगबिन्दु के उद्धरणों से होता है।

स्वोपज्ञ व्याख्या—यह व्याख्या स्वयं हरिभद्रसूरि ने लिखी है। इसका अथवा मूल सहित इस व्याख्या का परिमाण ७५० श्लोक है। इस संक्षिप्त व्याख्या

---

१. देखिए—मुनि श्री पुण्यविजयजी की प्रस्तावना, पृ० ४.

२. देखिए—योगशतक की गुजराती प्रस्तावना पृ० ५४-५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रचना इस प्रकार हुई है कि उसके आधार पर मूल के प्राकृत पद्यों की संस्कृत छाया सुगमता से तैयार की जा सकती है। इसमें अपने तथा अन्यकर्तृक[1] ग्रन्थों में से हरिभद्रसूरि ने उद्धरण दिये हैं। जैसे कि—योगबिंदु (श्लो० ६७-६९, १०१-१०५, ११८, २०१-२०५, २२२-२२६, ३५८, ३५९), लोकतत्त्वनिर्णय (श्लो० ७) शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्त० ७, श्लो० २-३) और अष्टकप्रकरण (अष्टक २९)। ये सब स्वरचित ग्रन्थ हैं। निम्नांकित प्रतीक वाले उद्धरणों के मूल अज्ञात हैं :

श्रेयांसि बहुविघ्नानि० (पृ० १), शक्तिः सफलैवं० (पृ० ५), ऊर्ध्वाधःसमाधि० (पृ० ९), सम्भृतसुगुप्त० (पृ० १०), सांसिद्धिक० (पृ० १६), आग्रही बत० (पृ० ३९), द्विविधं हि भिक्षवः ! पुण्यं० (पृ० ३८) धर्मधाता० (पृ० ४०), पञ्चाहात्० (पृ० ४२), प्रध्मान० (पृ० ४३) और जल्लेसे मरइ (पृ० ४३)।[2]

योगदृष्टिसमुच्चय :

यह कृति[3] श्री हरिभद्रसूरि ने २२६ पद्यों में रची है। इसमें योग के १. इच्छा-योग, २. शास्त्र-योग और ३. सामर्थ्य-योग इन तीन भेदों का तथा सामर्थ्य-योग के धर्मसंन्यास और योगसंन्यास इन दो उपभेदों का निरूपण किया

---

१. पृ० ११ पर षष्टितंत्र और भगवद्गीता के उद्धरण हैं।

२. ये पद्य अन्यकर्तृक हैं, परन्तु योगबिन्दु में इस तरह गूँथ लिये हैं कि वे मूलके से प्रतीत होते हैं।

३. यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत ने सन् १९११ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त वृत्ति के साथ मूल कृति जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा ने सन् १९४० में प्रकाशित की है। मूल कृति, उसका दोहों में गुजराती अनुवाद, प्रत्येक पद्य का अक्षरशः गद्यात्मक अनुवाद, हारिभद्रीय वृत्ति का अनुवाद, इस वृत्ति के आधार पर 'सुमनोनन्दिनी बृहत् टीका' नामक विस्तृत विवेचन, प्रत्येक अधिकार के अन्त में उसके साररूप गुजराती पद्य, उपोद्घात और विषयानुक्रमणिका—इस प्रकार डा० भगवानदास म० महेता द्वारा तैयार की गई विविध सामग्री के साथ श्री मनसुखलाल ताराचन्द महेता ने 'योगदृष्टिसमुच्चय सविवेचन' नाम से बम्बई से सन् १९५० में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। इसके अनन्तर १. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा और ८. परा—इन आठ दृष्टियों का विषय विशद एवं मननीय निरूपित है। दीप्रा नाम की चौथी दृष्टि के निरूपण में अवेद्यसंवेद्य पद[1], वेद्यसंवेद्य पद, कुतर्कनिन्दा, सर्वज्ञ-तत्त्व और सर्वज्ञों में अभेद, सर्वज्ञ की देशना और सर्वज्ञवाद जैसे विविध अधिकार हैं। अन्त में १. गोत्रयोगी, २. कुलयोगी, ३. प्रवृत्तचक्रयोगी और ४. निष्पन्नयोगी के बारे में स्पष्टता की गई है। प्रस्तुत कृति में संसारी जीव की अचरमावर्तकालीन अवस्था को 'ओघदृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था को 'योगदृष्टि' कहा है। आठ योगदृष्टियों में से पहली चार में मिथ्यात्व का अंश होने से उन्हें अवेद्यसंवेद्यपदवाली और अस्थिर एवं सदोष कहा है, जबकि अवशिष्ट चार को वेद्यसंवेद्यपदवाली कहा है। पहली चार दृष्टियों में चौदह गुणस्थानों में से आद्य गुणस्थान होता है, पाँचवीं और छठीं में उसके बाद के तीन गुणस्थान, सातवीं में उनके बाद के दो और आठवीं में अवशिष्ट छः का समावेश होता है।

उपर्युक्त आठ दृष्टियों के विषय का आलेखन न्यायाचार्य श्री यशोविजयगणी ने द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका की द्वात्रिंशिका २१-२४ में तथा 'आठ योगदृष्टिनी सज्झाय' में किया है। स्व. मोतीचन्द गि. कापडिया ने इस विषय को लेकर गुजराती में 'जैन दृष्टिए योग'[2] नाम की पुस्तक लिखी है। इसके अतिरिक्त इस विषय का निरूपण न्यायविशारद न्यायतीर्थ मुनि श्री न्यायविजयजी ने अध्यात्म-तत्त्वालोक में किया है।

स्वोपज्ञ वृत्ति—११७५ श्लोक-परिमाण यह वृत्ति ग्रन्थकार ने स्वयं रचकर मूल के विषय का विशद स्पष्टीकरण किया है। मित्रा आदि आठ दृष्टियों की पातंजल योगदर्शन (२-२९) में आये यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगांगों के साथ जैसे मूल में तुलना की है, उसी प्रकार उसकी तुलना श्लो० १६ की वृत्ति में खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान,

१. जिसमें बाह्य वेद्य विषयों का यथार्थ रूप से संवेदन अर्थात् ज्ञान नहीं होता।
२. इसकी दूसरी आवृत्ति श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ने वि. सं. २०१० में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रान्ति, अन्यमुद्, रोग और आसंग[1] के साथ तथा इसी श्लोक की वृत्ति में अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, शुद्ध प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति[2] के साथ की है। इस प्रकार जो त्रिविध तुलना की गई है वह क्रमशः पतंजलि, भास्करबन्धु और दत्त के मन्तव्य प्रतीत होते हैं।[3]

टीका—यह सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणी की ४५० श्लोक-परिमाण रचना है। यह अबतक अप्रकाशित है।[4]

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय :

इसके[5] प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि हैं ऐसा मुनि श्री पुण्यविजयजी का मन्तव्य है और मुझे वह यथार्थ प्रतीत होता है। उनके मत से इसकी एक खण्डित ताड़पत्रीय प्रति जो उन्हें मिली थी वह विक्रम की बारहवीं शताब्दी में लिखी गई थी।

इस संस्कृत ग्रन्थ के ४२३ पद्य ही मुश्किल से मिले हैं और वे भी पूर्ण नहीं हैं। आद्य पद्य में महावीर को नमस्कार करके ब्रह्मादि की प्रक्रिया, उसके सिद्धान्त के अनुसार, जताने की प्रतिज्ञा की है। इस ग्रन्थ का महत्त्व एक दृष्टि से यह है कि इसमें सर्व-दर्शनों का समन्वय साधा गया है। श्लोक ३९२-९४ में मृत्युसूचक चिह्नों का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हारिभद्रीय कृतियों में से जो कतिपय पद्य मिलते हैं उनका निर्देश श्री पुण्यविजयजी ने किया है, जैसेकि श्लोक ६२ ललितविस्तरा में आता है। षोडशक प्रकरण में अद्वेष, जिज्ञासा आदि आठ अंगों का जैसा उल्लेख है वैसा इसके श्लोक ३५ में भी है। इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का जो निरूपण श्लोक १८८-१९१ में है वह ललितविस्तरा और योगदृष्टिसमुच्चय की याद दिलाता है। प्रस्तुत कृति के श्लोक ५४ में अपुनर्बन्धक का उल्लेख है। यह योगदृष्टिसमुच्चय में भी है।

---

१. इन खेद आदि के स्पष्टीकरण के लिए देखिए—षोडशक (षो० १४, श्लो० २-११)।
२. देखिए—षोडशक (षो० १६, श्लो० १४)।
३. देखिए—समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ८६.
४. पं० भानुविजयगणी ने योगदृष्टिसमुच्चयपीठिका नाम की कृति लिखी है जो प्रकाशित है।
५. यह नाम मुनि श्री पुण्यविजयजी ने दिया है। यह कृति प्रकाशित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोगविहाणवीसिया (योगविधानविंशिका) :

श्री हरिभद्रसूरि ने जो 'वीसवीसिया' लिखी है वह बीस विभागों में विभक्त है। उनमें से सत्रहवें विभाग का नाम 'जोगविहाणवीसिया'[1] है। उसमें बीस गाथाएँ हैं। उसका विषय 'योग' है। गा० १ में कहा है कि जो प्रवृत्ति मुक्ति की ओर ले जाय वह 'योग' है। इस प्रकार यहाँ योग का लक्षण दिया गया है। गा० २ में योग के पाँच प्रकार गिनाये हैं: १. स्थान, २. ऊर्ण, ३. अर्थ, ४. आलंबन और ५. अनालम्बन।[2] इनमें से प्रथम दो 'कर्मयोग' हैं और अवशिष्ट तीन 'ज्ञानयोग' हैं। इन पाँचों प्रकारों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि ऐसे चार-चार भेद हैं। इस प्रकार यहाँ योग के ८० भेदों का निरूपण किया गया है। गाथा ८ में अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम का निर्देश है। इस तरह यहाँ तत्त्वार्थसूत्र (अ० १, सू० २) की हारिभद्रीय टीका की भाँति सम्यक्त्व के आस्तिक्य आदि पाँच लक्षण पश्चादानुपूर्वी से दिये हैं। गाथा १४ में कहा है कि तीर्थ के रक्षण के बहाने अशुद्ध प्रथा चालू रखने से तीर्थ का उच्छेद होता है। गाथा १७-२० में शुद्ध आचरण के चार प्रकारों का उल्लेख है।

---

१. यह कृति वीसविंसिया का एक अंश होने से उसके निम्नलिखित दो प्रकाशनों में इसे स्थान मिला है :

(अ) ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम का वीसवीसिया इत्यादि के साथ में सन् १९२७ का प्रकाशन।

(आ) प्रो० के० वी० अभ्यंकर द्वारा सम्पादित और सन् १९३२ में प्रकाशित आवृत्ति। इस द्वितीय प्रकाशन में वीसवीसिया की संस्कृत-छाया, प्रस्तावना, अंग्रेजी टिप्पण और सारांश आदि दिये गये हैं।

(इ) 'योगदर्शन तथा योगविंशिका' नामक जो पुस्तक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा से सन् १९२२ में प्रकाशित हुई है उसमें प्रस्तुत कृति, उसका न्यायाचार्यकृत विवरण तथा कृति का हिन्दी-सार दिया गया है।

(ई) 'पातंजल योगदर्शन' पर 'योगानुभवसुखसागर' तथा हरिभद्रसूरिरचित 'योगविंशिका गुर्जर भाषानुवाद' नामक ग्रन्थ श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, विजापुर (उत्तर गुजरात) ने वि० सं० १९९७ में प्रकाशित किया है। उसमें ऋद्धिसागरसूरिकृत जोगविहाणवीसिया का अर्थ, भावार्थ एवं टीकार्थ दिया गया है।

२. इन पाँचों का षोडशक (षो० १३, ४) में निर्देश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कृति में आध्यात्मिक विकास की प्राथमिक भूमिका का विचार न करके आगे की भूमिकाओं का निर्देश किया है ।

प्रस्तुत कृति की विषय एवं शैली की दृष्टि से षोडशक के साथ तुलना की जा सकती है ।

विवरण—जोगविहाणवीसिया के ऊपर न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी गणी ने संस्कृत में विवरण लिखा है । उसमें तीर्थ का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जैनों का समूह तीर्थ नहीं है । यदि वह समूह आज्ञारहित हो तो उसे 'हड्डियों का ढेर' समझना चाहिए । सूत्रोक्त यथोचित क्रिया करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का समुदाय ही 'तीर्थ' है ।

इस विवरण में आनेवाली कतिपय चर्चाओं में तर्कशैली का उपयोग किया गया है । योगबिन्दुगत अध्यात्म आदि योग के पाँच भेदों को उपाध्यायजी ने क्रमशः स्थान आदि में घटाया है ।[1]

परमप्पयास (परमात्मप्रकाश) :

यह ३४५ दोहों में अपभ्रंश में जोगसार के कर्ता जोइन्दु (योगीन्दु) की कृति[2] है । इसमें परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । यह दो अधिकारों में विभक्त है । इसका आरम्भ परमात्मा तथा पंचपरमेष्ठी के नमस्कार के साथ हुआ है । भट्ट प्रभाकर की अभ्यर्थना से योगीन्दु परमात्मा का स्वरूप उसे समझाते हैं । ऐसा करते समय कुन्दकुन्दाचार्य[3] और पूज्यपाद[4] की भाँति

---

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए—योगशतक की गुजराती प्रस्तावना, ५७ (टिप्पण) ।

२. यह 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' में ब्रह्मदेव की टीका के साथ सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ है । उसी वर्ष रिखबदास जैन के अंग्रेजी अनुवाद के साथ भी यह प्रकाशित हुआ है । अंग्रेजी में विशिष्ट प्रस्तावना तथा जोगसार के साथ इसका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्ये ने किया है जो 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' में सन् १९३७ में छपा है । इसकी द्वितीय आवृत्ति सन् १९६० में प्रकाशित हुई है और उसमें अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी में सार भी दिया गया है । द्वितीय संस्करण के अनुसार इसमें कुल ३५३ दोहे हैं ।

३. देखिए—मोक्खपाहुड, गा० ५–८.

४. देखिए—समाधिशतक, पृ० २८१–९६ (सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रकाशन) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निरूपण करते हैं। आत्मा के स्वरूप के निर्देशक अजैन मन्तव्य भी इन्होंने बतलाये हैं और जैन दृष्टि के अनुसार उसकी आलोचना भी की है। इसमें परमात्मा के विकल और सकल इन दो भेदों का निर्देश करके उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रसंगोपात्त द्रव्य, गुणपर्याय, कर्म, निश्चयनय के अनुसार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व, मोक्ष, नैश्चयिक और व्यावहारिक मोक्षमार्ग और शुद्ध उपयोग पर भी प्रकाश डाला है।

टीकाएँ—इस परमप्पयास परब्रह्मदेव, प्रभाचन्द्र तथा अन्य किसी ने एक-एक टीका लिखी है। पहली प्रकाशित है।

समान नामक कृति—पद्मनन्दी ने संस्कृत में १३०० श्लोक-परिमाण 'परमात्म प्रकाश' नाम की एक कृति रची है।

जोगसार (योगसार) अथवा दोहासार :

यह अपभ्रंश के १०८ दोहों में परमप्पयास के कर्ता जोइन्दु (योगीन्दु) की अध्यात्मविषयक कृति[1] है। इसके अन्तिम पद में इसके कर्ता का नामोल्लेख 'जोगिचंद मुणि' के रूप में मिलता है। इससे इसे योगिचन्द्र की कृति कहा जाता है। इसके प्रथम प्रकाशन (पृ० १६) में कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव दिया गया है, परन्तु सही नाम तो योगीन्दु है। इसके साथ ही नियप्पट्ठग (निजात्माष्टक) और अमृताशीति तथा परमप्पयास (परमात्मप्रकाश) भी इन्हीं की रचनाएँ हैं ऐसा यहाँ उल्लेख है। नियमसार की पद्मप्रभ मलधारिदेवकृत टीका में जो उद्धरण आता है वह अमृताशीति में तो उपलब्ध नहीं होता, अतः वह "**तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः— मुक्त्यंगनालिमपुनर्भवसांख्यमूलं**" ऐसा

---

१. इस कृति को 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' के २१ वें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में संस्कृत-छाया के साथ पृ० ५५–७४ में स्थान मिला है। इसके आलावा इसी ग्रन्थ में ८२ पद्यों में रचित अमृताशीति (पृ० ८५–१०१) और आठ पद्यों का निजात्माष्टक भी छपे हैं।

यह योगसार 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' में परमात्मप्रकाश के परिशिष्टरूप से सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्ये ने किया है। सन् १९६० में इसका द्वितीय संस्करण भी छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके अध्यात्मसन्दोह अथवा किसी अन्य कृति का होगा—ऐसा इसकी प्रस्तावना में कहा है। योगसार की एक हस्तप्रति वि० सं० ११९२ में लिखी हुई मिली है। इसका मुख्य विषय परमप्पयास से मिलता है।

टीकाएँ—जोगसार पर संस्कृत में दो टीकाएँ लिखी गई हैं। एक के कर्ता अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी हैं। दूसरी टीका अज्ञातकर्तृक है।

समान नामक कृतियाँ—'वीतराग' अमितगति ने 'योगसार'[1] नाम की एक औपदेशिक कृति लिखी है। वह नौ विभागों में विभक्त है। गुरुदास ने भी 'योगसार' नाम की एक दूसरी कृति रची है। इसके अलावा 'योगसार' नाम की एक कृति किसी विद्वान् ने लिखी है और उस पर अज्ञातकर्तृक टीका भी है। यह योगसार वही तो नहीं है, जिसका परिचय आगे दिया गया है।

योगसार :

इस पद्यात्मक कृति[2] के आद्य पद्य में कर्ता ने अपनी इस कृति का यह नाम सूचित किया है। उन्होंने समग्र कृति में अपने संक्षिप्त परिचय की तो बात ही क्या, अपना नाम तक नहीं दिया है। यह कृति १. यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक, २. तत्त्वसारधर्मोपदेशक, ३. साम्योपदेश, ४. सत्त्वोपदेश और ५. भावशुद्धिजनकोपदेश इन पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। इन पाँचों प्रस्तावों की पद्यसंख्या क्रमशः ४६, ३८, ३१, ४२ और ४९ है। इस प्रकार इसमें कुल २०६ पद्य हैं और वे सुगम संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द में रचित हैं।

उपर्युक्त पाँचों प्रस्तावों के नाम इस कृति में आनेवाले विषयों के द्योतक हैं। इस कृति का मुख्य विषय अनादिकाल से भवभ्रमण करनेवाला जीव किस प्रकार परम पद प्राप्त कर सकता है यह दिखलाना है। इसके उपाय स्पष्ट रूप से यहाँ दरसाये हैं। इस कृति में अभय, कालशौकरिक, वीर आदि नाम दृष्टिगोचर होते हैं।

---

१. यह कृति 'सनातन जैन ग्रन्थावली' के १६ वें ग्रन्थरूप में सन् १९१८ में प्रकाशित हुई है।

२. यह कृति श्री हरगोविन्ददास त्रिकमलाल सेठ के गुजराती अनुवाद के साथ 'जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला कार्यालय' वाराणसी ने वि० सं० १९६७ में प्रकाशित की थी। यह संस्करण अब दुष्प्राप्य है, अतः 'जैन साहित्य विकास मण्डल' ने इसे पुनः छपवाया है। इसमें पाठान्तर, अनुवाद और परिशिष्ट के रूप में पद्यों के प्रतीकों की सूची दी गई है। प्राक्कथन में प्रत्येक प्रस्ताव में आनेवाले विषयों का संक्षेप में निरूपण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचना-समय—प्रस्तुत कृति की रचना कब हुई इसका इसमें निर्देश नहीं है, परन्तु इसकी पूर्वसीमा द्वितीय प्रस्ताव के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर निश्चित की जा सकती है :

"नाञ्चलो मुखवस्त्रं न न राका न चतुर्दशी।
न श्राद्धादिप्रतिष्ठा वा तत्त्वं किन्त्वमलं मनः" ॥ २४ ॥

इसमें निम्नलिखित मतान्तरों का उल्लेख है :

१. 'अंचल' मत[1] प्रतिक्रमण करते समय वस्त्र का छोर मुख के आगे रखता है, तो अन्य मत मुखवस्त्रिका (मुहपत्ति) रखने का आग्रह करता है।

२. एक मत के अनुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा के दिन करना चाहिए, तो दूसरे के अनुसार चतुर्दशी को।

३. एक मत के अनुसार श्रावकों द्वारा की गई प्रतिष्ठा स्वीकार्य है, तो दूसरे के अनुसार आचार्यों द्वारा की गई प्रतिष्ठा।

इस प्रकार यहाँ जिन मत-मतान्तरों का निर्देश किया गया है उसके आधार पर इन मतों की उत्पत्ति के पश्चात् प्रस्तुत कृति की रचना हुई है, ऐसा फलित होता है। अतः यह विक्रम की बारहवीं शती से पूर्व की रचना नहीं है।

योगशास्त्र अथवा अध्यात्मोपनिषद् :

यह[2] कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि की कृति है जो बारह प्रकाशों में विभक्त है। इन प्रकाशों की पद्य-संख्या क्रमशः ५६, ११५, १५६, १३६, २७३, ८,

---

१. इस मत की उत्पत्ति वि० सं० ११६९ में हुई है।

२. इसका प्रकाशन सन् १९१२ में 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने किया था। उसके पश्चात् इसी सभा ने धर्मदासगणिकृत उवएसमाला (उपदेशमाला) के साथ सन् १९१५ में यह पुनः प्रकाशित किया था। इसी सभा ने स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ यह योगशास्त्र सन् १९२६ में छपाया है। शास्त्र-विशारद धर्मविजयजी (विजयधर्मसूरि) ने स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ इसका जो सम्पादन किया था उसका कुछ अंश 'बिब्लियोथिका इण्डिका' में प्रकाशित हुआ। समग्र मूल कृति 'विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला' में सन् १९३९ में प्रकाशित हुई है। हीरालाल हंसराजकृत गुजराती अनुवाद तथा स्वोपज्ञ वृत्ति (विवरण) के भावार्थ के साथ यह सम्पूर्ण कृति भीमसिंह माणेक ने सन् १८९९ में प्रकाशित की थी। ई० विण्डिश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८, ८१, १६, २४, ६१ और ५५ हैं। इस प्रकार इसमें कुल ११९९ श्लोक हैं।

प्रका० १२, श्लो० ५५ तथा प्रका० १ श्लो० ४ की स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुसार प्रस्तुत कृति योगोपासना के अभिलाषी कुमारपाल की अभ्यर्थना का परिणाम है। शास्त्र, सद्गुरु की वाणी और स्वानुभव के आधार पर इस योगशास्त्र की रचना की गई है। मोहराजपराजय (अंक ५) में निर्दिष्ट सूचना के अनुसार मुमुक्षुओं के लिये यह कृति वज्रकवच के समान है। वीतरागस्तोत्र के बीस प्रकाशों के साथ इस कृति के बारह प्रकाशों का पाठ परमार्हत कुमारपाल अपनी दन्तशुद्धि के लिये करता था, ऐसा कहा जाता है।

विषय—प्रकाश १, श्लो० १५ में कहा है कि चार पुरुषार्थों में श्रेष्ठ मोक्ष का कारण ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप 'योग' है। इसका निरूपण ही इस योगशास्त्र का मुख्य विषय है। प्रका० १, श्लो० १८-४६ में श्रमणधर्म का स्वरूप बतलाया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग गृहस्थधर्म से सम्बद्ध है। इसके २८२ पद्य हैं।

(E Windisch) ने प्रारम्भ के चार प्रकाशों का सम्पादन किया है उन्होंने इसका जर्मन भाषा में अनुवाद भी किया है। इस अनुवाद के साथ प्रकाश १-४ Z. D. M. G. (Vol. 28, p. 185 ff.) में छपे हैं। श्री महावीर जैन विद्यालय ने (प्रकाश १-४) गुजराती अनुवाद तथा दृष्टान्तों के सार के साथ इसकी दूसरी आवृत्ति सन् १९४९ में प्रकाशित की है। इसकी प्रथम आवृत्ति सन् १९४१ में उसने छापी थी। उसके सम्पादक तथा मूल के अनुवादक श्री खुशालदास हैं। इसमें हेमचन्द्रसूरि की जीवनरेखा, उनके ग्रन्थ, योग से सम्बद्ध कुछ अन्य जानकारी, तीन परिशिष्ट, पद्यानुक्रम, विषयानुक्रम, विशिष्ट शब्दों की सूची इस प्रकार विविध विषयों का समावेश किया गया है। इसमें कहा है कि प्रका० २ का श्लो० ३९ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (श्लो० ११) की स्याद्वादमंजरी में आता है। इसके बारहों प्रकाशों का छायानुवाद दस प्रकरणों में श्री गोपालदास पटेल ने किया है। उपोद्घात, विषयानुक्रमणिका, टिप्पण, पारिभाषिक शब्द आदि सूचियों, सुभाषितात्मक मूल श्लोक और उनके अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ 'पूँजाभाई जैन ग्रन्थमाला' में 'योगशास्त्र' के नाम से सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस समग्र ग्रन्थ के दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रकाश १ से ४ के प्रथम विभाग में मुख्यतः गृहस्थधर्म के लिए उपयोगी बातें आती हैं, जबकि शेष ५ से १२ प्रकाशों के द्वितीय भाग में प्राणायाम आदि की चर्चा आती है।

द्वितीय प्रकाश में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व तथा श्रावकों के बारह व्रतों में से प्रारम्भ के पाँच अणुव्रतों का विचार किया गया है।

तृतीय प्रकाश में श्रावकों के अवशिष्ट सात व्रत, बारह व्रतों के अतिचार, महाश्रावक की दिनचर्या और श्रावक के मनोरथ—इस प्रकार विविध बातें आती हैं।

चतुर्थ प्रकाश में आत्मा की सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय के साथ एकता, बारह भावनाएँ, ध्यान के चार प्रकार और आसनों के बारे में कहा गया है।

पाँचवें प्रकाश में प्राणायाम के प्रकारों और कालज्ञान का निरूपण है।

छठे प्रकाश में पातंजल योगदर्शन में निर्दिष्ट परकायप्रवेश के ऊपर प्रकाश डाला गया है।

सातवें प्रकाश में ध्याता, ध्येय, धारणा और ध्यान के विषयों की चर्चा आती है।

आठवें से ग्यारहवें प्रकाशों में क्रमशः पदस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान, रूपातीत ध्यान और शुक्ल ध्यान का स्वरूप समझाया गया है।

बारहवें प्रकाश में दो बातें आती हैं : १. योग की सिद्धि और २. प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का हेतु। यहाँ राजयोग की सिफारिश की गई है।

स्वोपज्ञ वृत्ति—स्वयं ग्रन्थकार ने यह वृत्ति[1] लिखी है। इसके अन्त में दो श्लोक आते हैं। पहले में इसका 'वृत्ति' के रूप में और दूसरे में 'विवृति' के रूप में निर्देश है, जबकि प्रत्येक प्रकाश के अन्त में इसका 'विवरण' के नाम से उल्लेख मिलता है। १२००० श्लोक-परिमाण प्रस्तुत वृत्ति बीच-बीच में आनेवाले श्लोकों एवं विविध अवतरणों से समृद्ध है। प्रका० ३, श्लो० १३० की वृत्ति (पत्र २४७ आ से पत्र २५० अ) में प्रतिक्रमण की विधि से सम्बद्ध

१. इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि. सं. १२९२ की पाटन के एक भंडार में है। वि. सं. १२५० की एक ताड़पत्रीय प्रति भी है, ऐसा ज्ञात हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३ गाथाएँ[1] किसी प्राचीन कृति में से उद्धृत की हैं। **'ईरियावहिय'**, **'तस्स उत्तरी'**, **'अन्नत्थ'**, **'नमुत्थुणं'**, **'अरिहंतचेइयाणं'**, **'लोगस्स'**, **'पुक्खरवर'** **'सिद्धाणं बुद्धाणं'**, **'जय वीयराय'**—इन सूत्रों का इस वृत्ति में स्पष्टीकरण किया गया है।

इस वृत्ति में प्रसंगोपात्त अनेक कथाएँ आती हैं। इनके द्वारा निम्नलिखित व्यक्तियों की जीवन-रेखा दी गई है :

अभयकुमार, आदिनाथ अथवा ऋषभदेव, आनन्द, कुचिकर्ण, कौशिक, कामदेव, कालसौरिकपुत्र, कालकाचार्य, चन्द्रावतंसक, चिलातिपुत्र, चुलिनीपिता, तिलक, दृढ़प्रहारी, नन्द, परशुराम, ब्रह्मदत्त, भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी, मण्डिक, महावीर स्वामी, रावण, रौहिणेय, वसु (नृपति), सगर चक्रवर्ती, संगमक, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुदर्शन श्रेष्ठी, सुभूम चक्रवर्ती और स्थूलभद्र।

इसके बारे में कुछ अधिक जानकारी 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड २, उपखण्ड २) में दी गई है।

योगिरमा—यह टीका[2] दि० अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी ने शक संवत् ११८० में चन्द्रमती के लिए लिखी है।[3] इसमें योगशास्त्र का योगप्रकाश तथा योगसार के नाम से निर्देश आता है। इस टीका के आरम्भ में तीन श्लोक हैं।

---

१. ये गाथाएँ गुजराती अनुवाद के साथ 'प्रतिक्रमणसूत्र-प्रबोधटीका' (भा० ३, पृ० ८२४-३२) में उद्धृत की गई हैं।

२. इस टीका की एक हस्तप्रति कारंजा (अकोला) के शास्त्रभंडार में है। उसमें प्रत्येक पृष्ठ पर ११ से १२ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ५५ से ६० अक्षर हैं। इसमें ७७ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र का नाप ११.२५" × ४.७५" है। यह ४००-५०० वर्ष प्राचीन है, ऐसा कहा जाता है। इस हस्तप्रति पर पं० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने एक लेख 'आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दिगम्बर टीका' नाम से लिखा था। यह लेख 'श्रमण' (व० १८, अं० ११) में छपा था। उसके आधार पर इस टीका का परिचय दिया है।

३. टीका में 'खाष्टेशे' इतना ही उल्लेख है। किसी प्रकार के संवत् का उल्लेख नहीं है, परन्तु वह वैक्रमीय तो हो ही नहीं सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले श्लोक में वीर जिनेश्वर को वन्दन किया है, दूसरे में टीकाकार ने अपने गुरु को प्रणाम किया है। साथ ही, अपने गुरु का 'चतुर्धागमवेदी' इत्यादि विशेषणों द्वारा निर्देश किया है। अन्त में प्रशस्तिरूप एक श्लोक है। उसमें प्रस्तुत टीका का नाम, रचना-वर्ष तथा किसके बोधार्थ यह टीका लिखी है ये सब बातें आती हैं। इस टीका में योगशास्त्र के प्रणेता हेमचन्द्रसूरि को 'विद्वद्विशिष्ट' एवं 'परमयोगीश्वर' कहा है।

हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र के बारहों प्रकाशों पर उनका स्वोपज्ञ विवरण है, परन्तु उसके अधिकांश भाग में प्रकाश १-४ का स्पष्टीकरण ही आता है।[1] पाँचवाँ प्रकाश सबसे बड़ा है। यह योगिरमा टीका नौ अधिकारों में विभक्त है। इसमें ५८ श्लोकों का 'गर्भोत्पत्ति' नामक प्रथम अधिकार है। यह अब तक प्रकाशित योगशास्त्र अथवा उसके स्वोपज्ञ विवरण में नहीं है। इस आधार पर श्री जुगलकिशोरजी ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि योगशास्त्र की प्रथम लिखित प्रतियों में वह रहा होगा, परन्तु निरर्थक लगने पर आगे जाकर निकाल दिया गया होगा।

यह योगिरमा टीका अन्तिम आठ प्रकाशों पर सविशेष प्रकाश डालती है। उसके आठ अधिकार अनुक्रम से प्रकाश ५ से १२ हैं। इसमें मूल के नाम से निर्दिष्ट श्लोकों की संख्या योगशास्त्र के साथ मिलाने पर कमोबेश मालूम होती हैं। इसके अलावा उसमें पाठभेद भी हैं। चौथे तथा पाँचवें अधिकारों में जो स्पष्टीकरण आता है उसमें आनेवाले कई मंत्र और यंत्र योगशास्त्र अथवा उसके स्वोपज्ञ विवरण में उपलब्ध नहीं हैं। सातवें अधिकार के कतिपय श्लोक स्वोपज्ञ विवरणगत आन्तर-श्लोक हैं।

वृत्ति—यह अमरप्रभसूरि ने लिखी है। वे पद्मप्रभसूरि के शिष्य थे। इस वृत्ति की एक हस्तप्रति वि० सं० १६१९ की लिखी मिलती है।

टीका-टिप्पण—यह अज्ञातकर्तृक रचना है।

अवचूरि—इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है।

बालावबोध—इस गुजराती स्पष्टीकरण के प्रणेता सोमसुन्दरसूरि हैं। वे तपागच्छ के देवसुन्दरसूरि के शिष्य थे। उनकी इस कृति की एक हस्तप्रति

---

१. इन चारों प्रकाशों में तृतीय प्रकाश सबसे बड़ा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि० सं० १५०८ में लिखी उपलब्ध है। मेरुसुन्दरगणी ने वि० सं० १५०८ में बालावबोध लिखा था ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ३२४) में उल्लेख आता है। गणीजी ने उपर्युक्त बालावबोध को लिपिबद्ध तो नहीं किया होगा ? ऐसा प्रश्न होता है।

वार्तिक—इसके रचयिता का नाम इन्द्रसौभाग्यगणी है।[1]

ज्ञानार्णव, योगार्णव अथवा योगप्रदीप :

यह कृति[2] दिगम्बर शुभचन्द्र ने २०७७ श्लोकों में रची है। यह ४२ सर्गों में विभक्त है। ज्ञानार्णव की रचना अंशतः शिथिल है। यह उपदेशप्रधान ग्रन्थ है। इससे ऐसा लगता है कि कालान्तर में इसमें प्रक्षेप होते रहे होंगे। इसकी भाषा सुगम और शैली हृदयंगम है। इससे यह कृति सार्वजनीन बन सकती है; परन्तु शुभचन्द्र के मत से गृहस्थ योग का अधिकारी नहीं है, इस बात में ज्ञानार्णव हैम योगशास्त्र से भिन्न है। इसीलिए इसमें महाव्रत और उनकी भावनाओं का हैम योगशास्त्र की अपेक्षा विशेष निरूपण है।

ज्ञानार्णव (सर्ग २१-२७) में कहा है कि आत्मा स्वयं ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसे कषायरहित बनाने का नाम ही मोक्ष है। इसका उपाय इन्द्रिय पर विजयप्राप्ति है। इस विजयप्राप्ति का उपाय चित्तकी शुद्धि, इस शुद्धि का उपाय राग-द्वेषविजय, इस विजय का उपाय समत्व और समत्व की प्राप्ति ही ध्यान की योग्यता है। इस प्रकार जो विविध बातें इसमें आती हैं उनकी तुलना योगशास्त्र (प्रका० ४) के साथ करने योग्य है।

ज्ञानार्णव में प्राणायाम के विषय का निरूपण लगभग १०० श्लोकों में आता है, यद्यपि हेमचन्द्रसूरि की तरह इसके कर्ता भी प्राणायाम को निरुपयोगी और अनर्थकारी मानते हैं। ज्ञानार्णव में अनुप्रेक्षाविषयक लगभग २००

---

१. सम्पूर्ण मूल कृति तथा उसके प्र० १ से ४ का गुजराती एवं जर्मन में अनुवाद हुआ है और वे सब प्रकाशित भी हैं। आठवें प्रकाश का गुजराती अनुवाद 'महाप्रभाविक नवस्मरण' नामक पुस्तक में पृ० १२२–१३४ पर छपा है। उससे सम्बन्ध रखनेवाले ५ से २३ अर्थात् १९ चित्र उसमें दिये गये हैं। पाँचवाँ चित्र ध्यानस्थ पुरुष का है, जबकि अवशिष्ट पदस्थ ध्यान से सम्बन्धित हैं।

२. यह कृति 'रायचन्द जैन शास्त्रमाला' में सन् १९०७ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक हैं। इसके सर्ग २९ से ४२ में प्राणायाम तथा ध्यान के बारे में विस्तृत विवेचन है। ज्ञानार्णव में, पवनजय से मृत्यु का भाविसूचन होता है, ऐसा कहा है, परन्तु इसके लिए शकुन, ज्योतिष आदि अन्य उपायों का निर्देश नहीं है।

रचना-समय—ज्ञानार्णव के कई श्लोक इष्टोपदेश की वृत्ति में दिगम्बर आशाधर ने उद्धृत किये हैं। इस आधार पर वि० सं० १२५० के आसपास इसकी रचना हुई होगी, ऐसा माना जा सकता है। ज्ञानार्णव में दिगम्बर जिनसेन एवं अकलंक का उल्लेख है, अतः उस आधार पर इसकी पूर्वसीमा निश्चित की जा सकती है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५०) में ज्ञानार्णव की एक हस्तप्रति वि० सं० १२८४ में लिखी होने का उल्लेख है। यह इस कृति की उत्तर-सीमा निश्चित करने में सहायक होती है। ज्ञानार्णव की रचना हैम योग-शास्त्र से पहले हुई है या पश्चात्, इसके बारे में जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (खण्ड २, उपखण्ड १) में चर्चा की गई है।

ज्ञानार्णव पर निम्नलिखित तीन टीकाएँ हैं :

१. **तत्त्वत्रयप्रकाशिनी**—यह दिगम्बर श्रुतसागर की रचना है। ये देवेन्द्रकीर्ति के अनुगामी विद्यानन्दी के शिष्य थे। इनकी यह कृति इनके गुरुभाई सिंह-नन्दी की अभ्यर्थना के फलस्वरूप लिखी गई है।

२. **टीका**—इसके कर्ता का नाम नयविलास है।

३. **टीका**—यह अज्ञातकर्तृक है।

ज्ञानार्णवसारोद्धार :

इसका जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५०) में उल्लेख आता है। यह उपर्युक्त ज्ञानार्णव का अथवा न्यायाचार्य श्री यशोविजयगणी के ज्ञानार्णव का संक्षिप्त रूप है, यह ज्ञात नहीं।

ध्यानदीपिका :

यह कृति[1] खरतरगच्छ के दीपचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र ने वि० सं० १७६६ में तत्कालीन गुजराती भाषा में रची है। शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव का जो लाभ

१. यह कृति 'अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल' द्वारा श्रीमद् देवचन्द्र (भा० २) की सन् १९२९ में प्रकाशित द्वितीय आवृत्ति के पृ० १ से १२३ में आती है। वहाँ उसका नाम पुष्पिका के अनुसार 'ध्यानदीपिका चतुष्पदी' रखा है, परंतु ग्रन्थकार ने तो अन्तिम पद्य में 'ध्यानदीपिका' नामनिर्देश किया है। अतः यहाँ यही नाम रखा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं ले सकते उनके लिए उसके साररूप में यह लिखी गई है। यह छः खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अनित्यत्व आदि बारह भावनाओं का, द्वितीय खण्ड में सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और पाँच महाव्रतों का, तृतीय खण्ड में पाँच समिति, तीन गुप्ति और मोहविजय का, चतुर्थ खण्ड में ध्यान और ध्येय का, पाँचवें खण्ड में धर्मध्यान, शुक्लध्यान, पिण्डस्थ आदि ध्यान के चार प्रकार तथा यंत्रों का और छठे खण्ड में स्याद्वाद का निरूपण है।

प्रस्तुत कृति का आरम्भ दोहे से किया गया है। इसके पश्चात् ढाल और दोहा इस क्रम से अवशिष्ट भाग रचा गया है। भिन्न-भिन्न देशियों में कुल ५८ ढाल हैं।

अन्त में राजहंस के प्रसाद से इसकी रचना करने का तथा कुम्भकरण नाम के मित्र के संग का उल्लेख आता है। कर्ता ने अन्तिम ढाल में रचना-वर्ष, ढालों की संख्या और खण्ड नहीं किन्तु अधिकार के रूप में छः अधिकारों का निर्देश किया है। 'खण्ड' शब्द पुष्पिकाओं में प्रयुक्त है।

योगप्रदीप :

यह १४३ पद्यों में रचित कृति[1] है। इसमें सरल संस्कृत भाषा में योग-विषयक निरूपण है। इसका मुख्य विषय आत्मा है। उसके यथार्थ स्वरूप का इसमें निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें परमात्मा के साथ इसके शुद्ध और शाश्वत मिलन का मार्ग—परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलाया है। इस कृति में प्रसंगोपात्त उन्मनीभाव, समरसता, रूपातीत ध्यान, सामायिक, शुक्ल ध्यान, अनाहत नाद, निराकार ध्यान इत्यादि बातें आती हैं। चिन्तन के अभाव से मन मानो नष्ट हो गया हो ऐसी उसकी अवस्था को उन्मनी कहते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रणेता का नाम ज्ञात नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ-कार ने इसके प्रणयन में हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र, शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव तथा

---

१. यह कृति श्री जीतमुनि ने सम्पादित की थी और जोधपुर से वीर संवत् २४४८ में प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार पं० हीरालाल हंसराज सम्पादित यह कृति सन् १९११ में प्रकाशित हुई है। 'जैन साहित्य विकास मंडल' ने यह ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक बालावबोध, गुजराती अनुवाद और विशिष्ट शब्दों की सूची के साथ सन् १९६० में प्रकाशित किया है। इसमें कोई-कोई पद्य अशुद्ध देखा जाता है, अन्यथा मुद्रण आदि प्रशंसनीय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी-किसी उपनिषद् का उपयोग किया होगा। एक अज्ञातकर्तृक योगसार के साथ इसका अमुक अंश में साम्य है, ऐसा कहा जाता है।

नेमिदासरचित 'पंचपरमेष्ठीमंत्रराजध्यानमाला' में योगशास्त्र और पतंजलिकृत योगसूत्र के साथ इसका उल्लेख आने से उस जमाने में प्रस्तुत कृति प्रचलित होगी, यह अनुमान होता है।

बालावबोध—इस कृति पर किसी ने पुरानी गुजराती में बालावबोध लिखा है। भाषा के अभ्यासियों के लिए यह एक अवलोकनीय साधन है।[1]

झाणज्झयण अथवा झाणसय :

इसके संस्कृत नाम ध्यानाध्ययन और ध्यानशत[2] हैं। हरिभद्रसूरि ने इसका ध्यानशतक नाम से निर्देश किया है। मैंने जो हस्तप्रतियाँ देखी हैं उनमें १०६ गाथाएँ हैं, जबकि इसकी मुद्रित आवृत्तियों में १०५ गाथाएँ हैं। अतएव सर्वप्रथम १०६ ठी गाथा DCGCM (Vol. XVII, pt. 3, p. 416) के अनुसार यहाँ उद्धृत की जाती है :

पंचुत्तरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं।
जिणभद्दखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो ॥१०६॥

इस प्रकार यहाँ पर प्रस्तुत कृति की १०६ गाथाएँ होने का सूचन है। साथ ही इसके कर्ता जिनभद्र क्षमाश्रमण हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता प्रतीत होते हैं, क्योंकि इसपर हरिभद्रसूरि ने जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने इस कृति को शास्त्रान्तर और महान् अर्थवाली कहा है। वह उल्लेख इस प्रकार है :

---

१. प्रस्तुत कृति का गुजराती में अनुवाद भी हुआ है।

२. यह कृति आवस्सयनिज्जुत्ति और हारिभद्रीय शिष्यहिता नाम की टीका के साथ आगमोदय समिति ने चार भागों में प्रकाशित की है। उसके पूर्वभाग (पत्र ५८२ अ–६११ अ) में आवस्सय की इस निर्युक्ति की गा० १२७१ के पश्चात् ये १०५ गाथाएँ आती हैं। यह झाणज्झयण हारिभद्रीय टीका तथा मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टिप्पनक के साथ 'विनय-भक्ति-सुन्दर-चरण ग्रन्थमाला' के तृतीय पुष्परूप से वि० सं० १९९७ में प्रकाशित हुआ है और उसमें इसके कर्ता जिनभद्र कहे गये हैं। इस कृति की स्वतंत्र हस्तप्रति मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद् वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह ।'

हरिभद्रसूरि ने अथवा उनकी शिष्यहिता के टिप्पनकार ने इस कृति के कर्ता कौन हैं यह नहीं लिखा। यह आवश्यक की निर्युक्ति के एक भागरूप (प्रतिक्रमणनिर्युक्ति के पश्चात्) है, अतः इसके कर्ता निर्युक्तिकार भद्रबाहु हैं ऐसी कल्पना हो सकती है और पं० दलसुखभाई मालवणिया तो वैसा मानने के लिए प्रेरित भी हुए हैं।[1] इस तरह प्रस्तुत कृति के कर्ता के रूप में कोई जिनभद्र क्षमाश्रमण का, तो कोई भद्रबाहु स्वामी का निर्देश करते हैं। प्रथम पक्ष मान्य रखने पर क्षमाश्रमण के सत्ता-समय का विचार करना चाहिये। विचारश्रेणी के अनुसार जिनभद्र का स्वर्गवास वीर-संवत् ११२० में अर्थात् वि० सं० ६५० में हुआ था, परन्तु धर्मसागरीय पट्टावली के अनुसार वह वि० सं० ७०५ से ७१० के बीच माना जाता है। विशेषावश्यक की एक हस्तप्रति में शकसंवत् ५३१ अर्थात् वि० सं० ६६६ का उल्लेख है। इस परिस्थिति में प्रस्तुत कृति की पूर्व-सीमा आवश्यक-निर्युक्ति के आस-पास का समय तथा उत्तरसीमा जिनभद्र के वि० सं० ६५० में हुए स्वर्गवास का समय माना जा सकता है। यहाँ पर इस कृति के कर्ता और उसके समय के बारे में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

हाँ, इसमें आनेवाले विषय के बारे में कुछ कहना अवसरप्राप्त है। इसकी आद्य गाथा में महावीर स्वामी को प्रणाम किया गया है। ऐसा करते समय उनको जोगीसर (योगीश्वर) कहा गया है। इससे पहले किसी ग्रन्थकार ने क्या ऐसा कहा है ?

प्रस्तुत कृति का विषय ध्यान का निरूपण है। दूसरी गाथा में ध्यान का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान है, जो चल—अनवस्थित है वह चित्त है और इस चित्त के ओघदृष्टि से भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता ये तीन प्रकार हैं।

इसके अनन्तर निम्नांकित बातों का निरूपण है : छद्मस्थ के ध्यान के समय के रूप में अन्तर्मुहूर्त्त का उल्लेख; योगों का अर्थात् कायिक आदि प्रवृत्तियों का निरोध ही जिनों का—केवलज्ञानियों का ध्यान-काल; ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म्य (धर्म) और शुक्ल—ये चार प्रकार तथा उनके फल; आर्तध्यान के चार

---

१. देखिए—गणधरवाद की प्रस्तावना, पृ० ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदों का स्वरूप, आर्तध्यान के राग, द्वेष और मोह ये तीन बीज; आर्तध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग; रौद्र ध्यान के चार भेद; रौद्र ध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग; धर्म्य (धर्म) ध्यान को लक्ष्य में रखकर ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना—इन चार भावनाओं का स्वरूप; ध्यान से सम्बद्ध देश, काल, आसन और आलम्बन; धर्म्य (धर्म) ध्यान के चार भेद; उसके तथा शुक्लध्यान के चार भेदों में से आद्य दो भेदों के ध्याता; धर्म्य ध्यान के पश्चात् की जानेवाली अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना; धर्म्य ध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग; शुक्ल ध्यान के लिए आलम्बन; केवलज्ञानियों द्वारा किए जाते योग-निरोध की विधि; शुक्ल ध्यान में ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या और लिंग; धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान के फल और १०५वीं गाथा द्वारा उपसंहार।

टीका—झाणज्झयण पर समभावी हरिभद्रसूरि ने जो टीका लिखी है उससे पहले (पत्र ५८१ आ में) ध्यान के बारे में संक्षिप्त जानकारी दी है। इसके पश्चात् १०५ गाथाओं पर अपनी टीका लिखी है और वह प्रकाशित भी हुई है। इसका टिप्पण भी छपा है। इसपर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

ध्यानविचार :

इसकी[1] एक हस्तप्रति पाटन के किसी भण्डार में है। गद्यात्मक वह संस्कृत कृति ध्यान-मार्ग के चौबीस प्रकार, चिन्ता, भावना-ध्यान, अनुप्रेक्षा, भवनयोग और करणयोग जैसे विविध विषयों पर प्रकाश डालती है। यह प्रत्येक

---

१. यह कृति 'जैन साहित्य विकास मंडल' की ओर से सन् १९६१ में प्रकाशित 'नमस्कारस्वाध्याय' (प्राकृत विभाग) के पृ० २२५ से २६० में गुजराती अनुवाद, सन्तुलना आदि के लिए टिप्पण और सात परिशिष्टों के साथ छपी है। यह प्राकृत विभाग जब छप रहा था उसी समय यह समग्र रचना इसी संस्था ने सन् १९६० में स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में आरम्भ में देह-षट्कोणयन्त्र (भारतीय यन्त्र) और अन्त में दो यंत्रचित्रों के साथ प्रकाशित की है। इनमें से प्रथम यंत्रचित्र चौबीस तीर्थंकरों की माताएँ अपने तीर्थंकर बननेवाले पुत्र की ओर देखती हैं उससे सम्बन्धित है, जबकि दूसरा ध्यान के बीसवें प्रकार 'परममात्रा' का चौबीस वलयों के सहित आलेखन है। यह यंत्रचित्र तो उपर्युक्त नमस्कारस्वाध्याय में भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय कम-ज्यादा विस्तार से इस कृति में निरूपित हुआ है। इनका यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

ध्यानमार्ग के चौबीस प्रकारों के नाम दो हिस्सों में निम्नांकित हैं : १. ध्यान, २. शून्य, ३. कला, ४. ज्योति, ५. बिन्दु, ६. नाद, ७. तारा, ८. लय, ९. लव, १०. मात्रा, ११. पद और १२. सिद्धि।

इन बारहों के साथ प्रारम्भ में 'परम' शब्द लगाने पर दूसरे बारह प्रकार होते हैं, जैसे—परम ध्यान, परम शून्य आदि। दोनों नामों का जोड़ लगाने पर कुल २४ होते हैं। इन चौबीस प्रकारों का स्वरूप समझाते समय शून्य के द्रव्य-शून्य और भावशून्य ऐसे दो भेद करके द्रव्यशून्य के बारह प्रभेद अवतरण द्वारा गिनाये हैं; जैसे—क्षिप्त चित्त, दीप्त चित्त इत्यादि। कला से लेकर पद तक के नवों के भी द्रव्य और भाव से दो-दो प्रकार किये हैं। भावकला के बारे में पुण्य-(ष्य) मित्र का दृष्टान्त दिया है। परमबिन्दु के स्पष्टीकरण में ११ गुणश्रेणी गिनाई है। द्रव्यलय अर्थात् वज्रलेप[1] इत्यादि द्रव्य द्वारा वस्तुओं का संश्लेष होता है ऐसा कहा है।

ध्यान के २४ प्रकारों को करण के ९६ प्रकारों से गुनने पर २३०४ होते हैं। इसे ९६ करणयोगों से गुनने पर २, २१, १८४ भेद होते हैं। इसी प्रकार उपयुक्त २३०४ को ९६ भवनयोगों से गुनने पर २, २१, १८४ भेद होते हैं। इन दोनों की जोड़ ४, ४२, ३६८ है।

परमलव यानी उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी।[2] परममात्रा अर्थात् चौबीस वलयों द्वारा वेष्टित आत्मा का ध्यान। ऐसा कहकर प्रथम वलय के रूप में शुभाक्षर वलय से आरम्भ करके अन्तिम ९६ करणविषयक वलयों का उल्लेख अमुक के स्पष्टीकरण के साथ किया गया है।

चिन्ता के दो प्रकार और प्रथम प्रकार के दो उपप्रकार बतलाये हैं। योगारूढ़ होनेवाले के अभ्यास के ज्ञानभावना आदि चार प्रकार और उनके उपप्रकार, भवनयोगादि के योग, वीर्य आदि आठ प्रकार, उनके तीन-तीन उपप्रकार और उनके प्रणिधान आदि चार-चार भेद—इस प्रकार कुल मिलाकर ९६ भेद; प्रणिधान आदि को समझाने के लिए अनुक्रम से प्रसन्नचन्द्र, भरतेश्वर, दमदन्त

---

१. वृहत्संहिता में इसका वर्णन है। विशेष के लिए देखिए—सानुवाद वस्तुसारप्रकरण (वत्थुसारपयरण) के पृ. १४७-४८

२. इसके लिए देखिए—लेखक का कर्मसिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य, पृ० ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पुण्यभूति के दृष्टान्तों का उल्लेख; भवनयोग और करणयोग का स्पष्टीकरण, ९६ (१२ × ८) करण, छद्मस्थ के ध्यान के ४, ४२, ३६८ प्रकार और योग के २९० आलम्बनों के बारे में इस कृति में निर्देश है।

मरुदेवा की भाँति जो योग सहज भाव से होते हैं, वे भवनयोग और ये ही योग उपयोगपूर्वक किये जाते हैं तब करणयोग कहे जाते हैं।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १९९) में एक अज्ञातकर्तृक ध्यानविचार का उल्लेख है। वह यही कृति है या दूसरी, यह तो उसकी हस्तप्रति देखने पर ही कहा जा सकता है।

ध्यानदण्डकस्तुति :

वज्रसेनसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि ने जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १०६) के उल्लेखानुसार वि० सं० १४४७ में 'गुणस्थानक्रमारोह' लिखा है।[1] उसके श्लो० ५२ की स्वोपज्ञ वृत्ति (पत्र ३७) में ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए और श्लो० ५४ की वृत्ति (पत्र ३८) में प्राणायाम का स्पष्टीकरण करते समय ध्यान-दण्डकस्तुति का उल्लेख करके उसमें से निम्नलिखित एक-एक श्लोक उद्धृत किया है :

नासावंशाग्रभागास्थितनयनयुगो मुक्तताराप्रचारः
शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविवरोद्भ्रान्तयोगैकचक्षुः ।
पर्यङ्कातङ्कशून्यः परिकलितघनोच्छ्वासनिःश्वासवातः
स ध्यानारूमूढर्तिश्चिरमवतु जिनो जन्मसम्भूतिभीतेः ॥

संकोच्यापानरन्ध्रं हुतवहसदृशं तन्तुवत् सूक्ष्मरूपं
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम् ।
नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यमानां समन्तात्
लोकालोकावलोकां कलयति स कलां यस्य तुष्टो जिनेशः ॥

इन दोनों उद्धरणों पर विचार करने से नीचे की बातें ज्ञात होती हैं :

प्रस्तुत कृति संस्कृत में है। वह पद्यात्मक होगी। यह जिनेश्वर की स्तुति-रूप है, अतः यह जैन रचना है। इसका मुख्य विषय ध्यान का निरूपण है।

---

१. यह ग्रन्थ भिन्न-भिन्न संस्थाओं की ओर प्रकाशित हुआ है। इसका विशेष परिचय आगे आएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १९९) में ध्यानविषयक जिन कृतियों का निर्देश है उनमें से ध्यानविचार एवं ध्यानशतक पर विचार किया गया। अब अवशिष्ट कृतियों के बारे में किञ्चित् विचार किया जाता है।

ध्यानचतुष्टयविचार :

इसके नाम के अनुसार इसमें आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान के चार प्रकारों का निरूपण होना चाहिए।

ध्यानदीपिका :

यह सकलचन्द्र ने वि० सं० १६२१ में रची है।

ध्यानमाला :

यह नेमिदास की कृति है।

ध्यानसार :

इस नाम की दो कृतियाँ हैं। एक के कर्ता यशःकीर्ति हैं, दूसरे के कर्ता का नाम अज्ञात है।

ध्यानस्तव :

यह भास्करनन्दी की संस्कृत रचना है।

ध्यानस्वरूप :

इसमें भावविजय ने वि० सं० १६९६ में ध्यान का स्वरूप निरूपित किया है।

अनुप्रेक्षा :

इसे भावना भी कहते हैं। इसका निरूपण श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ने प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, गुजराती आदि भाषाओं में एक या दूसरे रूप से किया है। मरणसमाहि नामक प्रकीर्णक (श्वेताम्बरीय आगम) में अनुप्रेक्षा से सम्बन्धित ७० गाथाएँ हैं।

१. बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) :

दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्द की इस कृति[1] में ९१ गाथाएँ हैं। इसके नाम से सूचित निम्नलिखित बारह अनुप्रेक्षाओं का इसमें निरूपण आता है :

---

१. यह 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में वि० सं० १९७७ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अध्रुवत्व, २. अशरणत्व, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. संसार, ६. लोक, ७. अशुचित्व, ८. आश्रव, ९. संवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म और १२. बोधिदुर्लभता।

इस विषय का निरूपण वट्टकेर ने मूलाचार (प्रक० ८) में और शिवार्य (शिवकोटि) ने भगवती आराधना में किया है। धवल ने अपभ्रंश में रचित अपने हरिवंशपुराण में, सिंहनन्दी ने अनुप्रेक्षा के बारे में कोई रचना की थी, ऐसा कहा है।

२. बारसानुवेक्खा अथवा कार्तिकेयानुप्रेक्षा :

कार्तिकेय (अपर नाम कुमार) रचित इस कृति[1] में ४८९ गाथाएँ हैं। इसमें उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

टीका—मूलसंघ के विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र ने वि० सं० १६१३ में यह टीका लिखी है।

३. द्वादशानुप्रेक्षा :

इस नाम की तीन संस्कृत कृतियाँ हैं : १. सोमदेवकृत, २. कल्याणकीर्तिकृत और ३. अज्ञातकर्तृक।

द्वादशभावना :

इस नाम की एक अज्ञातकर्तृक रचना का परिणाम ६८३ श्लोक है।

द्वादशभावनाकुलक :

यह भी एक अज्ञातकर्तृक रचना है।

शान्तसुधारस :

गीतगोविन्द जैसे इस गेय काव्य[2] के प्रणेता वैयाकरण विनयविजयगणी हैं।

---

१. यह नाथारंग गाँधी ने प्रकाशित की है। इसके अलावा 'सुलभ जैन ग्रन्थ-माला' में भी सन् १९२१ में यह प्रकाशित हुई है।

२. यह कृति प्रकरणरत्नाकर (भा० २) में तथा सन् १९२४ में श्रुतज्ञान-अमीधारा में प्रकाशित हुई है। जैनधर्म प्रसारक सभा ने गम्भीरविजय-गणीकृत टीका के साथ यह कृति वि० सं० १९६९ में प्रकाशित की थी। इसके अतिरिक्त इसी सभा ने मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया के अनुवाद एवं विवेचन के साथ यह कृति दो भागों में क्रमशः सन् १९३६ और १९३७ में प्रकाशित की है। इस पर म० कि० महेता ने भी अर्थ और विवेचन लिखा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्होंने गन्धपुर (गान्धार) नगर में २३४ श्लोकों में यह कृति वि० सं० १७२३ में लिखी है। इसमें इन्होंने बारह भावनाओं के अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं को भी स्थान दिया है।

टीका—गम्भीरविजयजी ने तथा किसी तेरापंथी ने भी प्रस्तुत कृति पर एक-एक टीका संस्कृत में लिखी है।

अनुवाद और विवेचन—मूल के अनुवाद और विवेचन लिखे गये हैं और वे छपे भी हैं।

१. समाधितन्त्र :

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२१) में यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा ऐसा उल्लेख आता है। इसपर दो टीकाएँ लिखी गई हैं : १. पर्वतधर्म-रचित और २. नाथुलालकृत। ये दोनों टीकाएँ तथा मूल अप्रकाशित ज्ञात होते हैं, अतः इस विषय में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें समाधि के बारे में निरूपण होना चाहिए।

२. समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक :

यह[1] दिगम्बराचार्य पूज्यपाद की १०५ पद्यों की रचना है। इसका 'समाधिशतक' नाम १०५ वें पद्य में आता है। डा० पी० एल० वैद्य के मत से यह पद्य तथा पद्यसंख्या २, ३, १०३ और १०४ प्रक्षिप्त हैं। इस कृति में आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. यह कृति 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में सन् १९०५ में प्रकाशित हुई है। फतेचन्द देहली ने यही कृति दिल्ली से अन्वयार्थ और हिन्दी भावार्थ के साथ वि० सं० १९७८ में छपवाई है। इसके पहले अंग्रेजी अनुवाद के साथ एम० एन० द्विवेदी ने अहमदाबाद से सन् १८९५ में यह कृति छपवाई थी। मराठी अनुवाद के साथ इसकी द्वितीय आवृत्ति सोलापुर के आर० एन० शाह ने सन् १९४० में प्रकाशित की है।

प्रस्तुत कृति पर दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रकृत टोका है। उसका तथा मूल का अनुवाद मणिलाल नभुभाई द्विवेदी ने किया है। वह एक ग्रन्थ के रूप में 'समाधिशतक' नाम से 'वडोदरा देवी केलवणी खातुं' की ओर से सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार विवरण—प्रस्तुत कृति पर तीन टीकाएँ और एक वृत्ति इस प्रकार कुल चार विवरण लिखे गये हैं। टीकाकारों के नाम अनुक्रम से प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म और यशश्चन्द्र हैं। वृत्तिकार का नाम मेघचन्द्र है।

प्रस्तुत कृति सब धर्मों के अनुयायियों के लिये और विशेषतः जैनों के लिये उपयोगी होने से न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी[१] ने इसके उद्धरणरूप १०४ दोहों में गुजराती में 'समाधिशतक'[२] नामक ग्रन्थ लिखा है।

समाधिद्वात्रिंशिका :

यह अज्ञातकर्तृक कृति है। इसमें बत्तीस पद्य हैं।

समताकुलक :

यह भी अज्ञातकर्तृक कृति है। यह संभवतः प्राकृत में है।

साम्यशतक :

यह विजयसिंहसूरि की १०६ श्लोकों में रचित कृति[3] है। ये 'चन्द्र' कुल के अभयदेवसूरि के शिष्य थे।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ३२१–२२) में 'योग' शब्द से प्रारम्भ होनेवाली कुछ कृतियों का निर्देश है। उनमें से निम्नलिखित कृतियों के रचयिताओं के नाम नहीं दिये गये हैं। अतः यथेष्ठ साधनों के अभाव में उन नामों का निर्धारण करना शक्य नहीं है। इन कृतियों के नाम इस प्रकार हैं :

योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र, योगभक्ति, योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका[४], योगरत्नसमुच्चय[५], योगरत्नावली, योगविवेकद्वात्रिंशिका, योगसंकथा, योगसंग्रह, योगसंग्रहसार, योगानुशासन[६] और योगावतारद्वात्रिंशिका।

---

१. इन्होंने वैराग्यकल्पलता (स्तबक १, श्लो० १२७ से २५९) में समाधि का विस्तृत निरूपण किया है। हिन्दी में भी १०५ दोहों में इन्होंने समताशतक अथवा साम्यशतक लिखा है।

२. इसका परिचय यशोदोहन (पृ० २९५–९७) में दिया है।

३. यह पुस्तक ए० एम० एण्ड कम्पनी ने बम्बई से सन् १९१८ में प्रकाशित की है।

४. इसमें योग का प्रभाव ३२ या उससे एकाध अधिक पद्यों में बतलाया होगा।

५. इसका श्लोक-परिमाण ४५० है।

६. यह ग्रन्थ १५०० श्लोक-परिमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगविषयक अधोलिखित तेरह कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं :

१. **योगकल्पद्रुम**—४१५ श्लोक-परिमाण की अज्ञातकर्तृक इस कृति में से एक उद्धरण पत्तनस्थ जैन भाण्डागारीय ग्रन्थसूची (भा० १, पृ० १८६) में दिया गया है।

२. **योगतरंगिणी**—इस पर जिनदत्तसूरि ने टीका लिखी है।

३. **योगदीपिका**—इसके कर्ता आशाधर हैं।

४. **योगभेदद्वात्रिंशिका**—इसकी रचना परमानन्द ने की है।

५. **योगमार्ग**—यह सोमदेव की कृति है।

६. **योगरत्नाकर**—यह जयकीर्ति की रचना है।

७. **योगलक्षणद्वात्रिंशिका**—इसके प्रणेता का नाम परमानन्द है।

८. **योगविवरण**—यह यादवसूरि की रचना है।

९. **योगसंग्रहसार**—इसके कर्ता जिनचंद्र हैं। इस नाम की एक अज्ञातकर्तृक कृति का उल्लेख पूर्व में किया गया है।

१०. **योगसंग्रहसारप्रक्रिया अथवा अध्यात्मपद्धति**—नन्दीगुरु की इस कृति में से पत्तन-सूची (भा० १, पृ० ५६) में उद्धरण दिये गये हैं।

११. **योगसार**—यह गुरुदास की रचना है।

१२. **योगांग**—४५०० श्लोक-परिमाण इन ग्रन्थ के प्रणेता शान्तरस हैं। इसमें योग के अंगों का निरूपण होगा।

१३. **योगामृत**—यह वीरसेनदेव की कृति है।

अध्यात्मकल्पद्रुम :

इस पद्यात्मक कृति[१] के प्रणेता 'सहस्रावधानी' मुनिसुन्दरसूरि हैं। यह निम्नलिखित सोलह अधिकारों में विभक्त है :

---

१. यह ग्रन्थ चारित्रसंग्रह में सन् १८८४ में प्रकाशित हुआ है। यही ग्रन्थ धनविजयगणीकृत अधिरोहिणी नाम की इसकी टीका के आधार पर योजित टिप्पणों एवं जैन पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरणात्मक परिशिष्टों के साथ सन् १९०६ में निर्णयसागर मुद्रणालय की ओर से प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् यह मूल कृति धनविजयगणी की उपर्युक्त टीका के साथ मनसुखभाई भगुभाई तथा जमनाभाई भगुभाई ने वि० सं० १९७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. समता, २. स्त्रीममत्वलोचन, ३. अपत्यममत्वमोचन, ४. धनममत्वमोचन, ५. देहममत्वमोचन, ६. विषयप्रमादत्याग, ७. कषायत्याग, ८. शास्त्राभ्यास, ९. मनोनिग्रह, १०. वैराग्योपदेश, ११. धर्मशुद्धि, १२. गुरुशुद्धि, १३. यतिशिक्षा, १४. मिथ्यात्वादिनिरोध, १५. शुभवृत्ति और १६. साम्यस्वरूप।

ये सब शीर्षक अधिकारों में आनेवाले विषयों के बोधक हैं।

यह कृति शान्तरस से अनुप्लावित है। यह मुमुक्षुओं को ममता के परित्याग, कषायादि के निवारण, मनोविजय, वैराग्य पथ के अनुरागी बनने तथा समता एवं साम्य का सेवन करने का उपदेश देती है।

पौर्वापर्य—उपदेशरत्नाकर के स्वोपज्ञ विवरण में अध्यात्मकल्पद्रुम में से कतिपय पद्य उद्धृत किये गये हैं। इस दृष्टि से अध्यात्मकल्पद्रुम इस विवरण की अपेक्षा प्राचीन समझा जा सकता है। रत्नचन्द्रगणी के कथनानुसार गुर्वावली की रचना अध्यात्मकल्पद्रुम से पहले हुई है।

विवरण—प्रस्तुत कृति पर तीन विवरण हैं :

१. धनविजयगणीकृत अधिरोहिणी।

२. सूरत में वि० सं० १६२४ में रत्नसूरिरचित अध्यात्मकल्पलता।

३. उपाध्याय विद्यासागरकृत टीका।

इनमें से पूर्व के दो ही विवरण प्रकाशित जान पड़ते हैं।

बालावबोध—उपर्युक्त अध्यात्मकल्पलता के आधार पर हंसरत्न ने अध्यात्मकल्पद्रुम पर एक बालावबोध लिखा था। जीवविजय ने भी वि० सं० १७८० में एक बालावबोध रचा था।

में छपवाई थी। इसी टीका, रत्नचन्द्रगणीकृत अध्यात्मकल्पलता नाम की अन्य टीका, मूल का रंगविलास द्वारा चौपाई में किया गया अध्यात्मरास नामक अनुवाद तथा मो० द० देसाई के विस्तृत उपोद्घात के साथ 'देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था' ने सन् १९४० में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है। 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने मूल की, उसके मो० गि० कापडियाकृत गुजराती अनुवाद और भावार्थ तथा उपर्युक्त अध्यात्मरास के साथ द्वितीय आवृत्ति सन् १९११ में प्रकाशित की थी। प्रकरणरत्नाकर (भा० २) में मूल कृति हंसरत्न के बालावबोध के साथ सन् १९०३ में प्रकाशित की गई थी।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

अध्यात्मसार :

यह पद्यात्मक कृति रंगविलास ने लिखी है। यह प्रकाशित है।

अध्यात्मसार।

यह न्यायाचार्य यशोविजयगणी की अध्यात्म-विषयक संस्कृत रचना[1] है। यह सात प्रबन्धों में विभक्त है। इन प्रबन्धों में क्रमशः ४, ३, ४, ३, ३, २ और २ इस प्रकार कुल २१ अधिकार आते हैं। यह कृति १३०० श्लोक-परिमाण है। इसमें कुल ९४९ पद्य हैं।

विषय—२१ अधिकारों के विषय प्रबन्धानुसार अनुक्रम से इस प्रकार हैं :

प्रबन्ध १—अध्यात्मशास्त्र का माहात्म्य, अध्यात्म का स्वरूप, दम्भ का त्याग और भव का स्वरूप।

प्रबन्ध २—वैराग्य का सम्भव, उसके भेद और वैराग्य का विषय।

प्रबन्ध ३—ममता का त्याग, समता, सदनुष्ठान और चित्तशुद्धि।

प्रबन्ध ४—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व का त्याग तथा असद्‌ग्रह अथवा कदाग्रह का त्याग।

प्रबन्ध ५—योग, ध्यान और ध्यान (स्तुति)।

प्रबन्ध ६—आत्मा का निश्चय।

प्रबन्ध ७—जिनमत की स्तुति, अनुभव और सज्जनता।

प्रथम प्रबन्ध के अध्यात्मस्वरूप नामक द्वितीय अधिकार में एक-एक से

---

१. इस कृति को जैनशास्त्रकथासंग्रह (सन् १८८४ में प्रकाशित) की द्वितीय आवृत्ति में स्थान मिला है। यही कृति प्रकरणरत्नाकर (भा० २) में वीरविजय के टब्बे के साथ सन् १९०३ में प्रकाशित की गई थी। नरोत्तम भाणजी ने यह मूल कृति गम्भीरविजयगणी की टीका के साथ वि० सं० १९५२ में छपवाई थी। उन्होंने मूल उपर्युक्त टीका तथा मूल के गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९१६ में छपवाया था। "जैनधर्म प्रसारक सभा' की ओर से मूल कृति उपर्युक्त टीका के साथ प्रकाशित की गई थी। यही मूल कृति अध्यात्मोपनिषद् और ज्ञानसार के साथ नगीनदास करमचन्द ने 'अध्यात्मसार-अध्यात्मोपनिषद्-ज्ञानसार-प्रकरणत्रयी' नाम से वि० सं० १९९४ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक निर्जरा करने वालों के बीस वर्गों का उल्लेख किया गया है।[1] इसी प्रबन्ध के चौथे अधिकार में संसार को समुद्र इत्यादि विविध उपमाएँ दी गई हैं।

टीका—गम्भीरविजयगणी ने वि० सं० १९५२ में इस पर टीका लिखी है और वह प्रकाशित भी हुई है। इसमें कहीं-कहीं त्रुटि देखी जाती है।

टब्बा—इसके कर्ता वीरविजय हैं। यह भी छपा है।

अध्यात्मोपनिषद् :

यह भी न्यायाचार्य यशोविजयगणी की कृति है।[2] यह चार विभागों में विभक्त है और उनकी पद्य-संख्या अनुक्रम से ७७, ६५, ४४ और २३ है। इस प्रकार इसमें कुल २०३ पद्य हैं। इनमें से अधिकांश पद्य अनुष्टुप् में हैं।

विषय—प्रत्येक अधिकार का नाम अन्वर्थ है। वे नाम हैं : शास्त्रयोगशुद्धि, ज्ञानयोगशुद्धि, क्रियायोगशुद्धि और साम्ययोगशुद्धि।

प्रारम्भ में एवम्भूत नय के आधार पर अध्यात्म का अर्थ दिया गया है। ये अर्थ निम्नानुसार हैं :

१. आत्मा का ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों में विहरण 'अध्यात्म' है।

२. बाह्य व्यवहार से महत्त्व प्राप्त चित्त को मैत्री आदि चार भावनाओं से वासित करना 'अध्यात्म' है।

प्रस्तुत कृति के विषयों की विशेष जानकारी 'यशोदोहन' नामक ग्रन्थ (पृ० २७९-८०) में दी गई है। साथ ही ज्ञानसार (पृ० २८०) में, वैराग्यकल्पलता (प्रथम स्तबक, पृ० २८१) में तथा वीतरागस्तोत्र (प्रक० ८) में प्रस्तुत कृति के जो पद्य देखे जाते हैं उसका भी निर्देश किया गया है।

---

१. इस विषय का निरूपण आचारांग (श्रु० १, अ० ४) और उसकी निर्युक्ति (गा० २२२–२३) की टीका (पत्र १६० आ) में शीलांकसूरि ने किया है।

२. यह कृति 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने वि० सं० १९६५ में प्रकाशित की थी। उसके बाद 'श्री श्रुतज्ञान अमीधारा' के पृ० ४७ से ५७ में यह सन् १९३६ में छपी है। यह अध्यात्मसार और ज्ञानसार के साथ भी प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अध्यात्मबिन्दु :

इस नाम का एक ग्रन्थ न्यायाचार्य यशोविजयगणी ने लिखा था ऐसा कुछ लोगों का कहना है, परन्तु ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

२. अध्यात्मबिन्दु :

यह उपाध्याय हर्षवर्धन की कृति है। इसमें ३२ श्लोक हैं। इसलिए इसे 'अध्यात्मबिन्दुद्वात्रिंशिका' भी कहते हैं। इसकी प्रशस्ति के आधार पर इसके कर्ता का नाम हंसराज भी है, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

अध्यात्मोपदेश :

यह श्री यशोविजयगणी की कृति है ऐसा कई लोग मानते हैं, परन्तु इसके लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण अब तक किसी ने उपस्थित नहीं किया है।

अध्यात्मकमलमार्तण्ड :

यह दिगम्बर राजमल्ल कवि विरचित २०० श्लोक-परिमाण की कृति है।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने वि० सं १६४१ में लाटी संहिता, पंचाध्यायी[3] (अपूर्ण) तथा वि० सं० १६३२ में जम्बूस्वामिचरित ये तीन कृतियाँ भी रची हैं। प्रस्तुत कृति चार परिच्छेदों में विभक्त है और उनमें क्रमशः १४, २५, ४२ और २० श्लोक आते हैं। इस प्रकार इसमें कुल १०१ श्लोक हैं। इसकी एक हस्तप्रति में इनके अलावा ५ पद्य प्राकृत में और चार संस्कृत में हैं। हस्तप्रति के लेखक ने प्रशस्ति के दो श्लोक लिखे हैं।

---

१. इस कृति की स्वोपज्ञ विवरणसहित जो चार हस्तप्रतियाँ बम्बई सरकार के स्वामित्व की हैं उनका परिचय D C G C M (Vol. XVIII, Pt. 1, pp. 162–66) में दिया गया है।

२. यह 'माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में वि० सं० १९९३ में प्रकाशित हुआ है। प्रारम्भ में इसी कवि का जम्बूस्वामिचरित आता है। अन्त में अध्यात्मकमलमार्तण्ड से सम्बन्धित अधिक पद्य भी दिये गये हैं।

३. इसके प्रणेता ने इसे मंगलाचरण में ग्रन्थराज कहा है। इसमें दो प्रकरण हैं। पहले में ७७० श्लोकों में द्रव्यसामान्य का और दूसरे में द्रव्यविशेष का निरूपण है। यह कृति धर्म का बोध कराने का सुगम साधन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम परिच्छेद में मोक्ष और मोक्षमार्ग, द्वितीय में द्रव्यसामान्य का लक्षण, तृतीय में द्रव्यविशेष और चतुर्थ में जीवादि सात तत्त्वों एवं नौ पदार्थों का निरूपण है।

अध्यात्मतरंगिणी :

इसके[१] रचयिता दिगम्बर सोमदेव हैं।

अध्यात्माष्टक :

इसकी[२] रचना वादिराज ने की है।

अध्यात्मगीता :

यह[3] खरतरगच्छ के देवचन्द्र ने गुजराती में ४९ पद्यों में लिखी है। ये दीपचन्द्र के शिष्य और ध्यानदीपिका के प्रणेता हैं। जिनवाणी और जिनागम को प्रणाम करके इस ग्रन्थ में आत्मा का सातों नयों के अनुसार निरूपण किया है। आत्मा के स्वभाव, परभाव, सिद्धावस्था आदि बातों का भी इस लघु कृति में निरूपण किया गया है। विषय गहन है।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ५-६) में अध्यात्म से शुरु होने वाली विविध कृतियों का उल्लेख है जो इस प्रकार हैं : अध्यात्मभेद, अध्यात्म-कलिका, अध्यात्मपरीक्षा, अध्यात्मप्रदीप, अध्यात्मप्रबोध, अध्यात्मलिंग और अध्यात्मसारोद्धार।

इनमें से किसी के भी कर्ता का नाम जिनरत्नकोश में नहीं दिया है, अतः ये सब अज्ञातकर्तृक ही कही जा सकती हैं।

गुणस्थानक्रमारोह, गुणस्थानक अथवा गुणस्थानरत्नराशि :

इसकी[४] रचना रत्नशेखरसूरि ने वि० सं० १४४७ में की है। ये वज्रसेनसूरि

१-२. 'माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' के ग्रन्थांक १३ के रूप में वि० सं० १९७५ में ये प्रकाशित हुए हैं।

३. यह श्रीमद् देवचन्द्र (भा० २) के पृ० १८८-९५ में प्रकाशित हुई है।

४. यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ 'देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था' ने सन् १९१६ में प्रकाशित की थी। मूल कृति और उसके गुजराती भावानुवाद को साराभाई जेसिंगभाई द्वारा वि० सं० २०१३ में प्रकाशित 'श्री स्वाध्यायसन्दोह' में स्थान मिला है। 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के शिष्य थे। प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित १४ गुणस्थानों का निरूपण आता है : १. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादन, ३. मिश्र (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि), ४. अविरत, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्त, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिबादर-सम्पराय, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगी-केवली और १४. अयोगी केवली।

स्वोपज्ञवृत्ति—इसमें (पत्र ३७-३८) ध्यानदण्डकस्तुति में से दो उद्धरण दिये हैं तथा चर्परिन् की किसी कृति में से पाँच उद्धरण दिये हैं (पत्र ४०-४१)।

अवचूरि—यह अज्ञातकर्तृक है।

बालावबोध—यह श्रीसार ने लिखा है।

गुणस्थानकनिरूपण :

इसके कर्ता हर्षवर्धन हैं। 'गुणस्थानस्वरूप' इसी कृति का अपर नाम प्रतीत होता है।

गुणस्थानक्रमारोह :

इस नाम की एक कृति जैसे रत्नशेखरसूरि ने रची है वैसे ही दूसरी कृति २००० श्लोक-परिमाण विमलसूरि ने तथा तीसरी जयशेखरसूरि ने रची है।

गुणस्थानद्वार :

इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

गुणट्ठाणकमारोह (गुणस्थानक्रमारोह) :

इसे जिनभद्रसूरि ने रचकर 'लोकनाल' नाम की वृत्ति से विभूषित किया है।

गुणट्ठाणसय (गुणस्थानशत) :

यह देवचन्द्र ने १०७ पद्यों में लिखी है।

गुणट्ठाणमग्गणट्ठाण (गुणस्थानमार्गणास्थान) :

यह नेमिचन्द्र की रचना है।

मूल कृति तथा स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुवाद के साथ वि० सं० १९८९ में यह प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त मूल कृति हिन्दी श्लोकार्थ और हिन्दी व्याख्यार्थ के साथ 'श्री आत्म-तिलक ग्रंथ सोसायटी' की ओर से वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके अतिरिक्त गुणस्थानों के बारे में दूसरी कई रचनाएँ गुजराती में हुई हैं। उनके नाम आदि का विवरण 'कर्म-सिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य' पृ० ९३-९४ में दिया गया है।

संसारी आत्मा के अधःपतन में—उसकी अवनति में आठों कर्मों में से 'मोहनीय' कर्म प्रमुख है और उसका योग सबसे अधिक है। उसका सम्पूर्ण क्षय होने पर संसारी आत्मा सर्वज्ञत्व और आगे चलकर परम पद प्राप्त करता है—परमात्मा बनता है।

उपशमश्रेणिस्वरूप और क्षपकश्रेणिस्वरूप :

इन दोनों की एक-एक हस्तप्रति अहमदाबाद के डहेला के भंडार में है।

खवग-सेढी (क्षपक-श्रेणि) :

क्षपक श्रेणी का स्वरूप प्रसंगवशात् विविध प्राचीन ग्रन्थों में बतलाया गया है। उसके आधार पर यह कृति[1] मुनि श्री गुणरत्नविजय ने प्राकृत में २७१ गाथाओं में रची है तथा उस पर १७२५० श्लोक-प्रमाण संस्कृत वृत्ति भी लिखी है।

ठिइ-बंध (स्थिति-बंध) :

मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध[2] के मूलगाथाकार मुनि श्री वीरशेखरविजय हैं। इसकी संस्कृत टीका मुनि श्री जगच्चन्द्रविजय ने लिखी है। मूलग्रन्थ में ८७६ गाथाएँ हैं। खवग-सेढी तथा ठिइ-बंध एवं उनकी टीकाओं के प्रेरक, मार्गदर्शक और संशोधक आचार्य विजयप्रेमसूरि हैं।

●

१. टीकासहित भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा ने सन् १९६६ में प्रकाशित की है।

२. यह कृति भी टीकासहित वहीं से सन् १९६६ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम प्रकरण

अनगार और सागार का आचार

प्रशमरति :

यह तत्त्वार्थसूत्र आदि के कर्ता उमास्वाति की ३१३ 'श्लोकों की कृति' है[1]। संक्षिप्त, सुबोधक और मनमोहक यह कृति निम्नलिखित बाईस अधिकारों में विभक्त है :

१. पीठबन्ध, २. कषाय, ३. राग आदि, ४. आठ कर्म, ५–६. करणार्थ, ७. आठ मदस्थान, ८. आचार, ९. भावना, १०. धर्म, ११. कथा, १२. जीव, १३. उपयोग, १४. भाव, १५. षट्विध द्रव्य, १६. चरण, १७. शीलांग, १८. ध्यान, १९. क्षपकश्रेणी, २०. समुद्घात, २१. योगनिरोध और २२. शिव-गमन-विधान और फल।

इसके १३५ वें श्लोक में मुनियों के वस्त्र एवं पात्र के विषय में निरूपण है। इसमें जीव आदि नौ तत्त्वों का निरूपण भी आता है।

प्रस्तुत कृति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता की है ऐसा सिद्धसेनगणी तथा हरिभद्रसूरि ने कहा है।

---

१. यह मूल कृति तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि के साथ 'बिब्लिओथिका इण्डिका' में सन् १९०४ में तथा एक अज्ञातकर्तृक टीका के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा की ओर से वि० सं० १९६६ में प्रकाशित की गई है। एक अन्य अज्ञात-कर्तृक टीका और ए० बेलिनी (A. Ballini) के इटालियन अनुवाद के साथ प्रस्तुत कृति Journal of the Italian Asiatic Society (Vol. XXV & XXIX) में छपी है। देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने हारिभद्रीय वृत्ति एवं अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि के साथ यह कृति वि० सं० १९९६ में प्रकाशित की है। कर्पूरविजयजीकृत गुजराती अनुवाद आदि के साथ प्रस्तुत कृति जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० सं० १९८८ में छापी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकाएँ—१८०० श्लोक-परिमाण की एक टीका वि० सं० ११८५ में हरिभद्रसूरि ने लिखी है। इसके अतिरिक्त दो अज्ञातकर्तृक टीकाएँ भी हैं, जिनमें से एक की हस्तलिखित प्रति १४९८ की मिलती है। हारिभद्रीय टीका की प्रशस्ति (श्लो० ३) से ज्ञात होता है कि उसके पहले भी दूसरी टीकाएँ लिखी गई थीं और वे बड़ी थीं। किसी ने इस पर अवचूर्णि भी लिखी है।[1]

पंचसुत्तय (पंचसूत्रक) :

अज्ञातकर्तृक यह कृति[2] पाँच सूत्रों में विभक्त है। इसके विषय अनुक्रम से इस प्रकार हैं :

१. पाप का प्रतिघात और गुण के बीच का आधान, २. श्रमणधर्म की परिभावना, ३. प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि, ४. प्रव्रज्या का पालन, ५. प्रव्रज्या का फल—मोक्ष।

प्रथम सूत्र में अरिहन्त आदि चार शरण का स्वीकार और सुकृत की अनुमोदना को स्थान दिया गया है। दूसरे सूत्र में अधर्म-मित्रों का त्याग, कल्याण-मित्रों का स्वीकार तथा लोकविरुद्ध आचरणों का परिहार इत्यादि बातें कही गई हैं। तीसरे सूत्र में दीक्षा के लिये माता-पिता की अनुज्ञा कैसे प्राप्त करनी चाहिए यह दिखलाया है और चौथे सूत्र में आठ प्रवचन-माता का पालन, भावचिकित्सा के लिए प्रयास तथा लोकसंज्ञा का त्याग—इन बातों का निरूपण है। पाँचवें सूत्र में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन आता है।

टीकाएँ—हरिभद्रसूरि ने इस पर ८८० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इन्होंने मूल कृति का नाम 'पंचसूत्रक' लिखा है, जबकि न्यायाचार्य यशो-

---

१. प्रो० राजकुमार शास्त्री ने हिन्दी में टीका लिखी है और वह मूल एवं हारिभद्रीय टीका के साथ 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' में छपी है। विशेष जानकारी के लिये देखिए—लेखक की प्रशमरति और सम्बन्धकारिका, उत्थानिका, पृ० १२-५.

२. यह गुजराती अनुवाद के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७० में प्रकाशित किया है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने अंग्रेजी प्रस्तावनासहित सन् १९३४ में छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजयजी ने इसे 'पंचसूत्री' कहा है। इसपर मुनिचन्द्रसूरि तथा किसी अज्ञात लेखक ने एक-एक अवचूरि लिखी है।[1]

मूलायार (मूलाचार) :

इसे[2] 'आचाराङ्ग' भी कहते हैं। इसके कर्ता वट्टकेर ने इसे बारह अध्यायों में बाँटा है। इसमें सामायिक आदि छः आवश्यकों का निरूपण है।

यह एक संग्रहात्मक कृति है। श्री परमानन्द शास्त्री के मत से इसके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं। इसके कर्ता वट्टकेर ने कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में से, आवश्यक की निर्युक्ति में से, सन्मति प्रकरण में से तथा शिवार्यकृत आराधना में से गाथाएँ उद्धृत की हैं।[3]

टीकाएँ—इसपर १२,५०० श्लोक-परिमाण की 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका वसुनन्दी ने लिखी है और वह प्रकाशित भी हो चुकी है। इस मूलाचार के ऊपर मेघचन्द्र ने भी टीका लिखी है।

१. पंचनियंठी (पंचनिर्ग्रन्थी) :

यह हरिभद्रसूरि की रचना मानी जाती है, जो अबतक अप्राप्य है। नाम से ज्ञात होता है कि इसमें पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—इन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का अधिकार होगा।

२. पंचनियंठी (पंचनिर्ग्रन्थी) :

यह[4] नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री में १०७ पद्यों में लिखी है। इसे 'पंचनिर्ग्रन्थीविचारसंग्रहणी' भी कहते हैं। यह वियाहपण्णत्ति (शतक

---

१. प्रस्तुत कृति का गुजराती अनुवाद हुआ है और वह छपा भी है। हारिभद्रीय टीका के आधार पर मूल कृति का गुजराती विवेचन मुनि श्री भानुविजयजी ने किया है। यह विवेचन 'पंचसूत्र याने उच्च प्रकाशना पंथे' के नाम से 'विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला' में वि० सं० २००७ में छपा है।

२. सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ यह 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में छपा है।

३. देखिए—अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ३१९-२४.

४. अज्ञातकर्तृक अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७४ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५) के आधार पर आयोजित है। इसमें पुलाक, बकुश इत्यादि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का निरूपण है।

पंचवत्थुग (पंचवस्तुक) :

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित १७१४ पद्य की कृति[1] है। यह निम्नोक्त पाँच अधिकारों में विभक्त है : १. प्रव्रज्या की विधि, २. प्रतिदिन की क्रिया, ३. व्रतों के विषय में स्थापना, ४. अनुयोग और गण की अनुज्ञा और ५. संलेखना। इन पाँच वस्तुओं से सम्बद्ध पद्य-संख्या क्रमशः २२८, ३८१, ३२१, ४३४ और ३५० है।

यह ग्रन्थ जैन श्रमणों के लिये विशेषरूप से मनन करने योग्य है। इसमें दीक्षा किसे, कब और कौन दे सकता है इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। द्वितीय वस्तु में उपधि की प्रतिलेखना, उपाश्रय का प्रमार्जन, भिक्षा (गोचरी) की विधि, ईर्यापथिकीपूर्वक कायोत्सर्ग, गोचरी की आलोचना, भोजन-पात्रों का प्रक्षालन, स्थण्डिल का विचार और उसकी भूमि तथा प्रतिक्रमण—इन सब का विचार किया गया है। चौथे अधिकार में 'थयपरिण्णा'[2] (स्तवपरिज्ञा), जोकि एक पाहुड माना जाता है, उद्धृत की गई है। यह इस ग्रन्थ की महत्ता में वृद्धि करती है। इसके द्वारा द्रव्य-स्तव और भाव-स्तव का निरूपण किया गया है।

टीका—५०५० श्लोक-परिमाण की 'शिष्यहिता' नाम की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार ने लिखी है। न्यायाचार्य यशोविजयजी ने 'मार्गविशुद्धि' नाम की कृति 'पंचवत्थुग' के आधार पर लिखी है। इन्होंने 'प्रतिमाशतक' के श्लोक ६७ की स्वोपज्ञ टीका में 'थयपरिण्णा' को उद्धृत करके उसका संक्षेप में स्पष्टीकरण किया है।[3]

---

१. स्वोपज्ञ टीका के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्थाने सन् १९३२ में प्रकाशित किया है।

२. इसके विषय में विशेष जानकारी 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष २१, अंक १२) में प्रकाशित 'थयपरिण्णा (स्तवपरिज्ञा) अने तेनी यशोव्याख्या' नामक लेख में दी गई है।

३. आगमोद्धारक आनन्दसागरसूरि ने इसका गुजराती अनुवाद किया है और वह ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंसणसार (दर्शनसार) :

जैन शौरसेनी में विरचित ५१ पद्यों की यह कृति[1] देवसेन ने वि० सं० ९९० में लिखी है। इसमें इन्होंने नौ अजैन सम्प्रदाय तथा जैन सम्प्रदायों में से श्वेताम्बर संप्रदाय का विचार किया है। ये द्राविड़, यापनीय, काष्ठा, माथुरा और भिल्लय संघों को जैनाभास मानते हैं। ये देवसेन विमलसेन के शिष्य और आराधनासार के रचयिता हैं।

दर्शनसारदोहा :

यह माइल्ल धवल की रचना है।

१. श्रावकप्रज्ञप्ति :

इस नाम की संस्कृत कृति की रचना उमास्वाति ने की थी यह अनुमान धर्मसंग्रह[2] की स्वोपज्ञ टीका, धर्मबिन्दु की मुनिचन्द्रसूरिकृत टीका आदि में आये हुए उल्लेखों से होता है, परन्तु यह आजतक उपलब्ध नहीं हुई है।

२. सावयपण्णत्ति (श्रावकप्रज्ञप्ति) :

जैन महाराष्ट्री में रचित ४०५ कारिका की यह कृति[3] प्रशमरति आदि के रचयिता उमास्वाति की है ऐसा कई हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में उल्लेख आता है, किन्तु यह हरिभद्रसूरि की कृति है यह 'पंचासग' की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति लावण्यसूरिकृत द्रव्यसप्तप्ति आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है।

प्रस्तुत कृति में 'सावग' शब्द की व्युत्पत्ति, सम्यक्त्व, आठ प्रकार के कर्म, नव तत्त्व, श्रावक के बारह व्रतों का निरूपण और अन्त में श्रावक की सामाचारी—इस प्रकार विविध विषय आते हैं। श्रावक के पहले और नवें व्रत की विचारणा में कितनी ही महत्त्व की बातों का उल्लेख किया गया है।

---

१. यह Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. XV, pp. 198-206) में छपा है। इसका सम्पादन डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने किया है।

२. देखिए—दूसरे व्रत की व्याख्या में 'अतिथि' के सम्बन्ध में दिया गया अवतरण।

३. के० पी० मोदी द्वारा सम्पादित यह कृति संस्कृत-छाया के साथ 'ज्ञान प्रसारक मण्डल' बम्बई ने प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका—इस पर स्वयं हरिभद्रसूरि की 'दिक्प्रदा' नाम की संस्कृत टीका है। इसमें जीव की नित्यानित्यता एवं संसारमोचक मत आदि कतिपय चर्चास्पद विषयों का निरूपण है।[1]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार :

इसे 'उपासकाध्ययन' भी कहते हैं। यह[2] सात परिच्छेदों में विभक्त है। कई विद्वान् इसे आप्तमीमांसा आदि के रचयिता समन्तभद्र की कृति मानते हैं। प्रभाचन्द्र की जो टीका छपी है उसमें तो समग्र कृति पाँच ही परिच्छेदों में विभक्त की गई है। इनकी पद्य-संख्या क्रमशः ४१, ५, ४४, ३१ और २९ है। इस तरह इसमें कुल १५० पद्य हैं।

प्रथम परिच्छेद में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाया है। उसमें आप्त, सुदेव, आठ मद, सम्यक्त्व के निःशंकित आदि आठ अंग आदि की जानकारी दी गई है। दूसरे परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का लक्षण देकर प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का संक्षिप्त स्वरूप दिखलाया है। तीसरे परिच्छेद में चारित्र के सकल और विकल ये दो प्रकार बतलाकर विकल चारित्र के बारह भेद अर्थात् श्रावक के बारह व्रतों का निर्देश करके पाँच अणुव्रत और उनके अतिचारों का वर्णन किया गया है। चौथे परिच्छेद में इसी प्रकार तीन गुणव्रतों का, पाँचवें में चार शिक्षा-व्रतों का, छठे में संलेखना (समाधिमरण) का और सातवें में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण है।

---

१. मूल कृति का किसी ने गुजराती में अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'ज्ञान प्रसारक मण्डल' बम्बई ने प्रकाशित किया है। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि मूल में ४०५ गाथाएँ हैं, परन्तु ३२वीं और ५२वीं गाथा के बाद की एक-एक गाथा टीकाकार की है। अतः ४०३ गाथाएँ मूल की मानी जा सकती हैं और अनुवाद भी उतनी ही गाथाओं का दिया गया है।

२. यह प्रभाचन्द्र की टीका तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तार की विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना के साथ माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में वि० सं० १९८२ में प्रकाशित हुआ है। इससे पहले हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ मूल कृति श्री चम्पतराय जैन ने सन् १९१७ में छपाई थी। किसी ने मूल का मराठी अनुवाद भी छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकाएँ—इस पर प्रभाचन्द्र ने १५०० श्लोक-परिमाण टीका लिखी है। दूसरी एक टीका ज्ञानचन्द्र ने लिखी है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

पंचासग (पंचाशक) :

जैन महाराष्ट्री में रचित हरिभद्रसूरि की इस कृति[1] में १९ पंचाशक हैं। इसमें प्रत्येक विषय के लिए ५०-५० पद्य हैं। इन १९ पंचाशकों के नाम इस प्रकार हैं :

१. श्रावकधर्म, २. दीक्षा, ३. चैत्यवन्दन, ४. पूजा, ५. प्रत्याख्यान, ६. स्तवन, ७. जिनभवन, ८. प्रतिष्ठा, ९. यात्रा, १०. श्रावकप्रतिमा, ११. साधुधर्म, १२. यतिसामाचारी, १३. पिण्डविधि, १४. शीलांग, १५. आलोचनाविधि, १६. प्रायश्चित्त, १७. कल्पव्यवस्था, १८. साधुप्रतिमा और १९. तपोविधि।

आद्य पंचाशक में 'श्रावक' शब्द का अर्थ, श्रावक के बारह व्रत तथा उनके अतिचार, व्रतों का कालमान, संलेखना और श्रावकों की दिनचर्या—इस तरह विविध बातें दी गई हैं।

टीकाएँ—अभयदेवसूरि ने वि० सं० ११२४ में एक वृत्ति लिखी है। हरिभद्र ने इस पर टीका लिखी है ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० २३१) में उल्लेख है। इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

वीरगणी के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पंचाशक पर जैन महाराष्ट्री में वि० सं० ११७२ में एक चूर्णि लिखी है।[2] इन्होंने वि० सं० ११८० में पक्खिसूत्र का विवरण लिखा है। इस चूर्णि के प्रारम्भ में तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं। शेष समग्र ग्रन्थ गद्य में है। इस चूर्णि में सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टान्त,[3] 'करेमि भंते' से शुरू होनेवाला सामायिकसूत्र और उसका अर्थ तथा मनुष्य भव की दुर्लभता के दृष्टान्त—इस प्रकार अन्यान्य विषयों का निरूपण है। इस चूर्णि में सामाचारी के विषय में

१, यह अभयदेवसूरिकृत वृत्ति के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१२ में छपवाया है।

२. प्रथम पंचाशक की यह चूर्णि पाँच परिशिष्टों के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९५२ में छपवाई है।

२. यह तथा अन्य दृष्टान्तों की सूची ५वें परिशिष्ट में दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक बार उल्लेख आते हैं; इस से ज्ञात होता है कि चूर्णिकार सामाचारी को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। मुख्यतया मण्डनात्मक शैली में रचित इस चूर्णि (पत्र १०४ आ) में 'तुलादण्ड' न्याय का उल्लेख है।

आवश्यक की चूर्णि के देशविरति अधिकार की **'जारिसो जइभेओ'** से शुरू होनेवाली गाथाओं के आधार पर जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी नौ द्वारों का निरूपण है।

इस चूर्णि की रचना में आधारभूत सामग्री के रूप में विविध ग्रन्थों का साक्ष्य दिया गया है और अन्त में पंचाशक की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति, आवश्यक की चूर्णि और वृत्ति, नवपयपयरण और सावयपण्णत्ति के उपयोग किये जाने का उल्लेख है।[1]

धर्मसार:

यह हरिभद्रसूरि की कृति है। पंचसंग्रह की ८वीं गाथा की टीका में (पत्र ११ आ) मलयगिरिसूरि ने इसका उल्लेख किया है, परन्तु अबतक यह अनुपलब्ध है।

टीका—देवेन्द्रसूरि ने 'छासीइ' कर्मग्रन्थ की अपनी वृत्ति (पृ० १६१) में इसका उल्लेख किया है, परन्तु यह भी मूल की भाँति अबतक प्राप्त नहीं हो सकी है।

सावयधम्मतंत (श्रावकधर्मतंत्र) :

हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में १२० गाथाओं की यह कृति[2] 'विरह' पद से अंकित है। इसे श्रावकधर्मप्रकरण भी कहते हैं। इसमें श्रावक शब्द की

---

१. प्रथम पंचाशक का मुनि श्री शुभंकरविजयकृत गुजराती अनुवाद 'नेमि-विज्ञान-ग्रन्थमाला (सन् १९४९) में प्रकाशित हुआ है और उसका नाम 'श्रावकधर्मविधान' रखा है।

प्रथम चार पंचाशक एवं उतने भाग की अभयदेवसूरि की वृत्ति का सारांश गुजराती में पं० चन्द्रसागरगणी ने तैयार किया है। यह सारांश 'सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति' ने सन् १९४९ में प्रकाशित किया है।

२. मानदेवसूरिकृत वृत्ति के साथ यह सन् १९४० में 'केशरबाई जैन ज्ञान-मन्दिर' ने 'श्री श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्' के नाम से प्रकाशित की है। इसमें गुजराती में विषयसूची तथा मूल एवं वृत्तिगत पद्यों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वर्थता, धर्म के अधिकारी के लक्षण, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के प्रकार, पार्श्वस्थ आदि का परिहार करने की सूचना, अनुमति का स्वरूप, दर्शनाचार के निःशंकित आदि आठ प्रकारों की स्पष्टता, आठ प्रभावकों का निर्देश, श्रावक के बारह व्रत और उनके अतिचार—इस प्रकार विविध विषयों का निरूपण है।

टीका—श्री मानदेवसूरि ने इस पर एक वृत्ति लिखी है। अन्त की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर उन्होंने अपनी यह वृत्ति लिखी है। प्रारम्भ में एक पद्य तथा अन्त में प्रशस्ति के रूप में दो पद्य लिखे हैं।

नवपयपयरण (नवपदप्रकरण):

जैन महाराष्ट्री में रचित १३७ पद्य की यह कृति[1] ऊकेशगच्छ[2] के देवगुप्तसूरि ने लिखी है। इनका पहले का नाम जिनचन्द्रगणी था। इन्होंने 'नवतत्तपयरण' लिखा है। प्रस्तुत कृति में अरिहन्त आदि नौ पदों का निरूपण होगा ऐसा इस कृति का नाम देखने से प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ तो मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, श्रावक के बारह व्रत और संलेखना इन विषयों का १. यादृश, २. यतिभेद, ३. यथोत्पत्ति, ४. दोष, ५. गुण, ६. यतना, ७. अतिचार, ८. भंग और ९. भावना—इन नौ पदों द्वारा नौ-नौ गाथाओं में विचार किया गया है। पहली गाथा में मंगल, अभिधेय आदि आते हैं, जबकि दूसरी गाथा आवश्यक की देशविरति-अधिकारविषयक चूर्णि में उद्धृत पूर्वगत गाथा है। इसके अलावा दूसरी भी कोई-कोई गाथा मूल या भावार्थ के रूप में इस चूर्णि की देखी जाती है।

टीकाएँ—स्वयं कर्ता द्वारा वि० सं० १०७३ में रचित स्वोपज्ञ टीका का नाम श्रावकानन्दकारिणी है। इसमें कई कथाएँ आती हैं। इसके अतिरिक्त देवगुप्तसूरि के प्रशिष्य और सिद्धसूरि के शिष्य तथा अन्य सिद्धसूरि के गुरुभाई यशोदेव ने वि० सं० ११६५ में एक विवरण लिखा है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते

---

१. यह श्रावकानन्दकारिणी नाम की स्वोपज्ञ टीका के साथ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९२६ में तथा यशोदेव के विवरण के साथ सन् १९२७ में छपाया है।

२. इस गच्छ में देवगुप्त, कक्कसूरि, सिद्धसूरि और जिनचन्द्र बार-बार आते हैं, अतः विवरणकार के गुरु और गुरुभाई के जो एक ही नाम हैं वे यथार्थ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। विवरणकार का दीक्षा-समय का नाम धनदेव था। यह विवरण उपर्युक्त १३७ गाथाओं के अतिरिक्त एक और गाथा पर भी है।[1] स्वोपज्ञ टीका का विस्तृत स्पष्टीकरण इस विवरण में है।

इस विवरण में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप; मिथ्यात्व के आभिग्राहिक आदि प्रकार; जमालि के चरित्र में 'क्रियमाण कृत' विषयक चर्चा; गोष्ठामाहिल के वृत्तान्त में आर्यरक्षित से सम्बद्ध कई बातें, गोष्ठामाहिल के द्वारा मथुरा में नास्तिक का किया गया पराजय; चिलातीपुत्र के अधिकार में वैदिक वाद; प्रथम व्रत के स्वरूप का विचार करते समय २६३ कर्मादान; सामायिक के विषय में नयविचार; पौषध के अतिचारों के कथन के समय स्थण्डिल के १०२४ प्रकार तथा संलेखना के विषय में निर्यामक के प्रकार—इस प्रकार विविध बातों का निरूपण किया गया है।

इस विवरण का चक्रेश्वरसूरि आदि ने संशोधन किया है। इस ९५०० श्लोक-परिमाण विवरण में (पत्र २४२ आ) जिन वसुदेवसूरि का निर्देश है उनके 'खंतिकुलय' के अलावा दूसरे ग्रंथ जानने में नहीं आये।

संघतिलकसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि ने वि० सं० १४५२ में अभिनववृत्ति नाम की एक वृत्ति लिखी है।

उपासकाचार :

वि० सं० १०५० में रचित यह पद्यात्मक संस्कृत कृति[2] सुभाषितरत्नसन्दोह के रचयिता और माथुर संघ के माधवसेन के शिष्य अमितगति की रचना है।

---

१. यह १३८ वीं गाथा विवरणकार को मिली होगी। बाकी मूल कर्ता ने न तो वह स्वतंत्र दी है और न उस पर टीका ही लिखी है। उस गाथा में कहा है कि कक्कसूरि के शिष्य जिनचन्द्रगणी ने आत्मस्मरण के लिए और अन्य लोगों पर उपकार करने की दृष्टि से इस नवपद (प्रकरण) की रचना की है।

२. यह वि० सं० १९७९ में 'अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। इसकी पं० भागचन्दकृत वचनिका से युक्त दूसरी आवृत्ति-'श्रावकाचार' के नाम से श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया ने वि० सं० २०१५ में छपवाई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह पन्द्रह परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें श्रावक के आचार का निरूपण है। कुल १४६४ श्लोकों की इस कृति का प्रारम्भ पंच परमेष्ठी, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सरस्वती और गुरु के स्मरण से किया गया है। अन्त में प्रशस्ति के रूप में नौ श्लोक हैं। इन पन्द्रह परिच्छेदों[1] के मुख्य विषय इस प्रकार हैं :

१. संसार का स्वरूप, २. मिथ्यात्व का स्वरूप और उसके त्याग का उपदेश, ३. जीवादि पदार्थ का निरूपण, ४. चार्वाक, विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, और पुरुषाद्वैत का खण्डन तथा कुदेव का स्वरूप, ५. मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन और क्षीरवृक्ष के फल का त्याग, ६. अणुव्रत, ७. व्रत की महिमा, ८. छः आवश्यक, ९. दान का स्वरूप, १०. पात्र, कुपात्र और अपात्र की स्पष्टता, ११. अभयदान का फल, १२. तीर्थंकर आदि तथा उपवास का स्वरूप, १३. संयम का स्वरूप, १४. बारह अनुप्रेक्षा तथा १५. दान, शील, तप और भावना का निरूपण।

श्रावकाचार :

४६२२ श्लोक-परिमाण अंशतः संस्कृत और अंशतः कन्नड़ में रचित इस ग्रन्थ के कर्ता कुमुदचन्द्र के शिष्य माघनन्दी हैं। इसे पदार्थसार भी कहते हैं। इन माघनन्दी को वि० सं० १२६५ में 'होयल' वंश के नरसिंह नाम के नृपति ने दान दिया था। इन्होंने शास्त्रसारसमुच्चय, श्रावकाचारसार और सिद्धान्तसार भी लिखा है।

टीका—कुमुदचन्द्र ने इस पर एक टीका लिखी है।

श्रावकधर्मविधि :

यह ग्रन्थ जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वर ने वि० सं० १३०३ में लिखा है। इसे श्रावकधर्म भी कहते हैं।

टीका—इस पर १५१३१ श्लोक-परिमाण एक टीका लक्ष्मीतिलकगणी ने अभयतिलक की सहायता से वि० सं० १३१७ में लिखी है।

---

१. प्रथम परिच्छेद के नवें पद्य में उपासकाचार के विचार का सार कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्राद्धगुणश्रेणिसंग्रह :

इसे श्राद्धगुणसंग्रह अथवा श्राद्धगुणविवरण[1] भी कहते हैं। इसकी रचना सोमसुन्दर के शिष्य जिनमण्डनगणी ने वि० सं० १४९८ में की है। इन्होंने ही वि० सं० १४९२ में कुमारपालप्रबन्ध लिखा है। धर्मपरीक्षा नाम की कृति भी इनकी रचना है। हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र, प्रकाश १ के अन्त में सामान्य गृहस्थधर्म के विषय में जो दस श्लोक हैं उनमें मार्गानुसारिता के ३५ गुणों का निर्देश किया है। वे श्लोक प्रस्तुत कृति के आरम्भ में (पत्र २ आ) उद्धृत किये गये हैं। उनका विस्तृत निरूपण इसमें आता है।

प्रारम्भ में 'सावग' और 'श्रावक' शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। ३५ गुणों को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाएँ दी गई हैं। बीच-बीच में संस्कृत एवं प्राकृत अवतरण दिये गये हैं। अन्त में सात श्लोकों की प्रशस्ति है। उसमें रचना-स्थान[2] और रचना-काल[3] का निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त ३५ गुण इस प्रकार हैं :

१. न्यायसम्पन्न वैभव, २. शिष्टाचार की प्रशंसा, ३. कुल एवं शील की समानतावाले अन्य गोत्र के व्यक्ति के साथ विवाह, ४. पापभीरुता, ५. प्रचलित देशाचार का पालन, ६. राजा आदि की निन्दा से अलिप्तता, ७. योग्य निवास-स्थान में द्वारवाला मकान, ८. सत्संग, ९. माता-पिता का पूजन, १०. उपद्रव-वाले स्थान का त्याग, ११. निन्द्य प्रवृत्तियों से अलिप्तता, १२. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यय करने की वृत्ति, १३. सम्पत्ति के अनुसार वेशभूषा, १४. बुद्धि के शुश्रूषा आदि आठ गुणों से युक्तता, १५. प्रतिदिन धर्म का श्रवण, १६. अजीर्णता होने पर भोजन का त्याग, १७. भूख लगने पर प्रकृति के अनुकूल भोजन, १८. धर्म, अर्थ और काम का परस्पर बाधारहित सेवन, १९. अतिथि,

---

१. 'श्राद्धगुणविवरण' के नाम से यह ग्रन्थ जैन आत्मानंद सभा ने वि० सं० १९७० में प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद प्रवर्तक कान्तिविजयजी के शिष्य श्री चतुरविजयजी ने किया है जो जैन आत्मानन्द सभा ने ही सन् १९१६ में प्रकाशित किया है।

२. अणहिलपत्तननगर।

३. मनु-नन्दाष्टक अर्थात् १४९८। यहाँ 'अंकानां वामतो गतिः' के नियम का पालन नहीं हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु एवं दीनजन की यथायोग्य सेवा, २०. सर्वदा कदाग्रह से मुक्ति, २१. गुण में पक्षपात, २२. प्रतिसिद्ध देश एवं काल की क्रिया का त्याग, २३. स्वबलाबल का परामर्श, २४. व्रतधारी और ज्ञानवृद्धजनों की पूजा, २५. पोष्यजनों का यथायोग्य पोषण, २६. दीर्घदर्शिता, २७. विशेषज्ञता अर्थात् अच्छे-बुरे का विवेक, २८. कृतज्ञता, २९. लोकप्रियता, ३०. लज्जालुता, ३१. कृपालुता, ३२. सौम्य आकार, ३३. परोपकार करने में तत्परता, ३४. अन्तरंग छः शत्रुओं के परिहार के लिए उद्युक्तता और ३५. जितेन्द्रियता।

धर्मरत्नकरण्डक :

१५०० श्लोक-परिमाण यह कृति[1] अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि ने वि० सं० ११७२ में लिखी है।

टीका—इस पर स्वयं कर्ता ने वि० सं० ११७२ में वृत्ति लिखी है। इसका संशोधन अशोकचन्द्र, धनेश्वर, नेमिचन्द्र और पार्श्वचन्द्र इस प्रकार चार मुनियों ने किया है।

चेइअवंदणभास (चैत्यवन्दनभाष्य) :

देवेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री में ६३ पद्य में इसकी[2] रचना की है। ये तपागच्छ के स्थापक जगच्चन्द्रसूरि के पट्टधर शिष्य थे। इन्होंने कम्मविवाग (कर्मविपाक) आदि पाँच नव्य कर्मग्रन्थ एवं उनकी टीका, गुरुवंदणभास एवं पच्चक्खाणभास, दाणाइकुलय, सुदंसणाचरिय तथा सड्ढदिणकिच्च और उसकी टीका आदि लिखे हैं। व्याख्यानकला में ये सिद्धहस्त थे। इनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ था।

---

१. यह हीरालाल हंसराज ने दो भागों में सन् १९१५ में छपवाया है।

२. यह अनेक स्थानों से गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। 'संघाचारविधि' के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने सन् १९३८ में यह प्रकाशित किया है। इसके सम्पादक श्री आनन्दसागरसूरि ने प्रारम्भ में मूल कृति देकर बाद में संघाचारविधि का संक्षिप्त एवं विस्तृत विषयानुक्रम संस्कृत में दिया है। इसके बाद कथाओं की सूची, स्तुति-स्थान, स्तुति-संग्रह, देशना-स्थान, देशना-संग्रह, सूक्तियों के प्रतीक, साक्षीरूप ग्रन्थों की नामावली, साक्षी-श्लोकों के प्रतीक और विस्तृत उपक्रम (प्रस्तावना) है। प्रस्तावना के अन्त में धर्मघोषसूरिकृत स्तुति-स्तोत्रों की सूची दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी पहली गाथा में वन्दनीय को वन्दन करके चैत्यवन्दन आदि का निरूपण वृत्ति, भाष्य, चूर्णि इत्यादि के आधार पर करनें की प्रतिज्ञा की गई है। इसके पश्चात् चैत्यवन्दन अर्थात् देववन्दन की विधि का पालन चौबीस द्वार से यथावत् होने से चौबीस द्वार के नाम प्रत्येक द्वार के प्रकारों की संख्या के साथ दिये गये हैं। वे द्वार इस प्रकार हैं :

१. नैषध आदि दर्शनत्रिक, २. पाँच अभिगम, ३. देव को वन्दन करते समय स्त्री एवं पुरुष के लिए खड़े होने की दिशा, ४. तीन अवग्रह, ५. त्रिविध वन्दन, ६. पंचांग प्रणिपात, ७. नमस्कार, ८–१०. नवकार आदि नौ सूत्रों के वर्ण की संख्या तथा उन सूत्रों के पदों एवं सम्पदा की संख्या, ११. 'नमु त्थु णं' आदि पाँच दण्डक, १२. देववन्दन के बारह अधिकार, १३. चार वन्दनीय, १४. उपद्रव दूर करने के लिए समग्दृष्टि देवों का स्मरण, १५. नाम-जिन, स्थापना-जिन, द्रव्य-जिन और भाव-जिन, १६. चार स्तुति, १७. आठ निमित्त, १८. देववन्दन के बारह हेतु, १९. कायोत्सर्ग के सोलह आकार, २०. कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष, २१. कायोत्सर्ग का प्रमाण, २२. स्तवनसम्बन्धी विचार, २३. सात बार चैत्यवन्दन और २४. दस आशातना।

इन चौबीस द्वारों के २०७४ प्रकार गिनाकर ६२ वीं गाथा में देववन्दन की विधि दी गयीहै।

संघाचारविधि :

यह ग्रन्थ उपर्युक्त देवेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि ने वि० सं० १३२७ से पहले लिखा है। यह ८५०० श्लोक-परिमाण रचना है और सम्भवतः स्वयं धर्मघोषसूरि की लिखी हुई वि० सं० १३२९ की हस्तलिखित प्रति मिलती है। यह संघाचारविधि चेइयवन्दणसुत्त की वृत्ति है। इसमें लगभग पचास कथाएँ, देव और गुरु की स्तुतियाँ, विविध देशनाएँ. सुभाषित, मतान्तर और उनका खण्डन इत्यादि आते हैं।

सावगविहि (श्रावकविधि) :

यह जिनप्रभसूरि की दोहा-छन्द में अपभ्रंश में ३२ पद्यों में रचित कृति है। इसका उल्लेख पत्तन-सूची में आता है।

गुरुवंदणभास (गुरुवन्दनभाष्य)

चेइयवंदणभास इत्यादि के प्रणेता देवेन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित ४१

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

पद्यों की यह कृति[1] है। प्रथम गाथा में गुरुवन्दन के तीन प्रकार—फिट्टा (स्फेटिका), छोभ (स्तोभ) और बारसावर्त (द्वादशावर्त) कहे हैं। इसके बाद वन्दन का हेतु, वन्दन के पाँच नाम[2] तथा वन्दन के बाईस द्वार—इस तरह विविध विषयों का निरूपण किया गया है। बाईस द्वार इस प्रकार हैं :

१. वन्दन के पाँच नाम, २. वन्दन के बारे में पाँच उदाहरण, ३. पार्श्वस्थ आदि अवन्दनीय, ४. आचार्य आदि वन्दनीय, ५-६. वन्दन के चार अदाता और चार दाता, ७. निषेध के तेरह स्थानक, ८. अनिषेध के चार स्थानक, ९. वन्दन के कारण, १०. आवश्यक, ११. मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, १२. शरीर का प्रतिलेखन, १३. वन्दन के बत्तीस दोष, १४. वन्दन के चार गुण, १५. गुरु की स्थापना, १६. अवग्रह, १७-१८. 'वंदणयसुत्त' के अक्षरों एवं पदों की संख्या, १९. स्थानक, २०. वन्दन में गुरुवचन, २१. गुरु की तैंतीस आशातना और २२. वन्दन की विधि।

पच्चक्खाणभास (प्रत्याख्यानभाष्य) :

यह 'चेइयवन्दणभास' आदि के रचयिता देवेन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में ग्रथित ४८ गाथाओं की कृति[3] है। इसमें प्रत्याख्यान के दस प्रकार, प्रत्याख्यान की चार विधि, चतुर्विध आहार, बाईस आकार, अद्विरुक्त, दस विकृति, तीस विकृतिगत (छः मूल विकृति के तीस निर्विकृतिक), प्रत्याख्यान के मूल गुण और उत्तर गुण ऐसे दो प्रकार, प्रत्याख्यान की छः शुद्धि और प्रत्याख्यान का फल—इस प्रकार नौ द्वारों का सविस्तर निरूपण है।

मूलसुद्धि (मूलशुद्धि) :

इसे सिद्धान्तसार तथा स्थानकसूत्र भी कहते हैं। जैन महाराष्ट्री के २५२ पद्यों में रचित इस कृति के प्रणेता प्रद्युम्नसूरि हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि. सं. ११८६ की मिली है। इसमें सम्यक्त्वगुण के विषय में विवरण है।

---

१. चेइयवंदणभास तथा गुरुवंदणभास के साथ प्रस्तुत कृति 'चैत्यवन्दनादि-भाष्यत्रयम्' में गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९०६ में छपी है। प्रकाशक है : यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला।

२. वन्दन, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म।

३. इसका किसी ने गुजराती में अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका—इस पर देवचन्द्र ने वि. सं. ११६० में १३,००० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। ये कर्ता के प्रशिष्य थे। इन्होंने शान्तिनाथचरित्र लिखा है।

आराहणा (आराधना):

इसे भगवई आराहणा (भगवती आराधना) तथा मूलाराहणा (मूलाराधना)[1] भी कहते हैं। इसमें २१६६ पद्य जैन शौरसेनी में हैं। यह आठ परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-इन चार आराधनाओं का निरूपण है। यह ग्रन्थ मुख्यतया मुनिधर्म का प्रतिपादन करता है और समाधिमरण का स्वरूप समझाता है। विस्तार से कहना हो तो प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित बातों का आलेखन हुआ है:

सम्यक्त्व की महिमा, तप का स्वरूप, मरण के सत्रह प्रकारों का उल्लेख, इनमें से पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित-मरण, बाल-पण्डितमरण, बाल-मरण और बाल-बालमरण—इन पाँचों के नाम और इनके स्वामियों का उल्लेख, सूत्रकार के चार प्रकार, सम्यक्त्व के आठ अतिचार, सम्यक्त्व की आराधना का फल, स्वामी आदि, आराधना का स्वरूप, मिथ्यात्व के विषय में विचारणा, पण्डित-मरण का निरूपण, भक्तपरिज्ञा-मरण के प्रकार तथा सविचारभक्त-प्रत्याख्यान।

सविचारभक्तप्रत्याख्यान का निरूपण अधोलिखित चालीस अधिकारों में किया गया है:

१. तीर्थंकर, २. लिंग, ३. शिक्षा, ४. विनय, ५. समाधि, ६. अनियत विहार, ७. परिणाम, ८. उपाधित्याग, ९. द्रव्य-श्रिति और भावश्रिति, १०. भावना, ११. सल्लेखना, १२. दिशा, १३. क्षमण, १४. अनुविशिष्ट शिक्षा, १५. परगणचर्या, १६. मार्गणा, १७. सुस्थित, १८. उपसम्पदा, १९. परीक्षा, २०. प्रतिलेखन, २१. आपृच्छा, २२. प्रतिच्छन्न, २३. आलोचना, २४. आलो-

---

१. यह ग्रन्थ सदासुख की हिन्दी टीका के साथ शक संवत् १८३१ में कोल्हापुर से प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् मूल ग्रन्थ की सदासुख काशलीवाल-कृत हिन्दी वचनिकासहित दूसरी आवृत्ति 'अनन्तवीर्य दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में पं० नाथूरामजी प्रेमी की विस्तृत भूमिका के साथ वि० सं० १९८९ में प्रकाशित हुई है। इसमें २१६६ गाथाएँ हैं। इनमें कई अवतरणों का भी समावेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चना के गुण-दोष, २५. शय्या, २६. संस्तर, २७. निर्यापक, २८. प्रकाशन, २९. आहार की हानि, ३०. प्रत्याख्यान, ३१. क्षामण, ३२. क्षपण, ३३. अनुशिष्टि, ३४. सारण, ३५. कवच, ३६. समता, ३७. ध्यान, ३८. लेश्या, ३९. आराधना का फल और ४०. विजहना।

चालीसवें अधिकार में निशीथिका का स्वरूप, उसके द्वार, निमित्तज्ञान, साधु के मरण के समय धीर-वीर का जागरण, मृतक मुनि के अंगूठे का बन्धन और छेदन, वन आदि में मृत्युप्राप्त मुनि के कलेवर का वहाँ पड़ा रहना उचित न होने से गृहस्थ का उसे शिविका में लाना, क्षपक के शरीर-स्थापन की विधि, क्षपक के शरीर के अवयवों का पक्षियों द्वारा अपहरण किये जाने पर फलादेश एवं क्षपक की गति का कथन है।

इस ग्रन्थ के रचयिता 'पाणितलभोजी' शिवार्य हैं।[1] इन्होंने अपने गुरुओं के रूप में जिननंदी, सर्वगुप्त और मित्रनन्दी इन तीनों का 'आर्य' शब्द के साथ उल्लेख किया है।

आरधना की कई गाथाएँ मूलाचार में तथा किसी-किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ में भी उपलब्ध होती हैं। इसका 'विजहना' नाम का चालीसवाँ अधिकार विलक्षण है। उसमें आराधक मुनि के मृतक-संस्कार का वर्णन है।

टीकाएँ—इस पर एक टीका है, जिसे कई लोग वसुनन्दी की रचना मानते हैं। इसके अतिरिक्त इस पर चन्द्रनन्दी के शिष्य बलदेव के शिष्य अपराजित की 'विजयोदया' नाम की एक टीका है। आशाधर की टीका का नाम 'दर्पण' है। इसे 'मूलाराधनादर्पण' भी कहते हैं। अमितगति की टीका का नाम 'मरणकरण्डिका' है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक पंजिका भी है।[2]

१, जिनसेन ने आदिपुराण में जिन शिवकोटि का उल्लेख किया है वे प्रस्तुत ग्रन्थकार ही हैं यह शंकास्पद है।

२. जिनदास पार्श्वनाथ ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। सदासुख का भी एक अनुवाद है। उनका हिन्दी-वचनिका नाम का यह अनुवाद वि. सं. १९०८ में पूर्ण हुआ था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराहणासार (आराधनासार) :

वि: सं. ९९० के आसपास में देवसेन ने जैन शौरसेनी के ११५ पद्यों में इसकी[1] रचना की है। ये विमलसेन के शिष्य थे ऐसा गजाधरलाल जैन ने प्रस्तावना (पृ० २) में लिखा है। देवसेन नाम के दूसरे भी अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। उदाहरणार्थ—आलापपद्धति के कर्ता, चन्दनषष्टयुद्यापन के कर्ता, सुलोचना-चरित्र के कर्ता और संस्कृत में आराधनासार के रचयिता।

इसकी प्रथम गाथा में आये हुए **'सुरसेणवंदियं'** के भिन्न-भिन्न पदच्छेद करके भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। ऐसा करते समय 'रस' और 'दिय' (द्विज) के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

इसमें तपश्चर्या, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के समुदाय को आराधना का सार कहा है। यह सार व्यवहार एवं निश्चय से दो प्रकार का है। व्यवहार से सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप, सम्यक्चारित्र के तेरह प्रकारों का तथा तपश्चर्या के बारह प्रकारों का सामान्य निर्देश, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार आराधना की स्पष्टता, व्यवहार से चतुर्विध आराधना का निश्चयनयपूर्वक की आराधना के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध, विशुद्ध आत्मा की आराधना करने का उपदेश, आराधक और विराधक का स्वरूप, संन्यास की योग्यता, परिग्रह के त्याग से लाभ, निश्चयनय की अपेक्षा से निर्ग्रन्थता, कषायों और परीषहों पर विजय, (दावानल-रूपी) अचेतनकृत उपसर्ग शिवभूति ने, तिर्यंचकृत उपसर्ग सुकुमाल और कोसल इन दो मुनियों ने, मनुष्यकृत उपसर्ग गुरुदत्त राजा ने, पाण्डवों ने और गजकुमार ने तथा देवकृत उपसर्ग श्रीदत्त और सुवर्णभद्र ने सहन किये थे इसका उल्लेख, इन्द्रिय एवं मन का निग्रह करने की आवश्यकता, असंयमी की अवदशा, निर्विकल्प समाधि का स्वरूप, सम्यग्दर्शन आदि की आत्मा से अभिन्नता और वैसी आत्मा अवलम्बन आदि (विभाव परिणामों) से रहित होने से उसकी कथंचित् शून्यता, उत्तम ध्यान का प्रभाव, विशुद्ध भावनाओं का फल, चतुर्विध आराधना का फल, आराधना का स्वरूप प्रदर्शित करनेवाले मुनिवरों को वन्दन तथा प्रणेता की लघुता—ये विषय आते हैं।

---

१. यह रत्नकीर्ति की टीका के साथ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में वि० सं० १९७३ प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ गजाधरलाल जैन-कृत हिन्दी अनुवाद के साथ वीर संवत् २४८४ में 'श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था' ने छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका—इस पर माथुर संघ के क्षेमकीर्ति के शिष्य रत्नकीर्ति ने २२०० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। इसमें शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव, परमात्मप्रकाश एवं समयसार में से उद्धरण दिये गये हैं। माइल्ल धवल ने जिस आराधनासार पर टीका लिखी है वह प्रस्तुत कृति है या अन्य यह ज्ञात नहीं।

आराधना :

यह माधवसेन के शिष्य अमितगति की रचना है। यह शिवार्यकृत 'आराहणा' का संस्कृत पद्यात्मक अनुवाद है।

सामायिकपाठ किंवा भावनाद्वात्रिंशिका :

यह अज्ञातकर्तृक रचना[1] है। इसमें ३२ श्लोक हैं।

आराहणापडाया (आराधनापताका) :

इसकी रचना वीरभद्र ने वि० सं० १०७८ में जैन महाराष्ट्री में ९९० पद्यों में की है। इसमें भत्तपरिण्णा, पिण्डनिज्जुत्ति इत्यादि की गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

आराहणाकुलय (आराधनाकुलक) :

यह नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री में ८५ पद्यों में रचा है।

संवेगरंगशाला :

इसके कर्ता सुमतिवाचक और प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि हैं। इसका उल्लेख कर्ता ने पार्श्वनाथचरित्र में तथा वि० सं० ११५८ में रचित कथारत्नकोश में किया है। इसे आराधनारत्न भी कहते हैं। इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति अबतक उपलब्ध नहीं हुई है।

आराहणासत्थ (आराधनाशास्त्र) :

संभवतः यह देवभद्र की कृति है।

---

१. माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचलिंगी :

जैन महाराष्ट्री में जिनेश्वरसूरिरचित इस कृति[1] में १०१ पद्य हैं। इसमें सम्यक्त्व के शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच लिंगों का निरूपण है।

टीकाएँ—इस पर जिनचन्द्रसूरि के शिष्य जिनपतिसूरि ने ६६०० श्लोक-परिमाण एक विवरण लिखा है। इस विवरण पर जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल ने टिप्पण लिखा है। इसके अतिरिक्त सर्वराज ने १३४८ श्लोक-परिमाण एक लघुवृत्ति लिखी है।

दंसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) :

इसे[2] सम्यक्त्वप्रकरण भी कहते हैं। इसकी रचना जयसिंह के शिष्य चन्द्रप्रभ ने जैन महाराष्ट्री के २२६ पद्यों में की है। इसमें सम्यक्त्व का अधिकार है।

टीकाएँ—इस पर विमलगणी ने वि० सं० ११८४ में १२,१०० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। ये मूल ग्रन्थ के कर्ता के शिष्य धर्मघोषसूरि के शिष्य थे।

देवभद्र ने भी इस पर चन्द्रप्रभ के शिष्य शान्तिभद्रसूरि की सहायता से एक टीका लिखी है। यह टीका ३००८ श्लोक-परिमाण है। ये देवभद्र विमलगणी के शिष्य थे।

सम्यक्त्वालङ्कार :

यह विवेकसमुद्रगणी की रचना है। इसका उल्लेख जैसलमेर के सूची-पत्र में किया गया है।

प्रतिदिनकृत्य :

यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है। इसमें श्रमणों की दैनन्दिन प्रवृत्तियों के विषय में निरूपण है।

---

१. यह कृति जिनपति के विवरण के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड' सूरत से सन् १९१९ में प्रकाशित हुई है।

२. देवभद्र की टीका के साथ यह ग्रन्थ हीरालाल हंसराज ने सन् १९१३ में छपाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइजीयकप्प (यतिजीतकल्प) :

इसकी रचना जैन महाराष्ट्री में धर्मघोषसूरि के शिष्य और २८ यमकस्तुति के प्रणेता सोमप्रभसूरि ने की है। इसमें ३०६ गाथाएँ हैं। इसकी प्रारम्भ की २४ गाथाएँ जिनभद्रगणीकृत जीतकल्प में से ली गई हैं। इसमें श्रमणों के आचार का निरूपण है।

टीकाएँ—सोमतिलकसूरि ने इस पर एक वृत्ति लिखी थी, किन्तु वह अप्राप्य है। दूसरी वृत्ति देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्न ने वि० सं० १३५६ में लिखी है। यह ५७०० श्लोक-परिमाण है। इसमें उन्होंने उपर्युक्त सोमतिलकसूरि की वृत्ति का उल्लेख किया है।

जइसामायारी (यतिसामाचारी) :

कालकसूरि के सन्तानीय और वि० सं० १४१२ में पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता श्री भावदेवसूरि ने यतिसामाचारी[1] संकलित की है। इसमें १५४ गाथाएँ हैं।[2] यह संक्षिप्त रचना है ऐसा पहली गाथा में कहा है और वह सच भी है, क्योंकि देवसूरि ने इसी नाम की जो कृति रची है वह विस्तृत है। इन्हीं भावदेवसूरि ने अलंकारसार भी लिखा है।

उत्तराध्ययन एवं ओघनिर्युक्ति में सामाचारी दी गई है, परन्तु उसमें विहार आदि की भी बातें आती हैं, जबकि प्रस्तुत कृति जैन साधुओं की दिनचर्या पर—प्राभातिक जागरण से लेकर संस्तारक तक की विधि पर्यन्त की उनकी प्रवृत्तियों पर—प्रकाश डालती है।

टीका—इस पर मतिसागरसूरि ने संस्कृत में संक्षिप्त व्याख्या—अवचूरि लिखी है। यह ३५०० श्लोक-परिमाण है। इसके प्रारम्भ में चार श्लोक हैं, अवशिष्ट सम्पूर्ण टीका गद्य में है। इस कृति में कुछ अवतरण भी आते हैं।

---

१. यह नाम पहली गाथा में दिया गया है, जबकि अन्तिम गाथा में 'जइदिणचरिया' ऐसा नाम आता है। पंचासग' के बारहवें पंचासग का नाम भी जइसामायारी है। यह 'यतिदिनचर्या' के नाम से मतिसागरसूरिकृत व्याख्या के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने सन् १९३६ में प्रकाशित की है।

२. इसका ग्रन्थाग्र १९२ श्लोक-परिमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिंडविसुद्धि (पिण्डविशुद्धि) :

यह जैन महाराष्ट्री में १०३ पद्यों की कृति[1] है। इसे 'पिंडविसोहि' भी कहते हैं। इसके रचयिता जिनवल्लभसूरि ने इसमें आहार की गवेषणा के ४२ दोषों का निर्देश करके उन पर विचार किया है।

टीकाएँ—इस पर 'सुबोधा' नाम की २८०० श्लोक-परिमाण एक टीका श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने वि० सं० ११७६ में लिखी है। अजितप्रभसूरि ने भी एक टीका लिखी है। श्रीचन्द्रसूरि ने वि० सं ११७८ में एक वृत्ति लिखी है। उदयसिंह ने 'दीपिका' नामकी ७०३ श्लोक-परिणाम एक अन्य टीका वि. सं. १२९५ में लिखी है। ये श्रीप्रभ के शिष्य माणिक्यप्रभ के शिष्य थे। यह टीका उपर्युक्त सुबोधा के आधार पर रची गई है। इसके अतिरिक्त अन्य एक अज्ञात-कर्तृक दीपिका नाम की टीका भी है। इस मूल कृति पर रत्नशेखरसूरि के शिष्य संवेगदेवगणी ने वि० सं० १५१३ में एक बालावबोध लिखा है।

सड्ढजीयकप्प (श्राद्धजीतकल्प) :

यह देवेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि ने वि० सं० १३५७ में लिखा है। इसमें १४१ तथा किसी-किसी के मत से २२५ पद्य हैं। इसमें श्रावकों की प्रवृत्तियों का विचार किया गया है।

टीकाएँ—इस पर सोमतिलकसूरि ने २५४७ श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त इस पर अज्ञातकर्तृक एक अवचूरि भी है।

१. सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) :

जैन महाराष्ट्री में रचित ३४४ पद्यों की यह कृति जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि की रचना है। इसमें श्रावकों के दैनन्दिन कृत्यों के विषय में विचार किया गया है।

टीका—इस पर १२८२० श्लोक-परिमाण एक स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी है।

२. सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) :

'**वीरं नमे (मि) ऊण तिलोयभाणु**' से शुरू होनेवाली और जैन महाराष्ट्री के ३४१ पद्यों में लिखी गई यह कृति[2] उपर्युक्त 'सड्ढदिणकिच्च' है या अन्य,

१. यह ग्रन्थ श्रीचन्द्रसूरि की वृत्ति के साथ 'विजयदान ग्रन्थमाला' सूरत से सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है।

२. रामचन्द्रगणी के शिष्य आनन्दवल्लभकृत हिन्दी बालावबोध के साथ यह ग्रन्थ सन् १८७६ में 'बनारस जैन प्रभाकर' मुद्रणालय में छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह विचारणीय है। इसकी गाथा २ से ७ में श्रावक के अट्ठाईस कर्तव्य गिनाये गये हैं। जैसे कि—१. नवकार' गिनकर श्रावक का जागृत होना, २. मैं श्रावक हूँ, यह बात याद रखना, ३. अणुव्रत आदि कितने व्रत लिये हैं इसका विचार करना, ४. मोक्ष के साधनों का विचार करना। इसके पश्चात् उपर्युक्त २८ कर्तव्यों का निरूपण किया गया है।

बालावबोध—इस पर रामचन्द्रगणी के शिष्य आनन्दवल्लभ ने वि० सं० १८८२ में एक बालवबोध लिखा है।

सड्ढविहि (श्राद्धविधि) :

जैन महाराष्ट्री में विरचित सत्रह पद्यों की इस कृति[1] के रचयिता सोमसुन्दरसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि हैं। इसमें दिवस, रात्रि, पर्व, चातुर्मास, संवत्सर और जन्म–इन छः बातों के विषय में श्रावकों के कृत्यों की रूपरेखा दी गई है।

टीकाएँ—इस पर 'विधिकौमुदी' नाम की स्वोपज्ञ वृत्ति वि० सं० १५०६ में लिखी गई है। यह विविध कथाओं से विभूषित है। इसके प्रारम्भ में ९०० श्लोकों की संस्कृत कथा भद्रता आदि गुण समझाने के लिए दी गई है। आगे थावच्चा (स्थापत्या) पुत्र की और रत्नसार की कथाएँ आती हैं।

इस वृत्ति में श्रावक के इक्कीस गुण तथा मूर्ख के सौ लक्षण आदि विविध बातें आती हैं। भोजन की विधि व्यवहारशास्त्र के अनुसार पचीस संस्कृत श्लोकों में दी गई है और इसके अनन्तर आगम आदि में से अवतरण दिये गये हैं। इस विधिकौमुदी में निम्नलिखित व्यक्तियों आदि के दृष्टान्त (कथानक) आते हैं :

गाँव का कुलपुत्र, सुरसुन्दरकुमार की पाँच पत्नियाँ, शिवकुमार, बरगद की चील (राजकुमारी), अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य, दशार्णभद्र, चित्रकार, कुन्तला रानी, धर्मदत्त नृप, साँड़नी, प्रदेशी राजा, जीर्ण श्रेष्ठी, भावड

---

१. यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७४ में प्रकाशित की है। मूल एवं विधिकौमुदी टीका के गुजराती अनुवाद के साथ यह देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९५२ में छापी है। यह गुजराती अनुवाद विक्रमविजयजी तथा भास्करविजयजी ने किया है। इसकी प्रस्तावना (पृ० ३) से ज्ञात होता है कि अन्य तीन गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेष्ठी, आभड श्रेष्ठी, सेठ की पुत्री, दो मित्र, हेलाक श्रेष्ठी, विश्व मेरा (विजयपाल), महणसिंह, धनेश्वर, देव और यशःश्रेष्ठी, सोम नृप, रंक श्रेष्ठी, बुढ़िया, मंथर कोयरी, धन्य श्रेष्ठी, धनेश्वर श्रेष्ठी, धर्मदास, द्रमक मुनि, दण्डवीर्य नृप, लक्ष्मणा साध्वी और उदायन नृपति।

विषयनिग्रहकुलक :

यह अज्ञातकर्तृक कृति है। इसमें इन्द्रियों को संयम में रखने का उपदेश दिया गया है।

टीका—इसपर वि० सं० १३३७ में भालचन्द्र ने १०, ००८ श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है।

प्रत्याख्यानसिद्धि :

यह अज्ञातकर्तृक कृति है।

टीकाएँ—इसपर ७०० श्लोक-परिमाण एक विवरण सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जयचन्द्र ने लिखा है। जिनप्रभसूरि ने भी एक विवरण लिखा है। इसके अलावा इसपर किसी ने १५०० श्लोक-परिमाण टीका भी लिखी है।

आचारप्रदीप :

४०६५ श्लोक-परिमाण यह कृति[1] मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि ने वि० सं० १५१६ में रची है। इनका जन्म वि० सं० १४५७ या १४५२ में हुआ था। इन्होंने दीक्षा वि० सं० १४६३ में ग्रहण की और पण्डित पद १४८३ में, वाचकपद १४९३ में तथा सूरिपद १५०२ में प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास वि० सं० १५१७ में हुआ था। साधुरत्नसूरि इनके प्रतिबोधक गुरु तथा भुवनसुन्दरसूरि विद्यागुरु थे।

रत्नशेखरसूरि ने वि० सं० १४९६ में अर्थदीपिका अर्थात् श्राद्धप्रतिक्रमण-वृत्ति और वि० सं० १५०६ में सड्ढाविहि (श्राद्धविधि) और उसकी वृत्ति लिखी

---

१. यह ग्रन्थ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९२७ में प्रकाशित किया है। इसमें आनन्दसागरसूरि का संस्कृत उपोद्घात एवं अवतरणों का अनुक्रम दिया गया है। इसका प्रथम प्रकाश, प्राकृत विभाग की संस्कृत-छाया एवं गुजराती अनुवाद खेड़ा की जैनोदय सभा ने वि० सं० १९५८ में छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। श्राद्धविधिवृत्ति का उल्लेख श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति में और आचारप्रदीप का उल्लेख श्राद्धविधिवृत्ति में आता है। इसका कारण आचारप्रदीप के उपोद्घात (पत्र २ आ तथा ३ अ) में ऐसा लिखा है कि विषय पहले से निश्चित किये गये होंगे और ग्रन्थरचना बाद में हुई होगी, परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ लिखे जाने के पश्चात् कालान्तर में उसमें अभिवृद्धि की गई होगी और उसी के परिणामस्वरूप यह स्थिति पैदा हुई होगी।

प्रस्तुत कृति पाँच प्रकाशों में विभक्त है। उनमें क्रमशः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—आचार के इन पाँच भेदों का, प्रत्येक के उपभेदों के साथ, निरूपण किया है।[1] साथ ही इसमें विविध कथानक[2] तथा संस्कृत एवं प्राकृत उद्धरण दिये गये हैं। अन्त में पन्द्रह श्लोकों की प्रशस्ति है। इसके प्रथम प्रकाश का गुजराती अनुवाद रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री ने किया और वह छपा भी है।

चरित्रसार :

अजितसेन के शिष्य ने इसकी रचना की है।

चारित्रसार किंवा भावनासारसंग्रह :

१७०० श्लोक-परिमाण यह कृति[3] चामुण्डराज अपर नाम रणरंगसिंह ने लिखी है। ये जिनसेन के शिष्य थे।

---

१. यह विषय निशीथ के भाष्य एवं चूर्णि तथा दशवैकालिक की निर्युक्ति में आता है।

२. पृथ्वीपाल नृप के कथानक में समस्याएँ तथा गणित के उदाहरण दिये गये हैं। लेखक ने इनके विषय में 'राजकन्याओनी परीक्षा' और 'राजकन्याओनी गणितनी परीक्षा' इन दो लेखों में विचार किया है। पहला लेख 'जैनधर्मप्रकाश' (पु० ७५, अंक २-३-४) में छपा है। गणित के विषय में अंग्रेजी में भी लेखक ने एक लेख लिखा है जो Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. (Vol. xviii) में छपा है।

२. यह कृति मणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में वीर-संवत् २४४३ में प्रकाशित हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुपारतंतथोत्त (गुरुपारतंत्र्यस्तोत्र) :

अपभ्रंश के २१ पद्यों में रचित इस कृति[1] के रचयिता जिनदत्तसूरि हैं। इसे सुगुरुपारतंत्र्यस्तोत्र, स्मरणा और मयरहियथोत्त भी कहते हैं। इसमें कतिपय मुनिवरों का गुणोत्कीर्तन है। उदाहरणार्थ—सुधर्मस्वामी, देवसूरि, नेमिचन्द्र-सूरि, उद्योतनसूरि इत्यादि।

टीकाएँ—जयसागरगणी ने वि० सं० १३५८ में इस पर एक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त धर्मतिलक ने, समयसुन्दरगणी ने तथा अन्य किसी ने भी एक-एक टीका लिखी है। समयसुन्दरगणी की टीका 'सुखावबोधा' प्रकाशित भी हो चुकी है।

धर्मलाभसिद्धि :

यह हरिभद्रसूरि ने लिखी है, ऐसा गणहरसद्धयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिकृत टीका में उल्लेख है। यह कृति अभी तक अनुपलब्ध है। ●

---

१. यह स्तोत्र संस्कृत-छाया के साथ 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' में एक परिशिष्ट के रूप में सन् १९२७ में छपा है। इसके अतिरिक्त समयसुन्दरगणी की सुखावबोधा नाम की टीका के साथ यह सप्तस्मरणस्तव में 'जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार' ने सन् १९४२ में छपवाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ प्रकरण

विधि-विधान, कल्प, मंत्र, तंत्र, पर्व और तीर्थ

पूजाप्रकरण :

इसे पूजाविधि-प्रकरण[1] भी कहते हैं। इसके कर्ता वाचक उमास्वाति हैं ऐसा कई मानते हैं। १९ श्लोक की यह कृति मुख्यतया अनुष्टुप् छन्द में है। इसमें गृहचैत्य (गृह-मन्दिर) कैसी भूमि में बनाना चाहिये, देव की पूजा करने वाले को किस दिशा या किस विदिशा से पूजा करनी चाहिए, पुष्प-पूजा के लिये कौन से और कैसे पुष्पों का उपयोग करना चाहिये, वस्त्र कैसे होने चाहिए इत्यादि बातों का विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त नौ अंग की पूजा, अष्टप्रकारी पूजा तथा इक्कीस प्रकार की पूजा के ऊपर भी प्रकाश डाला गया है।

दशभक्ति :

'भक्ति' के नाम से प्रसिद्ध कृतियाँ दो प्रकार की मिलती हैं : १. जैन शौरसेनी में रचित और २. संस्कृत में रचित। प्रथम प्रकार[2] की कृतियों के

---

१. बंगाल की 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' द्वारा वि० सं० १९५९ में प्रकाशित सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के द्वितीय परिशिष्ट के रूप में यह कृति छपी है। उसमें जो पाठान्तर दिये गये हैं उनमें पन्द्रहवें श्लोक के स्थान पर सम्पूर्ण पाठान्तर है। इसका श्री कुँवरजी आनन्दजीकृत गुजराती अनुवाद 'श्री जम्बूद्वीपसमास भाषान्तर पूजा-प्रकरण भाषान्तरसहित' नाम से जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर ने वि० सं० १९९५ में प्रकाशित किया है।

२. इस प्रकार की भत्ति (भक्ति) प्रभाचन्द्र की क्रियाकलाप नामक संस्कृत टीका तथा पं० जिनदास के मराठी अनुवाद के साथ सोलापुर से सन् १९२१ में प्रकाशित हुई है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की भक्ति 'दश-भक्त्यादिसंग्रह' में संस्कृत अन्वय एवं हिन्दी अन्वय तथा भावार्थ के साथ 'अखिल विश्व जैन मिशन' ने सलाल (साबरकांठा) से वीर-संवत् २४८१ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य हैं, तो दूसरी के पूज्यपाद—ऐसा प्रभाचन्द्र ने सिद्धभक्ति (गाथा १२) की क्रियाकलाप नाम की टीका (पृ० ६१) में कहा है, परन्तु दोनों प्रकार की कृतियाँ कितनी-कितनी हैं इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

१. **सिद्धभत्ति (सिद्धभक्ति)**—इसमें बारह पद्य हैं ऐसा प्रभाचन्द्र की टीका देखने पर ज्ञात होता है। इस भक्ति में कहाँ-कहाँ से और किस-किस रीति से जीव सिद्ध हुए हैं यह कह कर उन्हें वन्दन किया गया है। इसमें सिद्धों के सुख एवं अवगाहन के विषय में उल्लेख है। अन्त में आलोचना आती है।

२. **सुदभत्ति (श्रुतभक्ति)**—इसमें बारह अंगों के नाम देकर दृष्टिवाद के भेद एवं प्रभेदों के विषय में निर्देश किया गया है।

३. **चारित्तभत्ति (चारित्रभक्ति)**—इसमें दस पद्य हैं। इसमें चारित्र के सामायिक आदि पाँच प्रकार तथा साधुओं के मूल एवं उत्तर गुणों का निर्देश किया गया है।

४. **अणगारभत्ति (अनगारभक्ति)**—२३ पद्यों की इस कृति को 'योगिभक्ति' भी कहते हैं। इसमें सच्चे श्रमण का स्वरूप, उनके सद्‌गुणों को दो-तीन से लेकर चौदह तक के समूह द्वारा, स्पष्ट किया गया है। उनकी तपश्चर्या एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की लब्धियों का यहाँ उल्लेख किया गया है। इस कृति में गुणधारी अनगारों का संकीर्तन है।

५. **आयरियभत्ति (आचार्यभक्ति)**—इसमें दस पद्य हैं। इसमें आदर्श आचार्य का स्वरूप बतलाया है। उन्हें क्षमा में पृथ्वी के समान, प्रसन्न भाव में स्वच्छ जल जैसे, कर्मरूप बन्धन को जलाने में अग्नि तुल्य, वायु की भाँति निःसंग, आकाश की तरह निर्लेप और सागरसम अक्षोभ्य कहा है।

६. **पंचगुरुभत्ति (पंचगुरुभक्ति)**—सात पद्यों की इस कृति को 'पंचपरमेट्ठि-भत्ति' भी कहते हैं। इसमें अरिहन्त आदि पाँच परमेष्ठियों का स्वरूप बतला कर उन्हें नमस्कार किया गया है। इसमें पहले के छः पद्य स्रग्विणी छन्द में और अन्तिम आर्या में है।

७. **तित्थयरभत्ति (तीर्थंकरभक्ति)**—इसमें[1] आठ पद्य हैं। इसमें ऋषभदेव

१. दशभक्त्यादिसंग्रह पृ० १२-३ में यह भक्ति आती है, किन्तु वहाँ इसका 'भत्ति' के रूप में निर्देश नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से लेकर महावीरस्वामी तक के चौबीस तीर्थंकरों का संकीर्तन है। यह श्वेताम्बरों के 'लोगस्स सुत्त' के साथ मिलती-जुलती है।

८. निव्वाणभत्ति (निर्वाणभक्ति)—इसमें २७ पद्य हैं। इसमें ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर, बलभद्र और कई मुनियों के नाम देकर उनकी निर्वाण-भूमि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह भौगोलिक दृष्टि से तथा पौराणिक मान्यता की अपेक्षा से महत्त्व की कृति है[1]।

टीका—उपर्युक्त आठ भक्तियों में से प्रथम पाँच पर प्रभाचन्द्र की क्रियाकलाप नाम की टीका है। इन पाँचों के अनुरूप संस्कृत भक्तियों पर तथा निर्वाणभक्ति एवं नन्दीश्वरभक्ति पर भी इनकी टीका है। इतर भक्तियों के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हैं अथवा अन्य कोई, इसका निर्णय करना अवशिष्ट है। यही बात दूसरी संस्कृत भक्तियों पर भी लागू होती है।

दशभक्त्यादिसंग्रह में निम्नलिखित बारह भक्तियाँ प्राकृत कण्डिका एवं क्षेपक श्लोक सहित या रहित तथा अन्वय, हिन्दी अन्वयार्थ और भावार्थ के साथ देखी जाती हैं—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्यभक्ति। इनके पद्यों की संख्या क्रमशः १० (९ + १), ३० १०, ८, ११, ११, ५, १५, १८, ३०, ६० और ३५ है।

१. **सिद्धभक्ति**—इसमें सिद्ध के गुण, सुख, अवगाहना आदि बातें आती हैं। साथ ही, जैन दृष्टि से मुक्ति और आत्मा का स्वरूप भी बतलाया है।

२. **श्रुतभक्ति**—इसमें पाँच ज्ञान की स्तुति की गई है। केवलज्ञान को छोड़कर शेष ज्ञानों के भेद-प्रभेद एवं दृष्टिवाद के पूर्व आदि विभागों का निरूपण है।

३. **चारित्रभक्ति**—इसमें ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों की स्पष्टता की गई है।

४. **योगिभक्ति**—इसमें मुनियों के वनवास एवं विविध ऋतुओं में परीषहों के सहन की बातों का वर्णन है।

---

१. इन आठों भक्तियों का सारांश अंग्रेजी में प्रवचनसार की प्रस्तावना (पृ० २६-२८) में डा० उपाध्ये ने दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **आचार्यभक्ति**—इसमें आचार्य के गुणों का वर्णन है।

६. **पंचगुरुभक्ति**—इसमें पाँच परमेष्ठियों की रूपरेखा का आलेखन है।

७. **तीर्थंकरभक्ति**—इसमें ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नाम आते हैं।

८. **निर्वाणभक्ति**—इसमें महावीरस्वामी के पाँच कल्याणकों का वर्णन है।

९. **शान्तिभक्ति**—इसमें शान्तिप्राप्ति, प्रभुस्तुति का फल, शान्तिनाथ को वन्दन, आठि प्रातिहार्यों के नाम इत्यादि बातें वर्णित हैं।

१०. **समाधिभक्ति**—इसमें सर्वज्ञ के दर्शन, संन्यासपूर्वक मृत्यु एवं परमात्मा की भक्ति की इच्छा के विषय में उल्लेख है।

११. **नन्दीश्वरभक्ति**—इसमें त्रैलोक्य के चैत्यालयों एवं नन्दीश्वर द्वीप के विषय में जानकारी दी गई है।

१२. **चैत्यभक्ति**—इसमें विविध जिन-चैत्यालयों और प्रतिमाओं का कीर्तन एवं जिनेश्वर को महानद की दी गई सांगोपांग उपमा इत्यादि बातें आती हैं।

आवश्यकसप्तति :

इसे पाक्षिक-सप्तति भी कहते हैं। यह मुनिचन्द्रसूरि की रचना है।

सुखप्रबोधिनी :

यह वादी देवसूरि के शिष्य महेश्वरसूरि ने लिखी है। इस कार्य में उन्हें वज्रसेनगणी ने सहायता की थी।

सम्मत्तुपायणविहि (सम्यक्त्वोत्पादनविधि) :

यह कृति मुनिचन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री के २९५ पद्यों में लिखी है। इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख जिनरत्नकोश में नहीं है।

पच्चक्खाणसरूव (प्रत्याख्यानस्वरूप) :

३२९ गाथाओं[१] की इस कृति[२] की रचना यशोदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री में वि० सं० ११८२ में की है। ये वीरगणी के शिष्य चन्द्रसूरि के शिष्य थे। इसमें

---

१. जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० २६३) में जो ३६० गाथाओं का उल्लेख है वह भ्रान्त प्रतीत होता है।

२. चार सौ श्लोक-परिमाण यह कृति सारस्वतविभ्रम, दानषट्त्रिंशिका विसेसणवई (विशेषणवती) तथा बीस विंशिकाओं के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने सन् १९२७ में प्रकाशित की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ में प्रत्याख्यान के पर्याय दिये गये हैं। इसमें अद्धा-प्रत्याख्यान का विस्तृत निरूपण है। इसमें १. प्रत्याख्यान लेने की विधि, २. तद्विषयक विशुद्धि, ३. सूत्र की विचारणा, ४. प्रत्याख्यान के पारने की विधि, ५. स्वयं पालन और ६. प्रत्याख्यान का फल—ये छः बातें अनुक्रम से उपस्थित की गई हैं। इस प्रकार इसमें छः द्वारों का वर्णन आता है। तीसरे द्वार में नमस्कार सहित पौरुषी, पुरिमार्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, अभक्तार्थ, चरम, देशावकाशिक, अभिग्रह और विकृति—इन दस का अर्थ समझाया है। बीच-बीच में नमस्कारसहित प्रत्याख्यान के दूसरे सूत्र भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त दान एवं प्रत्याख्यान के फल के विषय में दृष्टान्त भी आते हैं।

३२८ वीं गाथा में आये हुए निर्देश के अनुसार प्रस्तुत कृति की रचना आवश्यक, पंचाशक और पणवत्थु (पंचवत्थुग) के विवरण के आधार पर की गई है।

टीका—इस पर ५५० पद्यों की एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति है।

संघपट्टक :

जिनवल्लभगणी ने विविध छन्दों के ४० पद्यों में इसकी[1] रचना की है। इसमें उन्होंने नीति एवं सदाचार के विषय में निरूपण किया है। यह चित्तौड़ के महावीर जिनालय के एक स्तम्भ पर खुदवाया गया है। इसका ३८ वाँ पद्य षडरचक्रबन्ध से विभूषित है।

टीकाएँ—जिनपतिसूरि ने इस पर ३६०० श्लोक-परिमाण एक बृहट्टीका लिखी है। इस टीका के आधार पर हंसराजगणी ने एक टीका लिखी है। लक्ष्मीसेन ने वि० सं० १३३३ में ५०० श्लोक-परिमाण एक लघुटीका लिखी है। ये हम्मीर के पुत्र थे। इसके अतिरिक्त साधुकीर्ति ने भी इस पर एक टीका लिखी है।

इस पर तीन वृत्तियाँ भी उपलब्ध हैं, जिनमें से एक के कर्ता जिनवल्लभगणी के शिष्य और दूसरी के विवेकरत्नसूरि हैं। तीसरी अज्ञातकर्तृक है। देवराज ने वि० सं० १७१५ में इस पर एक पंजिका भी लिखी है।

---

१. यह कृति 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के परिशिष्ट के रूप में सन् १९२७ में छपी है। इससे पहले जिनपतिसूरि की बृहट्टीका एवं किसी के गुजराती अनुवाद के साथ बालाभाई छगनलाल ने सन् १९०७ में यह छपवाई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुट्ठाणविहि (अनुष्ठानविधि) अथवा सुहबोहसामायारी (सुखबोध-सामाचारी) :

धनेश्वरसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री में मुख्यतया गद्य में इसकी[1] रचना की है। सूरि जी ने मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं।

अवतरणों से युक्त प्रस्तुत कृति १३८६ श्लोक-परिमाण है। इसके प्रारम्भ में चार पद्य हैं। आद्य पद्य में महावीरस्वामी को नमस्कार करके अनुष्ठानविधि कहने की प्रतिज्ञा की है। इसके बाद के तीन पद्यों में इस कृति के बीस द्वारों के नाम दिये गये हैं। उनमें निम्नांकित विषयों का निरूपण आता है :

सम्यक्त्वारोपण एवं व्रतारोपण की विधि, षाण्मासिक सामायिक, दर्शनादि प्रतिमाएँ, उपधान की विधि[2], उपधान प्रकरण, मालारोपण की विधि, इन्द्रियजय आदि विविध तप[3], आराधना, प्रव्रज्या, उपस्थापना एवं लोंच की विधि, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण, आचार्य, उपाध्याय एवं महत्तरा—इन तीन पदों की विधि, गण की अनुज्ञा, योग, अचित्त परिष्ठापना और पौषध की विधि, सम्यक्त्व आदि की महिमा तथा प्रतिष्ठा[4], ध्वजारोपण और कलशारोपण की विधि।

प्रस्तुत कृति का उल्लेख जइजीयकप्प (यतिजीतकल्प) की वृत्ति में साधुरत्नसूरि ने किया है।

सामाचारी :

तिलकाचार्य की यह कृति[5] मुख्यतः संस्कृत गद्य में रचित है। ये श्री चन्द्रप्रभसूरि के वंशज और शिवप्रभ के शिष्य थे। १४२१ श्लोक-परिमाण इस

---

१. यह कृति सुबोधा-सामाचारी के नाम से देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९२२ में छपवाई है।

२. किसी ने ५३ गाथाओं का जैन महाराष्ट्री में यह प्रकरण लिखा है। इसका प्रारम्भ 'पंचनमोक्कारे किल' से होता है।

३. सैंतीस प्रकार के तप का स्वरूप संस्कृत में दिया गया है। इसमें मुकुटसप्तमी आदि का भी निरूपण है।

४. विविधप्रतिष्ठाकल्प के आधार पर इसकी योजना की गई है ऐसा अन्त में कहा है।

५. यह कृति प्रकाशित है। इसकी एक ताडपत्रीय हस्तलिखित प्रति वि० सं० १४०९ की मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति के प्रारम्भ में एक और अन्त में प्रशस्ति के रूप में छः श्लोक हैं। पहले श्लोक में सम्यग्दर्शननन्दी इत्यादि की विधिरूप-सामाचारी का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसके पश्चात् इसमें निम्नलिखित विषयों को स्थान दिया गया है:

देशविरति-सम्यक्त्वारोपनन्दी की विधि, केवल देशविरतिनन्दी की विधि, श्रावकों के व्रतों के करोड़ों भंगों के साथ श्रावक के व्रत और अभिग्रहों के प्रत्याख्यान की विधि, उपासक की प्रतिमा की नन्दी की विधि, उपासक की प्रतिमाओं के अनुष्ठापन की विधि, उपधान की नन्दी की विधि, उपधान की विधि, मालारोपण की नन्दी की विधि, सामायिक और पौषध लेने की तथा इन दोनों के पारने की विधि, पौषधिक दिनकृत्य की विधि, बत्तीस प्रकार के तप का कुलक, तप के यन्त्र, कल्याणक, श्रावक के प्रायश्चित्तों का यन्त्र, प्रव्रज्या की विधि, लोंच की विधि, उपस्थापना की विधि, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण से गर्भित साधु-दिनचर्या, योग के उत्क्षेप और निक्षेपपूर्वक योगनन्दी की विधि, योग के अनुष्ठान की विधि, योग के तप की विधि, योगक्षमाश्रमण की विधि, योग के कल्प्याकल्प्य की विधि, गणी और योगी के उपहनन की विधि, अनध्याय की विधि, कालग्रहण की विधि, वसति और काल के प्रवेदन की विधि, स्वाध्याय के प्रस्थापन की विधि, कालमण्डलप्रतिलेखन की विधि, वाचनाचार्य के स्थापन की तथा उसके विद्यायन्त्रलेखन की विधि, आचार्य और उपाध्याय की प्रतिष्ठा की विधि और महत्तरा के स्थापन की विधि।

प्रसंगवश इस ग्रन्थ में वर्धमान विद्या, संस्कृत में छः श्लोकों का चैत्य-वन्दन, मिथ्यात्व के हेतुओं का निरूपण करनेवाली आठ गाथाएँ, उपधान-विधिविषयक पैंतालीस गाथाएँ, तप के बारे में पच्चीस गाथाओं का कुलक, संस्कृत के छत्तीस श्लोकों में रोहिणी की कथा, तेंतीस आगमों के नाम आदि बातें भी आती हैं।

प्रश्नोत्तरशत किंवा सामाचारीशतक :

इसके[1] कर्ता सोमसुन्दरगणी हैं। इसमें सौ अधिकार आते हैं और वे पाँच प्रकाशों में विभक्त हैं। इन प्रकाशों के अधिकारों की संख्या ३७, ११,

---

१. यह ग्रन्थ सामाचारीशतक के नाम से 'जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार' ने सन् १९३९ में प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३, २७ और १२ हैं। इसके प्रारम्भ में दस श्लोक और अन्त में प्रशस्ति के रूप में आठ श्लोक हैं। मुख्यरूप से यह ग्रन्थ गद्य में है। इस ग्रन्थ के द्वारा खरतरगच्छविषयक जानकारी हमें उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ की मुद्रित आवृत्ति में अधिकार के अनुसार विषयानुक्रम दिया गया है। इस प्रकार सौ अधिकारों के बारे में जो जानकारी प्रस्तुत की गई है उसमें से कुछ इस प्रकार है :

'करेमि भंते' के बाद ईर्यापथिकी, पर्व के दिन ही पौषध का आचरण, महावीरस्वामी के छः कल्याणक, अभयदेवसूरि के गच्छ के रूप में खरतर का उल्लेख, साधुओं के साथ साध्वियों के विहार का निषेध, द्विदलविचार, तरुण स्त्री को मूल-प्रतिमा के पूजन का निषेध, श्रावकों को ग्यारह प्रतिमा वहन करने का निषेध, श्रावण अथवा भाद्रपद अधिक हो तो पर्युषण पर्व कब करना, सूरि को ही जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा का अधिकार, तिथि की वृद्धि में आद्य तिथि का स्वीकार, कार्तिक दो हों तो प्रथम कार्तिक में चातुर्मासादिक प्रतिक्रमण, जिन प्रतिमा का पूजन, योगोपधान की विधि, चतुर्थी के दिन पर्युषण, जिनवल्लभ, जिनदत्त एवं जिनपति इन सूरियों की सामाचारी, पदस्थों की व्यवस्था, लोंच, अस्वाध्याय, गुरु के स्तूप की प्रतिष्ठा की, श्रावक के प्रतिक्रमण की, पौषध लेने की, दीक्षा देने की और उपधान की विधि, साध्वी को कल्पसूत्र पढ़ने का अधिकार, विंशतिस्थानक तप की और शान्ति की विधि।

पडिक्कमणसामायारी (प्रतिक्रमणसामाचारी) :

यह जिनवल्लभगणी की जैन महाराष्ट्री में रचित ४० पद्यों की कृति है। इसमें प्रतिक्रमण के बारे में विचारणा की गई है। यह सामाचारीशतक (पत्र १३७ अ-१३८ आ) में उद्धृत की गई है।

सामायारी (सामाचारी) :

जैन महाराष्ट्री में विरचित ३० पद्यों की इस कृति के रचयिता जिनदत्तसूरि हैं। यह उपर्युक्त सामाचारीशतक (पत्र १३८ आ-१३९ आ) में उद्धृत की गई है। इसमें मूल-प्रतिमा की पूजा का स्त्री के लिए निषेध इत्यादि बातें आती हैं।

१ पोसहविहिपयरण (पौषधविधिप्रकरण) :

यह भी उपर्युक्त जिनवल्लभगणी की कृति है। इसका सारांश पन्द्रह पद्यों में जिनप्रभसूरि ने विहिमग्गप्पवा (विधिमार्गप्रपा) के पृ० २१-२२ में दिया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसके चौदहवें पद्य में जिनवल्लभसूरिकृत 'पोसहविहिपयरण' देखने का निर्देश किया है। इसमें पौषध की विधि का विचार किया गया है।

टीका—इस पर जिनमाणिक्यसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि ने वि० सं० १६१७ में ३५५५ श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है।

पोसहविहिपयरण (पौषधविधिप्रकरण) :

जैन महाराष्ट्री में देवभद्ररचित इस कृति में ११८ पद्य हैं। इसी नाम की एक कृति चक्रेश्वरसूरि ने ९२ पद्यों में लिखी है। इन दोनों का विषय पौषध की विधि की विचारणा है।

पोसहियपायच्छित्तसामायारी (पौषधिकप्रायश्चित्तसामाचारी) :

अज्ञातकर्तृक इस कृति में जैन महाराष्ट्री में १० पद्य हैं।

टीका—इस पर तिलकाचार्य ने एक वृत्ति लिखी है।

सामायारी (सामाचारी) :

यह जिनदत्तसूरि के प्रशिष्य जिनपतिसूरि ने जैन महाराष्ट्री के ७९ पद्य में लिखी है। यह सामाचारीशतक (पत्र १३९ आ–१४१ आ) में उद्धृत की गई है।

विहिमग्गप्पवा (विधिमार्गप्रपा):

जिनप्रभसूरि ने प्रायः[3] जैन महाराष्ट्री में कोसल (अयोध्या) में वि० सं० १३६३ में इसकी[2] रचना की थी। यह ३५७५ श्लोक-परिमाण है। 'विधिमार्ग' खरतरगच्छ का नामान्तर है। इस प्रकार इस कृति में खरतरगच्छ के अनुयायियों के विधि-विधान का निर्देश है। यह रचना प्रायः गद्य में है। प्रारम्भ के पद्य में कहा है कि यह श्रावकों एवं साधुओं की सामाचारी है। अन्त में सोलह पद्यों की प्रशस्ति है। इसके पहले के छः पद्यों में प्रस्तुत कृति जिन ४१ द्वारों में विभक्त है उनके नाम आते हैं और तेरहवें पद्य के द्वारा कर्ता ने सरस्वती एवं पद्मावती से श्रुत की ऋद्धि समर्पित करने की प्रार्थना की है। उपर्युक्त ४१ द्वारों में अधोलिखित विषयों को स्थान दिया गया है :

---

१. मुद्राविधि नामक ३७वें द्वार का निरूपण (पृ० ११४–६) संस्कृत में है।

२. यह 'जिनदत्तसूरि भण्डार ग्रन्थमाला' में सन् ११४१ में प्रकाशित हुई है। इसका प्रथमादर्श कर्ता के शिष्य उदयाकरगणी ने लिखा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सम्यक्त्वारोपण की विधि, २. परिग्रह के परिमाण की विधि, ३. सामायिक के आरोपण की विधि, ४. सामायिक लेने और पारने की विधि, ५. उपधान-निक्षेपण की विधि, ६. उपधान-सामाचारी, ७. उपधान की विधि, ८. मालारोपण की विधि, ९. पूर्वाचार्यकृत उवहाणपइट्ठापंचाशय[1] (उपधान-प्रतिष्ठापंचाशक), १०. पौषध की विधि, ११. दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि, १२. पाक्षिक प्रतिक्रमण की विधि, १३. रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि, १४. तप[2] की विधि, १५. नन्दी की रचना की विधि, १६. प्रव्रज्या की विधि, १७. लोंच करने की विधि, १८. उपयोग की विधि, १५. आद्य अटन की विधि, २०. उपस्थापना की विधि, २१. अनध्याय की विधि, २२. स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि, २३. योग-निक्षेप की विधि, २४. योग की विधि, २५. कल्प-तिप्प सामाचारी, २६. याचना की विधि, २७. वाचनाचार्य की प्रस्थापना की विधि, २८. उपाध्याय की प्रस्थापना की विधि, २९. आचार्य[3] की प्रस्थापना की विधि, ३०. प्रवर्तिनी और महत्तरा की प्रस्थापना की विधि, ३१. गण की अनुज्ञा की विधि, ३२. अनशन की विधि[4], ३३. महापारिष्ठापनिका[5] की विधि, ३४. प्रायश्चित्त की विधि, ३५. जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा की विधि, ३६. स्थापनाचार्य की प्रतिष्ठा-विधि, ३७. मुद्रा-विधि, ३८. चौसठ योगिनियों के नामोल्लेख के साथ उनका उपशम-प्रकार, ३९. तीर्थयात्रा की विधि, ४०. तिथि की विधि और ४१. अंगविद्या-सिद्धि की विधि ।

इन द्वारों में निरूपित विषयों के तीन विभाग किये जा सकते हैं। १ से १२ द्वारों में आनेवाले विषय मुख्यरूप से श्रावक के जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं, १३ से २९ तक के विषयों का मुख्य सम्बन्ध साधु-जीवन के साथ है, जबकि ३० से ४१ तक के विषयों का सम्बन्ध श्रावक एवं साधु दोनों के जीवन से है।

---

१. इसमें ५१ पद्य जैन महाराष्ट्री में हैं।
२. इसमें अनेक प्रकार के तपों के नाम आते हैं। मुकुट-सप्तमी आदि तप अनादरणीय हैं, ऐसा भी कहा है।
३. इस विषय में अनुशिष्टि के रूप में पृ० ६८ से ७१ पर जो ३ से ५५ गाथाएँ उद्धृत की गई हैं वे माननीय हैं।
४. इसमें कालधर्मप्राप्त साधु के शरीर के अन्तिम संस्कार का निरूपण है।
४. इसकी रचना विनयचन्द्रसूरि के उपदेश से की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कई द्वारों के उपविषय 'विषयानुक्रम' में दिखलाये गये हैं। उदाहरणार्थ—पाँचवें द्वार के अन्तर्गत पंचमंगल-उपधान, चौबीसवें के अन्तर्गत दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि चार अंग, निशीथादि छेदसूत्र, छठे से ग्यारहवाँ अंग, औपपातिक आदि उपांग, प्रकीर्णक, महानिशीथ की विधि एवं योगविधान प्रकरण; चौतीसवें के अन्तर्गत ज्ञानातिचार, दर्शनातिचार और मूलगुण के सम्बन्ध में प्रायश्चित्त; पिण्डालोचनाविधान प्रकरण; उत्तरगुण, वीर्याचार और देशविरति के प्रायश्चित्त एवं आलोचनाग्रहणविधि प्रकरण तथा उपमा द्वार के प्रतिष्ठाविधि-संग्रह-गाथा, अधिवासनाधिकार, नन्द्यावर्त-लेखन, जलानयन, कलशारोपण और ध्वजारोपण की विधि, प्रतिष्ठोपकरण-संग्रह, कूर्मप्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठासंग्रहकाव्य, प्रतिष्ठाविधिगाथा और कहारयणकोस (कथारत्नकोश) में से ध्वजारोपणविधि।

प्रस्तुत कृति में कई रचनाएँ समग्ररूप से अथवा अंशतः संगृहीत की गई हैं। उदाहरणार्थ—उपधान की विधि नामक सातवें द्वार के निरूपण में मानदेव-सूरिकृत ५४ गाथाओं का 'उवहाणविहि'[1] नाम का प्रकरण, नवें द्वार में ५१ गाथाओं का 'उवहाणपइट्ठापंचासय',[2] नन्दिरचनाविधि नामक पन्द्रहवें द्वार में ३६ गाथाओं का 'अरिहाणादिथोत्त,'[3] योगविधि नामक चौबीसवें द्वार के निरूपण में उत्तराध्ययन का १३ गाथाओं का चौथा अध्ययन,[4] प्रतिष्ठाविधि नामक पैंतीसवें द्वार के निरूपण में 'कहारयणकोस' में से ५० गाथाओं का 'धयारोवणविहि'[5] (ध्वजारोपणविधि) नाम का प्रकरण तथा चन्द्रसूरिकृत सात प्रतिष्ठासंग्रहकाव्य[6]। ६८ गाथाओं का जो 'जोगविहाणपयरण' पृ० ५८ से ६२ पर आता है वह स्वयं ग्रन्थकार की रचना होगी ऐसा अनुमान होता है।

प्रतिक्रमक्रमविधि :

सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जयचन्द्रसूरि ने वि० सं० १५०६ में इसकी[7] रचना की है। इसका यह नाम उपान्त्य पद्य में देखा जाता है। इसके प्रारम्भ में एक

१. देखिए—पृ० १२-४.
२. देखिए—पृ० १६-९.
३. देखिए—पृ० ३१-३.
४. देखिए—पृ० ४९-५०.
५. देखिए—पृ० १११-४.
६. देखिए—पृ० ११०-१.
७. यह कृति 'प्रतिक्रमणगर्भहेतु' नाम से श्री पानाचन्द वहालजी ने सन् १८९२ में छपाई है। इसका 'प्रतिक्रमणहेतु' नाम से गुजराती सार जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९०५ में प्रकाशित किया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्य और अन्त में तीन पद्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्तिम भाग में प्रतिक्रमण के आठ पर्यायों के विषय में एक-एक दृष्टांत पद्य में है। पत्र २४ आ और २५ अ में आये हुए उल्लेख के अनुसार ये दृष्टान्त आवश्यक की लघुवृत्ति में से उद्धृत किये गये हैं।

मुख्य रूप से गद्यात्मक इस कृति में प्रतिक्रमण के सूत्रों के क्रम का हेतु तथा प्रतिक्रमण में अमुक क्रिया के पश्चात् अमुक क्रिया क्यों की जाती है इसपर प्रकाश डाला गया है। बीच-बीच में उद्धरण भी दिये गये हैं। यहाँ प्रतिक्रमण से आवश्यक अभिप्रेत है। यह आवश्यक सामायिक आदि छः अध्ययनात्मक है। इन सामायिक आदि से ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों में से किसकी शुद्धि होती है यह बतलाया है। देववन्दन के बारह अधिकार, कायोत्सर्ग के १९ दोष, वन्दनक के ३२ दोष, दैवसिक आदि पाँच प्रतिक्रमणों की विधि, प्रतिक्रमण के प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि—ये आठ पर्याय और इनमें से प्रारम्भ के सात की स्पष्टता करने के लिए अनुक्रम से मार्ग, प्रासाद, दूध की बहँगी, विषभोजन, दो कन्याएँ, चित्रकार की पुत्री और पतिघातक स्त्री ये सात दृष्टान्त तथा आठवें पर्याय के बोध के लिए वस्त्र एवं औषधि के दो दृष्टान्त दिये गये हैं। अन्त में गन्धर्व नागदत्त एवं वैद्य के दृष्टान्त दिये गये हैं।

पर्युषणाविचार :

यह हर्षसेनगणी के शिष्य हर्षभूषणगणी की कृति है। इसे पर्युषणास्थिति एवं वर्तितभाद्रपदपर्युषणाविचार भी कहते हैं। यह वि० सं० १४८६ की रचना है और इसमें २५८ पद्य हैं। इसमें पर्युषणा के विषय में विचार किया गया है।

श्राद्धविधिविनिश्चय :

यह भी उपर्युक्त हर्षभूषणगणी की वि० सं० १४८० में रचित कृति है।

दशलाक्षणिकव्रतोद्यापन :

इसके[1] रचयिता अभयनन्दी के शिष्य सुमतिसागर हैं। इसका प्रारम्भ 'विमलगुणसमृद्ध' से किया गया है। इसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच,

---

१. यह 'शान्तिसागर दिगम्बर ग्रन्थमाला' (सन् १९५४) के 'दिगम्बर जैन व्रतोद्यापनसंग्रह' की दूसरी आवृत्ति के अन्त में दिया गया है। इसमें आशाधरकृत महाभिषेक, महीचन्द्रशिष्य जयसागरकृत रविव्रतोद्यापन तथा श्रीभूषणकृत षोडशकारणव्रतोद्यापन भी छपे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—इन दस प्रकार के धर्मांगों के विषय में एक-एक पूजा और उसके अन्त में जयमाला तथा अन्त में समुच्चय जयमाला इस प्रकार विविध विषय आते हैं। जयमाला के अतिरिक्त समग्र ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में है।

दशलक्षणव्रतोद्यापन :

यह ज्ञानभूषण ने लिखा है। इसे दशलक्षणोद्यापन भी कहते हैं। इसमें क्षमा आदि दस धर्मांगों के विषय में जानकारी दी गई है।

१. पइट्ठाकप्प (प्रतिष्ठाकल्प) :

भद्रबाहुस्वामी ने इसकी रचना की थी ऐसा उल्लेख सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में आता है।

२. प्रतिष्ठाकल्प :

यह श्यामाचार्य की रचना है ऐसा सकलचन्द्रगणी ने अपने ग्रन्थ 'प्रतिष्ठाकल्प' के अन्त में कहा है।

३. प्रतिष्ठाकल्प :

यह हरिभद्रसूरि की कृति कही जाती है। सकलचन्द्रगणी ने अपने 'प्रतिष्ठाकल्प' के अन्त में जिस हरिभद्रसूरिकृत प्रतिष्ठाकल्प का उल्लेख किया है वह यही होगा। परन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

४. प्रतिष्ठाकल्प :

यह कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिरचित माना जाता है। सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में इसी का उल्लेख है, ऐसा प्रतीत होता है।

५. प्रतिष्ठाकल्प :

यह गुणरत्नाकरसूरि की रचना है। इसका उल्लेख सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में है।

६. प्रतिष्ठाकल्प :

यह माघनन्दी की रचना कही जाती है।

७. प्रतिष्ठाकल्प :

यह हस्तिमल्ल की रचना है।

८. प्रतिष्ठाकल्प :

यह हीरविजयसूरि के शिष्य सकलचन्द्रगणी की कृति[1] है। इन्होंने गणधर-स्तवन, बारह-भावना, मुनिशिक्षास्वाध्याय, मृगावती-आख्यान (वि० सं०

---

१. देखिए—जिनरत्नकोश, विभाग १ पृ० २६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६४४), वासुपूज्यजिन-पुण्यप्रकाशरास (वि० सं० १६७१), वीरजिन हमचडी, वीरहुण्डीस्तवन, सत्तरभेदी-पूजा, साधुकल्पलता (वि० सं० १६८२) और हीरविजयसूरिदेशनासुरवेलि (वि० सं० १६९२) ग्रन्थों की रचना की है।

इस प्रतिष्ठाकल्प के प्रारम्भ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा और पूजाविधि कहने की प्रतिज्ञा की है। इसके अनन्तर अधोलिखित विषय इसमें आते हैं :

प्रतिष्ठा करनेवाले श्रावक का लक्षण, प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य का लक्षण, स्नात्र के प्रकार, मण्डप का स्वरूप, भूमि का शोधन, वेदिका, दातुन इत्यादि के मंत्र, पहले दिन की विधि—जलयात्रा, कुम्भस्थापन की विधि; दूसरे दिन की विधि—नन्द्यावर्त का पूजन; तीसरे दिन की विधि—क्षेत्रपाल, दिक्पाल, भैरव, सोलह विद्यादेवी और नौ ग्रहों का पूजन; चौथे दिन की विधि—सिद्धचक्र का पूजन; पाँचवें दिन की विधि—बीस स्थानक का पूजन; छठे दिन की विधि—च्यवनकल्याणक की विधि, इन्द्र और इन्द्राणी का स्थापन, गुरु का पूजन, च्यवनमंत्र, प्राणप्रतिष्ठा; सातवें दिन की विधि—जन्मकल्याणक की विधि, शुचीकरण, सकलीकरण, दिक्कुमारियाँ, इन्द्र एवं इन्द्राणियों का उत्सव; आठवें दिन की विधि—अठारह अभिषेक और अठारह स्नात्र; नवें दिन की विधि—लेखनशाला की विधि, विवाह एवं दीक्षा का महोत्सव; दसवें दिन की विधि—केवलज्ञान-कल्याणक, अंजनविधि, निर्वाणकल्याणक, जिनबिम्ब की स्थापना और दृष्टि, सकलीकरण, शुचिविधि, बलि-विषयक मंत्र, संक्षिप्त प्रतिष्ठाविधि, जिनबिम्ब के परिकर, कलश के आरोपण और ध्वजारोपण की विधि, ध्वजादि-विषयक मंत्र, ध्वजादि का परिमाण और चौतीस का यंत्र[1]।

१. यह यंत्र इस प्रकार है :

५	१६	३	१०
४	९	६	१५
१४	७	१२	१
११	२	१३	८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थ के अन्त में गुणरत्नाकरसूरि, जगच्चन्द्रसूरि, श्यामाचार्य, हरिभद्रसूरि एवं हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित भिन्न-भिन्न प्रतिष्ठाकल्पों का आधार लेने का और विजयदानसूरि के समक्ष उनसे मिलान कर लेने का उल्लेख है।[1]

प्रतिष्ठासारसंग्रह :

वसुनन्दी ने लगभग ७०० श्लोकों में इसकी रचना की है। यह छः विभागों में विभक्त है। इस कृति का उल्लेख आशाधर ने जिनयज्ञकल्प में किया है।

टीका—इस पर एक स्वोपज्ञवृत्ति है।

जिनयज्ञकल्प :

इसकी[2] रचना आशाधर ने वि० सं० १२८५ में की है। इसे प्रतिष्ठाकल्प या प्रतिष्ठासारोद्धार भी कहते हैं। इसमें वसुनन्दी की इसी विषय की प्रतिष्ठासारसंग्रह नाम की कृति का उल्लेख है।

रत्नत्रयविधान :

यह भी आशाधर की कृति है। इसे 'रत्नत्रयविधि' भी कहते हैं। इसका उल्लेख आशाधर ने धर्मामृत की प्रशस्ति में किया है।

सूरिमंत्र :

इसके[3] सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा (पृ० ६७) में कहा है कि यह सूरिमंत्र महावीरस्वामी ने गौतमस्वामी को २१०० अक्षर-परिमाण कहा था और उन्होंने (गौतमस्वामी ने) उसे ३२ श्लोकों में गूँथा था। यह धीरे-धीरे घटता जाता है और दुःप्रसह मुनि के समय में ढाई श्लोक-परिमाण रहेगा।

इस मंत्र में पाँच पीठ हैं : १. विद्यापीठ, २. महाविद्या—सौभाग्यपीठ, ३. उपविद्या—लक्ष्मीपीठ, ४. मंत्रयोग—राजपीठ और ५. सुमेरुपीठ।

---

१. मूल कृति का किसी ने गुजराती में अनुवाद किया है। सोमचन्द हरगोविन्ददास और छबीलदास केसरीचन्द संघवी इस मूल कृति के संयोजक एवं प्रकाशक हैं। इन्होंने यह गुजराती अनुवाद वि० सं० २०१२ में प्रकाशित किया है। उसमें जिनभद्रा, परमेष्ठिमुद्रा इत्यादि उन्नीस मुद्राओं के चित्र दिये गये हैं। पहली पट्टिका के ऊपर च्यवन एवं जन्मकल्याणकों का एक-एक चित्र है और दूसरी के ऊपर केवलज्ञान-कल्याणक तथा अंजनक्रिया का एक-एक चित्र है।

२. यह कृति श्री मनोहर शास्त्री ने वि० सं० १९७४ में प्रकाशित की है।

३. यह प्रकाशित है (देखिए—आगे की टिप्पणी)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशविवरण—इसे सूरिविद्याकल्प भी कहते हैं। इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने की है। ऐसा लगता है कि यही सूरिमंत्रबृहत्कल्पविवरण के नाम से प्रकाशित किया गया है।

सूरिमंत्रकल्प :

इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने की है ऐसा स्वयं उन्होंने विधिमार्गप्रपा (पृ० ९७) में लिखा है।

सूरिमंत्रबृहत्कल्पविवरण :

यह जिनप्रभसूरि की रचना[1] है। इसमें सूरिमन्त्र के अक्षरों का फलादेश कभी गद्य में तो कभी पद्य में बतलाया है। प्रारम्भ में 'अर्हन्' को नमस्कार करके सूरिमंत्र के कल्प के तथा आप्त के उपदेश के आधार पर सम्प्रदाय का अंश बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है। उसके पश्चात् विद्यापीठ, विद्या, उपविद्या, मंत्रपीठ और मंत्रराज—इन पाँच प्रस्थानों का उल्लेख करके पाँच प्रस्थानों के नान्दीपदों की संख्या बतलाई है। जिनप्रभसूरि ने उन्हें सोलह नान्दीपद अभिप्रेत हैं ऐसा कहकर उनका उल्लेख किया है। इसमें विविध रोगों को दूर करने की विधि बतलाई गई है।

वर्धमानविद्याकल्पोद्धार :

इसका[2] उद्धार वाचक चन्द्रसेन ने किया है। इसके प्रारम्भ में उपाध्याय, वाचनाचार्य, महत्तरा और प्रवर्तिनी के नित्यकृत्य बतलाये गए हैं। इसके

---

१. यह कृति डाह्याभाई महोकमलाल ने अहमदाबाद से सन् १९३४ में प्रकाशित की है। इसका संशोधन मुनि (अब सूरि) श्री प्रीतिविजयजी ने किया है। उसमें कोई-कोई पंक्ति गुजराती में देखी जाती है। सम्भवतः वह संशोधक ने जोड़ दी होगी। कहीं-कहीं जैन महाराष्ट्री में लिखा हुआ देखा जाता है। शल्योद्धार तथा निधिनिर्णय के सम्बन्ध में कई कोष्ठक दिये गये हैं। अन्त में सूरिमंत्र है।

२. यह कृति जिनप्रभसूरिकृत बृहत् ह्रींकारकल्पविवरण के साथ 'सूरिमंत्र-यंत्रसाहित्यादिग्रन्थावलि' पुष्प ८-९ में श्री डाह्याभाई महोकमलाल ने अहमदाबाद से प्रकाशित की है। इसमें प्रकाशनवर्ष नहीं दिया है। इसमें जिनप्रभसूरिकृत 'वद्धमाणविज्जाथवण' भी छपा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्तर भूमिशुद्धि, सकलीकरण, वज्रस्वामीरचित और तृतीय पीठ में सूचित वर्धमान विद्याकल्प की देवतावसरविधि, वर्धमानविद्यासम्प्रदाय, द्वितीया और तृतीया वर्धमानविद्या, वर्धमानयंत्र, मंत्र की शुद्धि, प्राक्सेवा, बृहत् वर्धमानविद्या और गौतमवाक्य–इस प्रकार विविध बातें दी गई हैं। इनके अतिरिक्त इस कृति में कतिपय मुद्राओं का भी उल्लेख है[1]।

बृहत् ह्रींकारकल्प :

'**ह्रींकारेण विना यन्त्र**' से इस मूल कृति[2] का आरम्भ होता हो, ऐसा लगता है। यदि ऐसा न हो तो जिनप्रभसूरिद्वारा रचित विवरण के गद्यात्मक भाग के बाद का यह आद्य पद्य है। प्रारम्भ में इस प्रकार का मंत्र दिया है—"**ॐ ह्रीं ऐं त्रैलोक्यमोहिनी चामुण्डा महादेवी सुरवन्दनी ह्रीं ऐं स्वाहा।**" इसके पश्चात् पूजाविधि, ध्यानविधि, मायाबीजमंत्र के आराधन की विधि, होम की विधि, मायाबीज के तीन स्तवन, मायाबीजकल्प, हवन की विधि, परमेष्ठिचक्र के विषय में रक्त, पीत इत्यादि मायाबीज-साधनविधि, चोर आदि से रक्षण, वश्ययंत्र की विधि, आकर्षण की विधि, ह्रींकारविधान, ह्रींलेखाकल्प और मायाकल्प—इस प्रकार विविध बातें आती हैं।

टीका—इस मूल कृति के ऊपर जिनप्रभसूरि ने एक विवरण लिखा है। उसमें कुछ भाग संस्कृत में है तो कुछ गुजराती में है। उपर्युक्त विषयों में से मूल के कौन से और विवरण के कौन से, यह स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मुद्रित पुस्तक में बड़े टाइप में जो पद्य छपे हैं वे ही मूल के हैं या नहीं यह विचारणीय है।

---

१. 'वर्धमानविद्यापट' के विषय में एक लेख डा० उमाकान्त शाह ने लिखा है और वह Journal of the Indian Society of Oriental Arts, Vol. ix में सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है।

२. यह कृति या इसका जिनप्रभसूरिकृत विवरण या ये दोनों 'बृहत् ह्रींकार-कल्पविवरणम् तथा (वाचक चन्द्रसेनोद्धृत) 'वर्धमानविद्याकल्प' के नाम से जो पुस्तक 'श्रीसूरिमंत्रयंत्रसाहित्यादि ग्रन्थावलि', पुष्प ८-९ छपी है, उसमें देखे जाते हैं। इसका प्रकाशनवर्ष नहीं दिया गया है।

२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. वर्धमानविद्याकल्प :

अनेक अधिकारों में विभक्त यह कृति[1] यशोदेवसूरि के शिष्य विबुधचन्द्र के शिष्य और गणित-तिलक के वृत्तिकार सिंहतिलकसूरि ने लिखी है। इसके प्रारम्भ के तीन अधिकारों में अनुक्रम से ८९, ७७ और ३६ पद्य हैं।

२. वर्धमानविद्याकल्प :

इस नाम की एक कृति यशोदेव ने तथा अन्य किसी ने भी लिखी है।

मंत्रराजरहस्य :

८०० श्लोक-परिमाण यह कृति उपर्युक्त सिंहतिलकसूरि ने 'गुण-त्रय-त्रयोदश' अर्थात् वि. सं. १३३३ में लिखी है।

टीका—इस पर स्वयं कर्ता ने लीलावती नाम की वृत्ति लिखी है।

विद्यानुशासन :

यह जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण की कृति है जो चौबीस प्रकरणों में विभक्त है। इसमें ५,००० मंत्र हैं।[2]

विद्यानुवाद :

यह विविध यंत्र, मंत्र एवं तंत्र की संग्रहात्मक कृति[3] है। यह संग्रह सुकुमारसेन नामक किसी मुनि ने किया है। इसमें 'विज्जाणुवाय' पूर्व में से अवतरण दिये गये हैं। इस संग्रह में कहा है कि ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की एक-एक शासनदेवी के सम्बन्ध में एक-एक कल्प की रचना की गई थी। सुकुमारसेन ने अम्बिकाकल्प, चक्रेश्वरीकल्प, ज्वालामालिनीकल्प और भैरव-पद्मावतीकल्प—ये चार कल्प देखे थे।[4]

---

१. यह कृति सिंहतिलकसूरि की ही वृत्ति के साथ सम्पादित होकर गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज़ में सन् १९३७ में प्रकाशित हुई है।

२. देखिए—'अनेकान्त' वर्ष १, पृ० ४२९.

३. इसकी कई प्रतियाँ अजमेर और जयपुर के भण्डारों में हैं, ऐसा पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'भैरव-पद्मावतीकल्प' की प्रस्तावना (पृ० ७) में निर्देश किया है।

४. यह परिचय उपर्युक्त प्रस्तावना (पृ० ८) के आधार पर दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भैरव-पद्मावतीकल्प :

जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण ने इसकी[1] रचना की है। ये जिनसेन कनकसेनगणी के शिष्य और अजितसेनगणी के प्रशिष्य थे। इस आधार से मल्लिषेण की गुरु-परम्परा इस प्रकार बताई जा सकती है—

अजितसेनगणी
|
कनकसेनगणी
|
जिनसेन
|
मल्लिषेण

प्रस्तुत मल्लिषेण दिगम्बर हैं। इन्होंने इस भैरव-पद्मावतीकल्प के अतिरिक्त ज्वालिनीकल्प, नागकुमारचरित्र अर्थात् श्रुतपंचमीकथा, महापुराण[2] और सरस्वतीमंत्रकल्प नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं। प्रस्तुत कृति के ३३१ पद्य दस अधिकारों में विभक्त हैं।[3] श्री नवाब द्वारा प्रकाशित पुस्तक में ३२८ पद्य हैं। इसमें अन्य प्रकाशन में **'वनारुणासितैः'** से शुरू होनेवाला तीसरे अधिकार का तेरहवाँ पद्य, **'स्तम्भने तु'** से शुरू होनेवाला चौथे अधिकार का श्रीरंजिका यंत्र-विषयक बाईसवाँ पद्य तथा **"सिन्दूरारुण"** से शुरू होनेवाला इकतीसवाँ पद्य इस प्रकार कुल तीन पद्य नहीं हैं।

प्रथम अधिकार के चौथे पद्य में दसों अधिकारों के नाम दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं : १. साधक का लक्षण, २. सकलीकरण की क्रिया, ३. देवी के पूजन

---

१. यह कृति बन्धुसेन के विवरण तथा गुजराती अनुवाद, ४४ यंत्र, ३१ परिशिष्ट एवं आठ तिरंगे चित्रों के साथ साराभाई नवाब ने सन् १९३७ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त पं. चन्द्रशेखर शास्त्रीकृत हिन्दी भाषा-टीका, ४६ यंत्र एवं पद्मावती-विषयक कई रचनाओं के साथ यह श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया ने वीर-संवत् २४७९ में प्रकाशित की है।

२. इसे त्रिषष्टिमहापुराण तथा त्रिषष्टिशलाकापुराण भी कहते हैं। इसका रचनाकाल वि. सं. ११९४ है।

३. दसवें अधिकार के ५६ वें पद्य में प्रस्तुत कृति ४०० श्लोक की होने का तथा सरस्वती ने कर्ता को वरदान दिया था इस बात का उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की विधि, ४. बारह यंत्र के भेद का कथन, ५. स्तम्भन, ६. स्त्री का आकर्षण, ७. वश्यकर्म का यंत्र, ८. दर्पण आदि निमित्त, ९. वश्य (वशीकरण) की औषधि और १०. गारुडिक।

प्रथम अधिकार के पहले श्लोक में पार्श्वनाथ को प्रणाम करके 'भैरव पद्मावतीकल्प' के कहने की प्रतिज्ञा आती है। दूसरे में पद्मावती का वर्णन आता है और तीसरे में उसके तोतला, त्वरिता, नित्या, त्रिपुरा, कामसाधिनी और त्रिपुरभैरवी—ये छः नाम दिये गये हैं[1]। पाँचवें में कर्ता एवं पुस्तक का नाम तथा आर्या, गीति एवं श्लोक (अनुष्टुप्) में रचना की जायगी, ऐसा निर्देश है। पद्य ६ से १० में मंत्र-साधक अर्थात् मंत्र सिद्ध करने वाले साधक के विविध लक्षण दिये गये हैं; जैसेकि—काम, क्रोध आदि के ऊपर विजय प्राप्त, जिनेश्वर और पद्मावती का भक्त, मौन धारण करनेवाला, उद्यमी, संयमी जीवन बितानेवाला, सत्यवादी, दयालु और मंत्र के बीजभूत पदों का अवधारण करनेवाला। ग्यारहवें पद्य में उपर्युक्त गुणों से रहित जो जप करता है उसे पद्मावती नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित करके हैरान करती है, ऐसा कहा है।

दूसरे अधिकार में मंत्र-साधक द्वारा की जानेवाली आत्मरक्षा के बारे में, साध्य और साधक के अंश गिनने की रीति के विषय में तथा कौन-सा मंत्र कब सफल होता है, इसके विषय में जानकारी दी गई है। बारहवें पद्य में पद्मावती का वर्णन आता है, जिसमें उसे तीन नेत्रोंवाली और कुर्कुट—सर्परूप वाहनवाली कहा गया है[2]। इसके अतिरिक्त आय, सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु की व्याख्या दी गई है।

तीसरे अधिकार में शान्ति, विद्वेष, वशीकरण, बन्ध, स्त्री-आकर्षण और स्तम्भन—इन छः प्रकार के कर्मों का और इनकी दीपन, पल्लव, सम्पुट, रोधन, ग्रथन और विदर्भन नाम की विधि का निरूपण है। इसके पश्चात् उपर्युक्त छः प्रकार के कर्मों के काल, दिशा, मुद्रा, आसन, वर्ण, मनके आदि का विवेचन किया गया है। इसके बाद गृहयंत्रोद्धार, लोकपाल एवं आठ देवियों की स्थापना,

---

१. ये नाम पद्मावती के भिन्न-भिन्न वर्ण व हाथ में रही हुई भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आधार पर दिये गये हैं। इनकी स्पष्टता 'अनेकान्त' (वर्ष १, पृ० ४३०) में की गई है।

२. ऐसे वर्णनवाली एक देवी की वि० सं० १२५४ में प्रतिष्ठित मूर्ति ईडर के सम्भवनाथ के दिगम्बर मन्दिर में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह्वाहन, स्थापना, सन्निधि, पूजन और विसर्जन—इन पाँच उपचारों के विषय में तथा मन्त्रोद्धार, पद्मावती और पार्श्व यक्ष के जप और होम तथा चिन्तामणि यंत्र के विषय में जानकारी प्रस्तुत की गई है।

चौथे अधिकार के प्रारम्भ में 'क्लीं' रंजिकायंत्र कैसे बनाना यह समझाया है। इसके अनन्तर रंजिकायंत्र के ह्रीं, हुँ, य, यः, ह, फट्, म, ई, क्षवषट्, ल और श्रीं[1]—इन ग्यारह भेदों का वर्णन आता है। इन बारह यंत्रों में से अनुक्रम से एक-एक यंत्र स्त्री को मोह-मुग्ध बनानेवाला, स्त्री को आकर्षित करनेवाला, शत्रु का प्रतिषेध करनेवाला, परस्पर विद्वेष करनेवाला, शत्रु के कुल का उच्चाटन करनेवाला, शत्रु को पृथ्वी पर कौए की तरह घुमानेवाला, शत्रु का निग्रह करनेवाला, स्त्री को वश में करनेवाला, स्त्री को सौभाग्य प्रदान करनेवाला, क्रोधादि का स्तम्भन करनेवाला और ग्रह आदि से रक्षण करनेवाला है। इसमें कौए के पर तथा मृत प्राणी की हड्डी की कलम के बारे में भी उल्लेख है।

पाँचवें अधिकार में अपने इष्ट, वाणी, दिव्य अग्नि, जल, तुला, सर्प, पक्षी, क्रोध, गति, सेना, जीभ एवं शत्रु के स्तम्भन का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इसमें 'वार्तालि' मंत्र तथा कोरण्टक वृक्ष की लेखिनी का उल्लेख है।

छठे अधिकार में इष्ट स्त्री के आकर्षण के विविध उपाय दिखलाये हैं।

सातवें अधिकार में दाहज्वर की शान्ति का, मंत्र की साधना का, तीनों लोकों के प्राणियों को वश में करने का, मनुष्यों को क्षुब्ध करने का, चोर, शत्रु और हिंसक प्राणियों से निर्भय बनने का, लोगों को असमय में निद्राधीन करने का, विधवाओं को क्षुब्ध करने का, कामदेव के समान बनने का, स्त्री को आकर्षित करने का, उष्ण ज्वर का नाश करने का और वरयक्षिणी को वश में करने के उपाय बतलाये हैं। इसमें होम की विधि भी बतलाई गई है और उससे भाई-भाई में वैरभाव और शत्रु का मरण किस प्रकार हो इसकी रीति भी सूचित की गई है।

आठवें अधिकार में 'दर्पण-निमित्त' मंत्र तथा 'कर्णपिशाचिनी' मंत्र को सिद्ध करने की विधि आती है। इसके अलावा अंगुष्ठ-निमित्त और दीप-निमित्त तथा सुन्दरी नाम की देवी को सिद्ध करने की विधि भी बतलाई है। सार्वभौम राजा, पर्वत, नदी, ग्रह इत्यादि के नाम से शुभ-अशुभ फल-

१. इससे सम्बद्ध रंजिका-यंत्र का २२ वाँ पद्य साराभाई म. नवाब द्वारा सम्पादित आवृत्ति में नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथन के लिए किस तरह गिनती करनी चाहिए यह भी इसमें कहा गया है। मृत्यु, जय, पराजय एवं गर्भिणी को होनेवाले प्रसव के बारे में भी कई बातें आती हैं।

नवें अधिकार में मनुष्यों को वश में करने के लिए किन-किन औषधों का उपयोग करके तिलक कैसे तैयार करना, स्त्री को वश में करने का चूर्ण, उसे मोहित करने का उपाय, राजा को वश में करने के लिए काजल कैसे तैयार करना, कौन-सी औषधि खिलाने से खानेवाला पिशाच की भाँति बरताव करे, अदृश्य होने की विधि, वीर्य-स्तम्भन एवं तुला-स्तम्भन के उपाय, स्त्री में द्राव उत्पन्न करने की विधि, वस्तु के क्रय-विक्रय के लिए क्या करना तथा रजस्वला एवं गर्भधारण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कौन-सी औषधियाँ लेनी चाहिए—इस प्रकार विविध बातें बतलाई गई हैं।

दसवें अधिकार में निम्नलिखित आठ बातों के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है और उनका निर्वाह भी किया गया है :

१. साँप द्वारा काटे गये व्यक्ति को कैसे पहचानना। (संग्रह)
२. शरीर के ऊपर मंत्र के अक्षर किस तरह लिखना। (अंगन्यास)
३. साँप द्वारा काटे गये व्यक्ति का कैसे रक्षण करना। (रक्षा-विधान)
४. दंश का आवेग कैसे रोकना। (स्तम्भन-विधान)
५. शरीर में चढ़ते हुए जहर को कैसे रोकना। (स्तम्भन-विधान)
६. जहर कैसे उतारना। (विषापहार)
७. कपड़ा आदि आच्छादित करने का कौतुक। (सचोद्य)
८. खड़िया मिट्टी से आलिखित साँप के दाँत से कटवाना। (खटिकासर्प-कौतुकविधान)

इस अधिकार में 'भेरण्डविद्या' तथा 'नागाकर्षण' मंत्र का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार में आठ प्रकार के नागों के बारे में इस प्रकार जानकारी दी गई है :

नाम :	अनन्त	वासुकि	तक्षक	कर्कोटक	पद्म	महापद्म	शंखपाल	कुलिक
कुल :	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	शूद्र	वैश्य	क्षत्रिय	ब्राह्मण
वर्ण :	स्फटिक	रक्त	पीत	श्याम	श्याम	पीत	रक्त	स्फटिक
विष :	अग्नि	पृथ्वी	वायु	समुद्र	समुद्र	वायु	पृथ्वी	अग्नि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जय और विजय जाति के नाग देवकुल के आशीविषवाले तथा जमीन पर न रहने से उनके विषय में इतना ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें नाग की फेन, गति एवं दृष्टि के स्तम्भन के बारे में तथा नाग को घड़े में कैसे उतारना, इसके बारे में भी जानकारी दी गई है।

टीका—इस पर बन्धुषेण का एक विवरण संस्कृत में है। इसका प्रारम्भ एक श्लोक से होता है, अवशिष्ट समग्र ग्रन्थ गद्य में है। इसमें कोई-कोई मंत्र तथा मंत्रोद्धार भी आता है।

अद्भुतपद्मावतीकल्प :

यह श्वेताम्बर उपाध्याय यशोभद्र के चन्द्र नामक शिष्य की रचना[1] है। इसमें कितने अधिकार हैं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता, किन्तु छपी हुई पुस्तक के अनुसार इसमें कम से कम छः प्रकरण हैं। इनमें से प्रथम दो अनुपलब्ध हैं। सकलीकरण नामक तीसरे प्रकरण में सत्रह पद्य हैं। देवी-अर्चन के क्रम एवं यन्त्र पर प्रकाश डालनेवाले चौथे प्रकरण में सड़सठ पद्य हैं। 'पात्रविधिलक्षण' नामक पाँचवें प्रकरण में सत्रह पद्य हैं। इनमें से पन्द्रहवाँ पद्य त्रुटित है। इसके पश्चात् गद्य आता है, जिसका कुछ भाग गुजराती में भी है। 'दोषलक्षण' नामक छठे प्रकरण में अठारह पद्य हैं। इसके पन्द्रहवें पद्य के अनन्तर बन्ध-मन्त्र, माला-मन्त्र इत्यादि विषयक गद्यात्मक भाग आता है। सोलहवें पद्य के पश्चात् भी एक गद्यात्मक मन्त्र है।

रक्तपद्मावती :

यह एक अज्ञातकर्तृक रचना[2] है। इसकी प्रकाशित पुस्तक में यह नाम नहीं देखा जाता। इसमें रक्तपद्मावती के पूजन की विधि है। षट्कोणपूजा, षट्कोणान्तरालकर्णिकामध्यभूमिपूजा, पद्माष्टपत्रपूजा, पद्मावती देवी के द्वितीय चक्र का विधान और पद्मावती का आह्वान-स्तव—ऐसे विविध विषय इसमें आते हैं।

---

१. इस कृति के प्रकरण ३ से ६ श्री साराभाई मणिलाल नवाब ने जो भैरव-पद्मावतीकल्प सन् १९३७ में प्रकाशित किया है उसके प्रथम परिशिष्ट के रूप में (पृ० १–१४) दिये गये हैं।

२. इस नाम से यह कृति उपर्युक्त भैरवपद्मावतीकल्प के तीसरे परिशिष्ट के रूप में (पृ० १८ से २०) छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. ज्वालिनीकल्प :

इसकी रचना भैरवपद्मावतीकल्प इत्यादि के प्रणेता मल्लिषेण ने की है।

२. ज्वालिनीकल्प :

इस नाम की दूसरी तीन कृतियाँ हैं। इनमें से एक के कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। दूसरी दो के कर्ता यल्लाचार्य—एलाचार्य एवं इन्द्रनन्दी हैं। ये दोनों सम्भवतः एक ही व्यक्ति होंगे, ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५१) में कहा है। इन्द्रनन्दी की कृति को ज्वालामालिनीकल्प, ज्वालिनीमत और ज्वालिनीमतवाद भी कहते हैं। ५०० श्लोक-परिमाण की इस कृति की रचना इन्होंने शक-संवत् ८६१ में मानखेड में कृष्णराज के राज्यकाल में की है[1]। इसके लिए इन्होंने एलाचार्य की कृति का आधार लिया है। ये इन्द्रनन्दी वप्पनन्दी के शिष्य थे।

कामचाण्डालिनीकल्प :

यह भी उपर्युक्त मल्लिषेण की पाँच अधिकारों में विभक्त रचना है।

भारतीकल्प अथवा सरस्वतीकल्प :

यह भैरवपद्मावतीकल्प इत्यादि के रचयिता मल्लिषेण की कृति[2] है। इसके प्रथम श्लोक में 'सरस्वतीकल्प' कहने की प्रतिज्ञा की गई है, जबकि तीसरे में 'भारतीकल्प' की रचना की जाती है, ऐसा कहा है। ७८वें श्लोक में 'भारतीकल्प' जिनसेन के पुत्र मल्लिषेण ने रचा है, ऐसा उल्लेख है।

दूसरे श्लोक में वाणी का वर्णन करते हुए उसे तीन नेत्रवाली कहा है। चौथे श्लोक में साधक के लक्षण दिये हैं। श्लोक ५-७ में सकलीकरण का निरूपण आता है। इस कल्प में ७८ श्लोक तथा कुछ अंश गद्य में है। इसमें पूजाविधि, शान्तिक-यंत्र, वश्य-यंत्र, रंजिका-द्वादशयंत्रोद्धार, सौभाग्यरक्षा, आज्ञाक्रम एवं भूमिशुद्धि आदि विषयक मंत्र आते हैं।

---

१. इसके विषय आदि के लिए देखिए—'अनेकान्त' वर्ष १, पृ० ४३० तथा ५५५।

२. यह कृति 'सरस्वतीमंत्रकल्प' के नाम से श्री साराभाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरवपद्मावतीकल्प के ११ वें परिशिष्ट के रूप में (पृ० ६१-८) छपी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरस्वतीकल्प :

इस नाम की एक-एक कृति अर्हद्दास और विजयकीर्ति ने लिखी है।

सिद्धयंत्रचक्रोद्धार :

यह वि० सं० १४२८ में रत्नशेखरसूरिरचित सिरिवालकहा से उद्धृत किया हुआ अंश है। इसमें सिरिवालकहा की १९६ से २०५ अर्थात् १० गाथाएँ हैं। इसका मूल विज्जप्पवाय नामक दसवाँ पूर्व है। उपर्युक्त रत्नशेखरसूरि वज्रसेनसूरि या हेमतिलकसूरि के अथवा दोनों के शिष्य थे।

टीका—इसपर चन्द्रकीर्ति ने एक टीका लिखी है।

सिद्धचक्रयंत्रोद्धार-पूजनविधि :

इसका[1] प्रारम्भ २४ पद्यों की 'विधिचतुर्विंशतिका' से किया गया है। मुद्रित पुस्तिका में प्रारम्भ के १३½ पद्य नहीं हैं, क्योंकि यह पुस्तक जिस हस्तलिखित पोथी से तैयार की गई है, उसमें पहला पन्ना नहीं था।

इस पहली चौबीसी के पश्चात् 'सिद्धचक्रतपोविधानोद्यापन' नाम की चौबीस पद्यों की एक दूसरी चतुर्विंशतिका है। इसके बाद 'सिद्धचक्राराधनफल' नाम की एक तीसरी चतुर्विंशतिका है। ये तीनों चतुर्विंशतिकाएँ संस्कृत में हैं।

इन तीनों चतुर्विंशतिकाओं के उपरान्त इसमें सिद्धचक्र की पूजनविधि भी दी गई है। इसके अनन्तर नौ श्लोकों का संस्कृत में सिद्धचक्रस्तोत्र है। इसी प्रकार इसमें आठ श्लोकों का वज्रपंजरस्तोत्र, आठ श्लोकों का लब्धिपदगतिमहर्षि-स्तोत्र, क्षीरादि स्नात्रविषयक संस्कृत श्लोक, जलपूजा आदि आठ प्रकार की पूजा के संस्कृत श्लोक, चौदह श्लोकों की संस्कृत में 'सिद्धचक्रयंत्रविधि'[2] और पन्द्रह पद्यों का जैन महाराष्ट्री में विरचित 'सिद्धचक्कप्पभावथोत्त' तथा यथास्थान दिक्पाल, नवग्रह, सोलह विद्यादेवी एवं यक्ष-यक्षिणी के पूजन के बारे में उल्लेख है।

---

१. यह कृति 'नेमि-अमृत-खान्ति-निरंजन-ग्रन्थमाला' में अहमदाबाद से वि० सं० २००८ में 'सिद्धचक्रमहायंत्र' के साथ प्रकाशित हुई है।

२. मुद्रित कृति में इसे 'सिद्धचक्रस्वरूपस्तवन' कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. दीपालिकाकल्प :

इस पद्यात्मक कृति[१] की रचना विनयचन्द्रसूरि ने २७८ पद्यों में की है। ये रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० १३२५ में कल्पनिरुक्त की रचना की है। प्रस्तुत कृति का प्रारम्भ महावीरस्वामी और श्रुतदेवता के स्मरण के साथ किया गया है। इसमें मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार, उसके पुत्र अशोकश्री, अशोक के पुत्र कुणाल (अवन्तिनाथ) और कुणाल के पुत्र सम्प्रति— इस प्रकार सम्प्रति के पूर्वजों के विषय में उल्लेख है। आर्य सुहस्तिसूरि जीवत्स्वामिप्रतिमा के वन्दन के लिए उज्जयिनी में आये थे। एक बार रथयात्रा में इन्हें देखकर सम्प्रति को जातिस्मरणज्ञान हुआ। उसने सूरि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। उन्होंने उसे इन्कार करके धर्माराधन करने को कहा। तब सम्प्रति ने दीपालिका पर्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके बारे में पूछा। इस पर सूरि ने महावीरस्वामी के च्यवन से लेकर निर्वाण तक का वृत्तान्त कहा। इसके अन्त में पुण्यपाल अपने देखे हुए आठ स्वप्नों का फल पूछता है और महावीरस्वामी ने उसका जो फल-कथन किया उसका निर्देश है। इसके अनन्तर गौतमस्वामी के भावी जीवन के विषय में पूछने पर उसके उत्तर के रूप में कई बातें कहकर कल्की राजा का चरित्र और उसके पुत्र दत्त की कथा का उल्लेख है। इसके बाद पाँचवें आरे के अन्तिम भाग का तथा छठे आरे आदि का वर्णन किया है। भावउद्योतरूप महावीरस्वामी का निर्वाण होने पर अठारह राजाओं ने द्रव्यउद्योत किया और वह दीपालिका पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ, ऐसा यहाँ कहा गया है। नन्दिवर्धन का शोक दूर करने के लिए उनकी बहन सुदर्शना ने उन्हें द्वितीया के दिन भोजन कराया था, इसपर से भ्रातृद्वितीया (भाईदूज) का

---

१. यह छाणी से 'लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला' की १४ वीं मणि के रूप में सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ है। इसमें कल्की की जन्मकुण्डली इस प्रकार दी गई है :

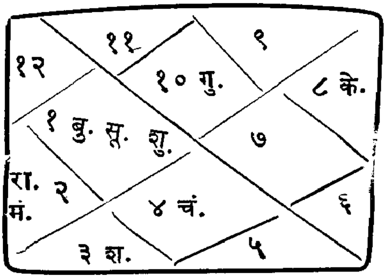

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्भव हुआ है। यह सुनकर सम्प्रति ने सुहस्तिसूरि से पूछा कि दीपावली में लोग परस्पर 'जोत्कार' क्यों करते हैं ? इस पर सूरि जी ने विष्णुकुमार के चरित्र का वर्णन करके, नमुचि का उपद्रव विष्णुकुमार के द्वारा शान्त किये जाने के उपलक्ष्य में लोग भोजन, वस्त्र, आभूषण इत्यादि से यह पर्व मनाते हैं—ऐसा इस कृति में कहा गया है।

२. दीपालिकाकल्प :

सोमसुन्दर के शिष्य जिनसुन्दर ने इसकी[1] रचना वि० सं० १४८३ में की है। इस पद्यात्मक कृति में ४४७ पद्य हैं। ४४२ वें पद्य में कहा है कि अन्यकर्तृक दीपालिकाकल्प देखकर इसकी रचना की गई है। इसका विषय विनयचन्द्रसूरि-कृत दीपालिकाकल्प से मिलता-जुलता है, क्योंकि इस कृति में भी सम्प्रति के पूछने पर आर्य सुहस्तिसूरि उत्तर के रूप में महावीरस्वामी तथा विष्णुकुमार का वृत्तान्त कहते हैं। इस कृति की विशेषता यह है कि इसमें अजैन मान्यता के अनुसार 'कलियुग' का वर्णन आता है तथा कल्की की जन्मकुण्डली रची जा सके, ऐसी बातें दी गई हैं।

टीकाएँ—इस पर तेजपाल ने वि० सं० १५७१ में एक अवचूरि लिखी है तथा दीपसागर के शिष्य सुखसागर ने वि० सं० १७६३ में एक स्तबक लिखा है।

सेत्तुंजकप्प (शत्रुंजयकल्प) :

जैन महाराष्ट्री के ४० पद्यों में रचित इस कृति के प्रणेता धर्मघोषसूरि कहे जाते हैं।

टीका—मुनिसुन्दर के शिष्य शुभशील ने वि० सं० १५१८ में इस पर १२, ५०० श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है, जिसे शत्रुंजयकल्पकथा, शत्रुंजयकल्पकोश तथा शत्रुंजयबृहत्कल्प भी कहते हैं।

उज्जयन्तकल्प :

यह पादलिप्तसूरि द्वारा विज्जापाहुड से उद्धृत की गई कृति है। इसमें उज्जयन्त अर्थात् गिरिनार गिरि के विषय में कुछ जानकारी दी गई होगी, ऐसा मालूम होता है।

---

१. यह हीरालाल हंसराज ने सन् १९१० में प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिरिनारकल्प :

धर्मघोषसूरि ने ३२ पद्यों में इसकी[1] रचना की है। इसके आद्य पद्य में उन्होंने अपना दीक्षा-समय का नाम तथा अपने गुरुभाई एवं गुरु का नाम श्लेष द्वारा सूचित किया है। इस कल्प के द्वारा उन्होंने 'गिरिनार' गिरि की महिमा का वर्णन किया है। ऐसा करते समय उन्होंने नेमिनाथ के कल्याणक, कृष्ण एवं इन्द्ररचित चैत्य और बिम्ब, अम्बा और शाम्ब की मूर्ति, रतन, याकुडी और सज्जन द्वारा किया गया उद्धार, गिरिनार की गुफाएँ और कुण्ड तथा जयचन्द्र और वस्तुपाल का उल्लेख किया है। अन्त में पादलिप्तसूरिकृत उपर्युक्त कल्प के आधार पर इस कल्प की रचना की गई है, ऐसा कहा है।

पवज्जाविहाण (प्रव्रज्याविधान) :

इसे प्रव्रज्याकुलक[2] भी कहते हैं। जैन महाराष्ट्री में रचित इस कुलक की पद्य-संख्या भिन्न-भिन्न देखी जाती है। यह संख्या कम-से-कम २५ की और अधिक-से-अधिक ३४ की है। इसकी रचना परमानन्दसूरि ने की है। ये भद्रेश्वरसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे।[3]

टीकाएँ—प्रद्युम्नसूरि ने वि० सं० १३२८ में इसपर एक ४५०० श्लोक-परिमाणवृत्ति लिखी है। ये देवानन्द के शिष्य कनकप्रभ के शिष्य थे। इन्होंने 'समरादित्यसंक्षेप' की भी रचना की है। यह वृत्ति अधोलिखित दस द्वारों में विभक्त है :

१. नृत्वदुर्लभता, २. बोधिरत्न-दुर्लभता, ३. व्रत-दुर्लभता, ४. प्रव्रज्यास्वरूप, ५. प्रव्रज्याविषय, ६. धर्मफल-दर्शन, ७. व्रतनिर्वाहण, ८. निर्वाहकर्तृश्लाघा, ९. मोहक्षितिरुहोच्छेद और १०. धर्मसर्वस्वदेशना।

इस प्रकार इसमें मनुष्यत्व, बोधि एवं व्रत की दुर्लभता, प्रव्रज्या का स्वरूप और उसका विषय, धर्म का फल, व्रत का निर्वाह और वैसा करनेवाले की

---

१. यह कल्प गुजराती अनुवाद के साथ 'भक्तामरस्तोत्रनी पादपूर्तिरूप काव्यसंग्रह' (भा० १) के द्वितीय परिशिष्ट के रूप में सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ है।

२. यह प्रद्युम्नसूरि की वृत्ति के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था की ओर से सन् १९३८ में प्रकाशित किया गया है।

३. देखिये—जिनरत्नकोश, वि० १, पृ० २७२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसा, मोहरूप वृक्ष का उन्मूलन तथा धर्मसर्वस्व की देशना—इन विषयों का वर्णन आता है।

इसकी एक टीका के रचयिता जिनप्रभसूरि हैं। इसपर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति भी है। इसका प्रारम्भ '**श्रीवीरस्य पदाम्भोज**' से हुआ है।

यन्त्रराज :

इसे यन्त्रराजागम तथा सक्यन्त्रराजागम[1] भी कहते हैं। इसकी रचना मदनसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि ने १७८ पद्यों में शक संवत् १२९२ में की है। यह १. गणित, २. यन्त्रघटना, ३. यन्त्ररचना, ४. यन्त्रशोधन और ५. यन्त्रविचारणा इन पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसके पहले अध्याय में ज्या, क्रान्ति, सौम्य, याम्य आदि यन्त्रों का निरूपण है। दूसरे अध्याय में यन्त्र की रचना के विषय में विचार किया गया है। तीसरे में यन्त्र के प्रकार और साधनों का उल्लेख आता है। चौथे में यन्त्र के शोधन का विषय निरूपित है। पाँचवें में ग्रह एवं नक्षत्रों के अंश, शंकु की छाया तथा भौमादि के उदय और अस्त का वर्णन है।[2]

टीका—मलयेन्दुसूरिकृत टीका में विविध कोष्ठक आते हैं।[3]

यन्त्रराजरचनाप्रकार :

यह सवाई जयसिंह की रचना है।

कल्पप्रदीप अथवा विविधतीर्थकल्प :

यह जिनप्रभसूरि की सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृति है।[4] इसमें ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सामग्री के अतिरिक्त जैन तीर्थों की उत्पत्ति इत्यादि के विषय में

---

१. यह कृति मलयेन्दुसूरि की टीका के साथ निर्णयसागर मुद्रणालय ने सन् १९३६ में प्रकाशित की है।

२-३. इसका विशेष विवरण जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (खण्ड १) के उपोद्घात (पृ० ७६-७) में तथा 'यन्त्रराज का रेखादर्शन' नामक लेख में दिया गया है। यह लेख जैनधर्म प्रकाश (पु० ७५, अंक ५-६) में प्रकाशित हुआ है।

४. यह ग्रंथ 'विविधतीर्थकल्प' के नाम से सिंघी जैन ग्रन्थमाला में सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ है। इसे 'तीर्थकल्प' भी कहते हैं। इसके अन्त में दी गई विशेष नामों की सूची में कई 'यावनी' भाषा के तथा स्थानों के भी शब्द हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्त जानकारी[1] दी गई है। इसमें कई कल्प संस्कृत में हैं तो कई जैन महाराष्ट्री में हैं। कई पद्य में हैं तो कई गद्य में हैं। सभी कल्पों की रचना एक ही स्थान पर और एक ही समय में नहीं हुई। किसी-किसी कल्प में ही रचना-वर्ष का उल्लेख आता है। ग्यारहवाँ वैभारगिरिकल्प वि० सं० १३६४ में रचा गया था, ऐसा निर्देश स्वयं ग्रन्थकार ने किया है। समग्र ग्रन्थ के अन्त में प्राप्त समाप्तिकथन में वि० सं० १३८९ का उल्लेख है। अतः यह ग्रन्थ लगभग वि० सं० १३६४ से १३८९ की समयावधि में रचा गया होगा।

समाप्तिकथन के अनुसार यह ग्रन्थ ३५६० श्लोक-परिमाण है। इसके दूसरे पद्य में प्रश्नोत्तर द्वारा ग्रन्थकार ने अपना नाम सूचित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ६०-६१ कल्प हैं। इनमें से ग्यारह स्तवनरूप हैं, छः कथा-चरित्रात्मक हैं तथा अवशिष्ट में स्थानों का वर्णन आता है। अन्तिम प्रकार के कल्पों में से 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह' नामक ४५ वें कल्प में तो केवल तीर्थों के नाम ही गिनाए गए हैं। गिरिनारगिरि के चार कल्प हैं, जबकि स्तम्भनक-तीर्थ और कन्यानय-महावीरतीर्थ के दो-दो कल्प हैं।[2]

ढींपुरीतीर्थकल्प में वंकचूल की कथा आती है। उसके आदिम एवं अन्तिम श्लोक तथा अन्त की दूसरी दो-तीन पंक्तियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण कल्प चतुर्विंशति-प्रबन्ध के सोलहवें वंकचूलप्रबन्ध के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस ग्रन्थ में उल्लिखित तीर्थ गुजरात, सौराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मालवा, पंजाब, अवध, बिहार, महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्णाटक और तैलंगण में हैं। इनके नाम अकारादि क्रम से निम्नांकित हैं :

१. अणहिलपुरस्थित अरिष्टनेमि (प्रा.)	२६	४. अम्बिकादेवी (प्रा.)	६१
२. अपापापुरी (प्रा.)	२१	५. अयोध्यानगरी (प्रा.)	१३
३. ,, ,, (सं.)	१४	६. अर्बुदाद्रि (सं.)	८
		७. अवन्तीदेशस्थ अभिनन्दन (सं.)	३२

---

१. इसमें अनुश्रुति को भी स्थान दिया गया है।

२. इसे 'दीपोत्सवकल्प' भी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अश्वावबोधतीर्थ (प्रा.) १०
९. अष्टापदगिरि (प्रा.) ४९
१०. अष्टापदमहातीर्थ[1] (सं.) १८
११. अहिच्छत्रानगरी (प्रा.) ७
१२. आमरकुण्डपद्मावती (सं.) ५३
१३. उज्जयन्त (प्रा.) ४
१४. ,, (सं.) ३
१५. कन्यानयमहावीर (प्रा.) ५१
१६. कन्यानयनीय महावीर-प्रतिमा (प्रा.) २२
१७. कपर्दियक्ष (प्रा.) ३०
१८. कलिकुण्डकुर्कुटेश्वर (प्रा.) १५
१९. काम्पिल्यपुरतीर्थ (प्रा.) २५
२०. कुडुंगेश्वरनाभेयदेव (सं.) ४७
२१. कुल्यपाक (प्रा.) ५७
२२. कुल्यपाक-ऋषभदेव (सं.) ५२
२३. कोकावसति-पार्श्वनाथ (प्रा.) ४०
२४. कोटिशिला (प्रा.) ४१
२५. कोशाम्बीनगरी (प्रा.) १२
२६. चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह (सं.) ४५
२७. चतुर्विंशतिजिनकल्याणक(प्रा.) ५४
२८. चम्पापुरी (सं.) ३५
२९. ढींपुरी[2] (सं.) ४३, ४४
३०. तीर्थंकरातिशयविचार (सं.) २४
३१. नन्दीश्वरद्वीप (सं.) २४
३२. नासिक्यपुर (प्रा.) २८
३३. पंचकल्याणकस्तवन[3] (प्रा.) ५६
३४. पंचपरमेष्ठिनमस्कार (सं.) ६२
३५. पाटलिपुत्रनगर (सं.) ३६
३६. पार्श्वनाथ (प्रा.) ६
३७. प्रतिष्ठानपत्तन (सं.) २३,३३
३८. प्रतिष्ठानपुराधिपति सातवाहन (सं.) ३४
३९. फलवर्द्धिपार्श्वनाथ (प्रा.) ६०
४०. मथुरापुरी (प्रा.) ९
४१. महावीरगणधर (प्रा.) ३९
४२. मिथिलातीर्थ (प्रा,) १९
४३. रत्नवाहपुर (सं.) २०
४४. रैवतकगिरि (प्रा.) २, ५
४५. वस्तुपाल-तेजपाल (सं.) ४२
४६. वाराणसी (सं.) ३८
४७. वैभारगिरि (सं.) ११
४८. व्याघ्री (सं.) ४८
४९. शंखपुरपार्श्व (प्रा.) २७
५०. शत्रुञ्जयतीर्थ (सं.) १
५१. शुद्धदन्तिपार्श्वनाथ (प्रा.) ३१
५२. श्रावस्तीनगरी (प्रा.) ३७
५३. श्रीपुरान्तरिक्षपार्श्वनाथ(प्रा.) ५८
५४. सत्यपुरतीर्थ (प्रा.) १७
५५. समवसरणरचना (प्रा.) ४६
५६. स्तम्भन (शिलोंछ) (प्रा.) ५९
५७. हरिकंबिनगर (प्रा.) २९
५८. हस्तिनापुर (प्रा.) १६
५९. हस्तिनापुरस्थपार्श्वनाथ (सं.) ५०

१. यह धर्मघोषसूरि की कृति है।

२. यह चेल्लणपार्श्वनाथ-विषयक है।

३. यह सोमसूरि की रचना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. चेइयपरिवाडी (चैत्यपरिपाटी) :

इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने अपभ्रंश में की है।

२. चैत्यपरिपाटी :

यह सोमजय के शिष्य सुमतिसुन्दरसूरि की रचना है।

तीर्थमालाप्रकरण :

अंचलगच्छ के महेन्द्रप्रभसूरि अथवा महेन्द्रसूरि ने यह प्रकरण अपने स्वर्गवास (वि० सं० १४४४) से पहले लिखा है। इसमें उन्होंने विविध तीर्थों के विषय में जानकारी प्रस्तुत की है; जैसेकि, आनन्दपुर, तारंगा (तारणगिरि), बंभनपाड, भडोंच, मथुरा (सुपार्श्वनाथ का स्तूप), भिन्नमाल, नाणाग्राम, शत्रुंजय, स्तम्भनपुर और सत्यपुर (साचोर)।

१. तित्थमालाथवण (तीर्थमालास्तवन) :

इसकी[1] रचना धर्मघोषसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री में १११ पद्यों में की है। उसमें इसका 'प्रतिमास्तुति' नाम से उल्लेख किया है।[2] इसमें जैन तीर्थों के नाम आदि आते हैं। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १६०) में इसके कर्ता का नाम मुनिचन्द्रसूरि[3], टीकाकार का नाम महेन्द्रसिंहसूरि और पद्य-संख्या ११२ दी है, परन्तु यह भ्रान्त प्रतीत होता है।

२. तीर्थमालास्तवन :

इस नाम की एक कृति की रचना धर्मघोषसूरि ने भी की है।

●

---

१. यह कृति भीमसी माणेक ने 'विधिपक्षप्रतिक्रमण' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की है।

२. देखिए—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३९६।

३. इसके स्थान पर चन्द्रसूरि और मुनिसुन्दसूरि के नाम भी जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १६१) में आते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ
अ	
अंकुलेश्वर	२८
अंग	६३, ६९
अंगन्यास	३१४
अंगप्रविष्ट	६४, ६५
अंगबाह्य	६३, ६९
अंगुल	१७८, १८३
अंगुलसत्तरि	१८३, २२४
अंगुलसप्तति	१८३
अंगुलसित्तरि	२२५
अंचल	२४२
अंचलगच्छ	१८२, १९७, १९९ २२१, ३२४
अंजना	२१५
अंजनासुन्दरी	२१७
अंतकृद्दशा	६५
अंतकृद्दशांग	६६
अंतर	२९, ४४, ७३
अंतरात्मा	१५५, १६३
अंतरानुगम	४४, ७३
अंतराय	१५, २०, २२, ४५
अंतर्द्वीप	१६९, १७८
अंतर्मुहूर्त	२१, ४३
अंतस्तत्त्व	१५४
अंबड	२८९
अंबा	३२०
अंबिकाकल्प	३१०
अंबिकादेवी	३२२
अकर्मभूमि	१७७
अकलंक	१५५, २४८
अकषायी	३५
अकस्मात्वाद	१०
अकायिक	३२
अकृतकर्मभोग	२६
अक्रियावाद	९
अक्रियावादी	६६, १६२
अक्ष	५२
अक्षर	७४
अक्षरसमास	७४
अक्षीणमहानसजिन	५१
अक्षीणस्थितिक	१०२
अगडदत्त	२१५
अगुरुलघु	२०, १५७
अग्रायणीय	२७, ११५
अग्रायणीय पूर्व	६६
अघाती	१६
अचक्षुर्दर्शनावरण	१६
अचक्षुर्दर्शनी	३६
अचेतन	१०
अचेलक	२१४
अचेलकता	१५०, १६०
अजितदेव	१८३
अजितप्रभ	२०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
अजितप्रभसूरि	२८८	अध्यात्मतरंगिणी	२६४
अजितसिंहसूरि	१७९	अध्यात्मपद्धति	२५९
अजितसेन	१३९, २९१	अध्यात्मपरीक्षा	२६४
अजितसेनगणी	३११	अध्यात्मप्रदीप	२६४
अज्ञान	१४	अध्यात्मप्रबोध	२६४
अज्ञानवादी	६६, १६२	अध्यात्मबिन्दु	२६३
अणगारभक्ति	२९४	अध्यात्मबिन्दुद्वात्रिंशिका	२६३
अणहिलपुर	३२२	अध्यात्मभेद	२६४
अणहिल्लपुर	१८५	अध्यात्मरहस्य	२०६
अणुट्ठाणविहि	२९८	अध्यात्मरास	६०
अणुसासणंकुसकुलय	२२४	अध्यात्मलिंग	२६४
अतिभद्र	२१३	अध्यात्मसंदोह	२४१
अतीत	९, १६	अध्यात्मसार	२६१
अतीतसिद्ध-बद्ध	२७	अध्यात्मसारोद्धार	२६४
अत्रिस्मृति	२२९	अध्यात्माष्टक	२६४
अद्भुतपद्मावतीकल्प	३१५	अध्यात्मोपदेश	२६३
अथर्ववेद	८	अध्यात्मोपनिषद्	२४२, २६२
अदृष्ट	१३	अध्रुव	२७
अद्धापरिमाणणिद्देस	९०	अनंत	३८, ७०, ३१४
अद्धापरिमाणनिर्देश	९०	अनंतर	३०
अधःप्रवृत्तकरण	१४१	अनंतानुबंधी	१८
अधिरोहिणी	२६०	अनंतावधिजिन	५१
अध्यवसाय	१५, २४	अनगार	२६७
अध्यात्म	२२७	अनगारधर्मामृत	२०५
अध्यात्मकमलमार्तण्ड	२६३	अनगारभक्ति	२९४
अध्यात्मकलिका	२६४	अनपवर्तनीय	१९
अध्यात्मकल्पद्रुम	२५९	अनागत	१६
अध्यात्मकल्पलता	२६०	अनागत-सिद्ध-बद्ध	२७
अध्यात्मगीता	२६४	अनादि	१३
अध्यात्मतत्त्वालोक	२३६	अनादिसान्त	४३
		अनादेय	२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
अनार्य	१७८
अनाहारक	३८
अनिंद्रिय	३१
अनिमित्तवाद	१०
अनिवार्यतावाद	६, ७
अनिवृत्तकरण	१४१
अनिवृत्तिकरण	३५
अनिवृत्ति-बादर-साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत	३१
अनुकंपा	१५७
अनुग्रंथकर्ता	२८
अनुत्तरविमान	३५
अनुत्तरौपपातिकदशा	६५
अनुत्तरौपपातिकदशांग	६६
अनुदयकाल	४७
अनुदिशा	३५
अनुप्रेक्षा	१६२, २५५
अनुभाग	२४, ८४, १३०
अनुभाग-बंध	१५, २२, ३०, ५८, १३२
अनुभाग-विभक्ति	९०, १०२
अनुयोग	७४
अनुयोगद्वार	२१, २९, ३०
अनुयोगसमास	७४
अनुराग	९६
अनुशासनांकुशकुलक	२२४
अनुष्ठानविधि	२९८
अनृजु	७३
अनृजुता	९६
अनेकान्त	११
अन्न	२१

शब्द	पृष्ठ
अन्यभावव्यवधान	७३
अपकर्षण	२४
अपक्षेपण	१२
अपगतवेद	३५
अपभ्रंशकाव्यत्रयी	१८८, १९७, २९२
अपरतट	२००
अपराजित	३५, ६४, ७९, २८३
अपरांत	२७
अपर्याप्त	२०, ३२
अपर्याप्ति	३३
अपवर्तना	२२, २४, ११६, ११९
अपवर्तनाकरण	११५, ११९
अपवर्तनीय	१९
अपापापुरी	३२२
अपूर्व	१२
अपूर्वकरण	१४१
अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत	३१
अप्कायिक	३२
अप्रतिक्रमण	१५२
अप्रत्याख्यान	६७
अप्रत्याख्यानावरण	१८
अप्रमत्तसंयत	३१
अबंधक	४९
अबाध	२२, २५
अबाधकाल	२५
अबाधा	११८
अबाधाकाल	१५
अभय	२४१
अभयकुमार	२१६, २४५
अभयचन्द्र	११०, १४१
अभयतिलकसूरि	२७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
अभयदेव	१८४
अभयदेवसूरि	११३, १२८, १६७, १७९, १८३, १८६, १९१, १९८, २५८, २६९, २७१, २७३, २७९, २८५, ३२०
अभयनंदि	१३९, १४१
अभयनंदी	१३८, ३०४
अभयभद्र	६४
अभव्यसिद्धिक	३७
अभाव	१५६
अभावभाव	१५६
अभिनववृत्ति	२७६
अभिनिबोधिकज्ञान	३६
अभेदज्ञान	१४
अमरकीर्ति	२४१, २४५
अमरकीर्तिसूरि	२२०
अमरकोश	२०६
अमरचंद्रसूरि	१८६, २२२
अमरप्रभसूरि	२४६
अमरगति	११०, १४२, २२१, २४१, २७१, २८३, २८५
अमृतचंद्र	१५०, १५३, १५५, १५६, १५९
अमृतचंद्रसूरि	१८०, १८१
अमृतधर्म	१८६
अमृतनाद	२२९
अमृतकुंभ	१५२
अमृतलाल मोदी	२०३, २०४
अमृतस्त्रविजिन	५१
अमृताशीति	१५५, २४०

शब्द	पृष्ठ
अमोघवर्ष	१०४, १९१
अम्मएव	१७४
अयन	१५६
अयशःकीर्ति	२०
अयोगकेवली	३१
अयोगिकेवली	३१, ३२, ३५
अयोध्या	३०१
अयोध्यानगरी	३२२
अरति	१८
अरिहंत	३०
अरिहाणादिथोत्त	३०३
अर्जुनवर्मदेव	२०६
अर्थ	१२, २७
अर्थज्ञान	१६
अर्थदीपिका	१६६, २९०
अर्थसम	५२
अर्धनाराच	१९
अर्धपर्याय	८१
अर्धपुद्गल	४३
अर्धोपम	२७
अर्बुदाद्रि	३२२
अर्हच्चतुष्क	१७५
अर्हद्दास	२१०, ३१७
अलंकारसार	२८७
अलेश्या	३६
अल्पतर	१३२
अल्पबहुत्व	२९
अल्पबहुत्वानुगम	२९, ३०, ४५
अल्पायु	२८
अवंतिनाथ	३१८
अवंतीदेशस्थ-अभिनन्दन	३२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
अवंतीसुकुमाल	२१३
अवक्तव्य	१३२
अवग्रह	६९, १७६
अवधि	१८
अवधि-अज्ञान	६९
अवधिजिन	५१
अवधिज्ञान	१६, ३६, ६९
अवधिज्ञानावरण	१६
अवधिज्ञानी	३५
अवधिदर्शन	१७, ८४
अवधिदर्शनावरण	१६, १७
अवधिदर्शनी	३६
अवधूत	२२७
अवसर्पिणी	३८, ७७, १७६
अवस्था	२२
अवस्थित	१३२
अवाय	६९
अविद्या	१२, १४
अविरति	९६
अशुभकर्म	२२
अशुभविहायोगति	२०
अशोकचंद्र	२०४, २७९
अशोकश्री	३१८
अश्वावबोधतीर्थ	३२३
अष्टकप्रकरण	१८३
अष्टम	१८१
अष्टांग	१७८
अष्टांगमहानिमित्तकुशलजिन	५१
अष्टांगहृदय	२०६
अष्टापदगिरि	३२३

शब्द	पृष्ठ
अष्टापदमहातीर्थ	३२३
असंख्येय	३९, ७०
असंख्येयासंख्येय	३९
असंज्ञी	३१, ३२, ३८
असंयत	३६
असंयत-सम्यग्दृष्टि	३१, ३५
असंस्कारी	२०
असत्यमृषामनोयोग	३२
असत्यमृषावचनयोग	३२
असम्मत	२१९
असांपरायिक	१५
असाता	१७
असातावेदनीय	१७
अस्तिकाय	१४९, १५६
अस्थितकल्प	१७५
अस्थिर	२०
अहिंसा	१५४
अहिच्छत्रानगरी	३२३
अहोरात्र	१५६
आ	
आँख	१६
आंध्र	२८
आंवड	२११
आकाशगामिजिन	५१
आकुंचन	१३
आगम	२७, १५४
आगम-गच्छ	२१०, २१५
आगमवत्थुविचारसार	१९०
आगमसार	१४८
आगमसिद्धान्त	२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
आगमिकवस्तुविचारसार	१९०
आगमिकवस्तुविचारसार-प्रकरण	१२७
आगामी	२५
आचार	५, १०, ६५, १४५
आचारपरंपरा	५
आचारप्रदीप	२९०
आचारविचार	१०
आचारहीन	२०
आचारांग	२७, ७२, ७९, ८०, २६९
आचार्य	११, २८, २९, ३०, १७५
आचार्यपरंपरागत	७३
आचार्यपरंपरानागत	७३
आचार्यभक्ति	२९४, २९६
आठयोगदृष्टिनीसज्झाय	२३६
आतप	२०
आत्मख्याति	१५३
आत्ममीमांसा	८
आत्मबोधकुलक	२२६
आत्मा	१३, १७, १५०, १५२, १५३, १६३
आत्मानुशासन	१६३, २०२
आत्मानुशासन-तिलक	२०३
आत्मोत्कर्ष	९६
आदिनाथ	२४५
आदिपुराण	२८३
आदेय	२०
आदेश	३१
आनंद	२१९, २४५
आनंदपुर	३२४
आनंदवल्लभ	२८९
आनंदसूरि	१६९, १८३, १८६
आनुपूर्वी	२०, २६
आप्त	१५४
आप्तमीमांसा	११, ६०, २७२
आबाधाकाल	४७
आभड	२९०
आभिनिबोधिकज्ञानी	३५
आभूषण	२१
आमरकुंडपद्मावती	३२३
आम्रदेव	१७४
आम्ल	१९
आयतन	१६०
आयरियभत्ति	२९४
आयार	१४५
आयु	१५, १६, २१, २२, ४५, ८२
आर० श्मिट	२२१, २२२
आराधना	२६९, २८२, २८५
आराधनाकुलक	२८५
आराधनापताका	२८५
आराधनारत्न	२८५
आराधनाशास्त्र	२८५
आराधनासार	२०६, २७१, २८४
आराहणा	२८२
आराहणाकुलय	२८५
आराहणापडाया	२८५
आराहणासत्थ	२८५
आराहणासार	२८४
आर्द्रकुमार	२१५
आर्य	१७८
आर्यदेव	१९५
आर्यनंदि	६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
आर्यमंक्षु	८३, ९९, १००
आलापपद्धति	२८४
आलोचना	१५४
आलोचनाविधि	२७३
आवश्यक	१५५, २९७, ३०४
आवश्यकदीपिका	१८२
आवश्यकसप्तति	२९६
आवस्सयचुण्णि	१७९
आवापगमन	२६
आशय	१३
आशा	९६
आशातना	१७५
आशाधर	१८०, २०५, २५९, २८३, ३०७
आशीर्विषजिन	५१
आश्चर्य	१७६
आषाढ़	२८
आसड	१९८
आसड़	२१६
आहार	३०, ३८, ४३
आहारक	१९, ३८, १७८
आहारककाययोग	३३
आहारकमार्गणा	१३५
आहारकमिश्रकाययोग	३३
इ	
इंदुकला झवेरी	२३३
इंद्र	२१५, ३२०
इंद्रनंदि	१३८, १३९, १४१
इंद्रनंदी	६०, २४१, २४५, ३१६
इंद्रभूति	६३
इंद्रसौभाग्यगणी	२४७
इंद्रिय	१६, ३०, ३१, ४०, १७७
इंद्रियमार्गणा	१३५
इच्छा	९६
इच्छा-स्वातन्त्र्य	६६
इलापुत्र	२०५
इष्टोपदेश	२०५, २०६, २४८
ई	
ईर्यापथ	१५
ई० विण्डिश	२४२
ईशान	३४
ईश्वर	८, ११, १२
ईश्वरवाद	११
ईश्वराचार्य	१६६
ईहा	६९
उ	
उग्रतपोजिन	५१
उच्च	२०
उच्चगोत्र	८४
उच्चारणसूत्र	९९
उच्चारणा	९९, १०५
उच्चारणाचार्य	९९, १०५, १०९
उच्चारणावृत्ति	९९, १०५
उच्चैर्गोत्र	२०
उच्छेद	७३, १७६
उच्छ्वास	२०
उज्जयंत	३२३
उज्जयंतकल्प	३१९
उज्जयिनी	३१८
उत्कर्ष	९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
उत्कर्षणा	२४
उत्कृष्टस्थिति	२९
उत्क्षेपण	१२
उत्तर	७३
उत्तरकुरु	१६८
उत्तरज्झयण	१४५
उत्तर-प्रकृति	१६, १७, २३
उत्तरप्रतिपत्ति	७३
उत्तराध्ययन	६४, ६५, १४५, २८७
उत्पत्ति	१२
उत्सर्पिणी	३८, १७६
उत्सिक्त	९६
उदक	९०
उदय	१५, २२, २३, २५, ९०, १२०, १२५, १२८, १३०
उदयचन्द्र	१७४
उदयधर्म	१९४
उदयधर्मगणी	२१५
उदयनृप	२०५
उदयप्रभ	१७९, १९४
उदयप्रभसूरि	१११, ११२, १२७, १२८
उदयसागर	१७०
उदयसिंह	२०५, २१७, २८८
उदयसेन	२०६
उदयाकरगणी	३०१
उदयावस्था	१२०
उदायन	२९०
उदीरणा	२२, २३, ९०, ११६, १२०, १३०
उदीरणाकरण	११५, १२०
उदीरणास्थान	१२८
उद्योत	२०
उद्योतनसूरि	२९२
उद्वर्तना	२२, २४, ११६, ११९
उद्वर्तनाकरण	११५, ११९
उन्मान	१७८
उपघात	२०
उपदेशकंदली	१९८
उपदेशकुलक	२२५
उपदेशचिंतामणि	१९९
उपदेशतरंगिणी	२०२
उपदेशपद	१९५
उपदेशप्रकरण	१९५
उपदेशमाला	१९३, १९६, २११, २३०
उपदेशरत्नाकर	२००, २६०
उपदेशरसायन	१८९, १९७
उपदेशसप्ततिका	२०१
उपदेशरहस्य	१२१
उपधि	१७६
उपभोग	२०
उपभोगांतराय	२०
उपभोग्य	२१
उपमितिभवप्रपंचाकथा	१९४
उपयोग	९०, ९१, ९५, १०२, १२५, १३१, १३७, १४९, १५४, १७७
उपयोगिता	१०
उपशम	१२०

शब्द	पृष्ठ
उपशमक	३१
उपशमन	२२, २५, २६
उपशमना	११६, १२०
उपशमनाकरण	११५, १२०
उपशमश्रेणिस्वरूप	२६६
उपशमश्रेणी	३९, १२८, १३२, १७६
उपशमसम्यक्दृष्टि	३७
उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ	३१, ३५
उपशामना	९७
उपांग	१९
उपादान	११
उपाध्याय	३०
उपायभाव	१५३
उपासकदशांग	९
उपासकाचार	२७६
उपासकाध्ययन	६५, २७२
उपासकाध्ययनांग	६६
उपेयभाव	१५३
उमास्वाति	१६७, २७१, २९३
उवएसकुलय	२२५
उवएसचिंतामणि	१९९
उवएसपय	१९५
उवएसमाला	१९३, १९६
उवएसरसायण	१८९, १९७
उवएससार	२०५
उवजोग	९०
उवहाणपइट्ठा-पंचासय	३०३
उवहाणविहि	३०३
उष्ण	२०

शब्द	पृष्ठ
ऊ	
ऊकेशगच्छ	२७५
ऋ	
ऋजु	७३
ऋजुकूला	७८
ऋजुगति	२६
ऋजुमतिजिन	५१
ऋतु	१५६
ऋषभदेव	७३, २१४, २२७
ऋषभनाराच	१९
ऋषभसेन	७२
ऋषिदत्ता	२१५
ए	
एकेन्द्रिय	१९, ३१
एन० ए० गोरे	२२३
ए० बेलिनी	२६७
एलाचार्य	६१, ७९, १४८, ३१६
ऐ	
ऐरावत	१६८
ऐरावत क्षेत्र	१७५
ऐहलौकिक	१०
ओ	
ओघ	३१
ओघनिर्युक्ति	२८७
औ	
औदारिक	१९, २६
औदारिककाययोग	३३
औदारिकमिश्रकाययोग	३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
क	
कंडक	११८
कंस	७९
कंसाचार्य	६४, ७९
कक्कसूरि	२७५
कटु	१९
कटुकराज	१९८
कणिका	१९४
कथाकोश	२०८
कथाबत्तीसी	२१५
कथारत्नकोश	२८५
कनकनंदी	१३८
कनकप्रभ	१९८, ३२०
कनकरथ	२१३
कनकसेनगणी	३११
कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमा	३२३
कन्यानयमहावीर	३२३
कपर्दियक्ष	३२३
कपिल	२१२
कमलसंयम	११३, १३२
कमला	२१५
कम्मविवाग	१२९, २७९
करण	११५, ११६, १२५
करणकृति	३०, ५२
करणसप्तति	१७५
करणसूत्र	१६९
करिराज	२१३
कर्कश	२०
कर्कोटक	३१४
कर्णपिशाचिनी	३१२
कर्ता	६, ८, ६३
कर्पूरप्रकर	२०७
कर्पूरविजय	१९७, २६७
कर्म	५, ११, १२, २१, २६, ३०, ४५, ४८, ५६, १५५, १७७
कर्म-अनुयोगद्वार	५७
कर्मकाण्ड	१२, १३४, १३७
कर्मग्रन्थ	१४, १०७, ११३, १२६, १२८, १८५, २७९
कर्मपरमाणु	१४, २२
कर्मप्रकृति	१५, २१, २३, ३०, १०७, ११०, ११४, १२४, १४०
कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका	११३
कर्मप्रदेश	२२
कर्मप्रवाद	१०७
कर्मप्राभृत	२७, २९, ६०, १०७, १०९
कर्मफल	१५, २२
कर्मफलभाव	६
कर्मबंध	६, १३, १४, १२५
कर्मभूमि	१७६
कर्मभोग	६
कर्मवाद	५, ११, २२
कर्मवादी	२६
कर्मविपाक	१३, १५, १११, १२७, १२९, २७९
कर्मविरोधी	७
कर्मशास्त्र	१४, १५, २३, १०७
कर्मसंवेद्यभंगप्रकरण	११४
कर्मसाहित्य	२६
कर्मस्तव	१११, १२७, १३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
कर्मस्तव-विवरण	११३
कर्मस्थितिरचना	१३९
कलश	१५३
कलह	९५
कला	५, १५६
कलावती	२१५
कलिकालिदास	२०६
कलिकुण्डकुर्कुटेश्वर	३२३
कलियुग	३१९
कल्क	९६
कल्की	३१९
कल्प	२९३
कल्पनिरुक्ति	३१८
कल्पनिर्याण	२७
कल्पप्रदीप	३२१
कल्पवासिनी	३४
कल्पवृक्ष	१७७
कल्पव्यवस्था	२७३
कल्पव्यवहार	६४, ६५
कल्पसूत्र	३००
कल्पाकल्पिक	६४, ६५
कल्याण	१८२
कल्याणकीर्ति	२५६
कषाय	१२, १३, १५, १९, ३०, ३५, ४१, ४६
कषायप्राभृत	२७, ६७, ८२, ८८, ९९, १००, १०७, १०९, १२४
कषायप्राभृतकार	८९
कषायप्राभृतचूर्णि	८२, १००
कषायमार्गणा	१३५
कषायमोहनीय	१७८
कसायपाहुड	८८, १००
कस्तुरीप्रकरण	२०७
कस्तूरीप्रकर	२०७
कहारयणकोस	३०३
कांतिविजय	२७८
कांपिल्यपुरतीर्थ	३२३
कापोतलेश्या	३६
काम	९६, १७७
कामचांडालिनीकल्प	३१६
कामदेव	२०५, २४५
कामसाधिनी	३१२
काय	३०, ३२, ४०
कायबलिजिन	५१
कायमार्गणा	१३५
काययोग	३३
काययोगी	३२
कायोत्सर्ग	१५५, १७५
कारण	७, १३
कारणपरमात्मा	५४
कार्तिकेय	२५६
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	२५६
कार्मण	१२, १९, २६
कार्मणकाययोग	३३
कार्य	१२
कार्य-कारणभाव	६, १०
काल	७, ८, ११, १५, २१, २९, ३०, ३९, ४३, १५०, १५६
कालकसूरि	२८७
कालकाचार्य	२४५
कालप्रमाण	३२, ७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
कालवाद	८
कालवादी	८
कालशतक	१८७
कालशौकरिक	२४१
कालसरूवकुलय	१८८
कालसूक्त	८
कालसौरिकपुत्र	२४५
कालस्वरूपकुलक	१८९
कालातीत	२३१
कालानुगम	४३, ७२
कालोदक	७१
कालोदधि	१६८, १६९
काव्यालंकार	२०६
काष्ठकर्म	५२
काष्ठा	१५६, २७१
कीर	८३
कीलिक	१९
कुंडगेश्वरनाभेयदेव	३२३
कुंडलपुर	७८
कुंतलदेवी	२१४
कुंतला	२८९
कुंदकुंद	६०, १४८, २५५
कुंदकुंदपुर	६०
कुंदकुंदाचार्य	१०९, २३९, २५७, २६९, २९४
कुंभकरण	२४९
कुंवरजी आनंदजी	२९३
कुणाल	३१८
कुब्ज	१९
कुमार	२५६
कुमारपाल	२१३, २४३
कुमारपालप्रबन्ध	२२६, २७८
कुमुदचन्द्र	१८७, २७७
कुरुक	८३
कुरुचन्द्र	२१३
कुर्चिकर्ण	२४५
कुल	२०
कुलकोटि	१७६
कुलध्वज	२१९
कुलमंडन	१८२
कुलमंडनसूरि	१६७, १८७
कुलवालक	२१५
कुलिक	३१४
कुल्यपाक	३२३
कुल्यपाक ऋषभदेव	३२३
कुसुममाला	१९६
कुहक	९६
कृतपुण्य	२१४
कृतप्रणाश	२६
कृति	३०, ५१
कृति-अनुयोगद्वार	५१
कृतिकर्म	६४, ६५, १७५
कृष्टिकरण	१४१
कृष्टिवेदन	१४१
कृष्ण	१९, ३२०
कृष्णराज	३१६
कृष्णराजी	१७८
कृष्णर्षि	१९४
कृष्णलेश्या	३६
के० के० दीक्षित	२३३
केवलज्ञान	१६, ६९, ७४, १०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
केवलज्ञानावरण	१६
केवलज्ञानी	३५, ३६, ४२
केवलदर्शन	१७, १०५
केवलदर्शनावरण	१६, १७
केवलदर्शनी	३६
केवली	१५५
केशव	२१८
केशववर्णी	११०, १४१, १४२
केसरगणी	१८६
केसरी	२१८
कोंडकुंड	१४८
कोकावसतिपार्श्वनाथ	३२३
कोटाकोटाकोटाकोटि	३९
कोटाकोटाकोटि	३९
कोटाकोटि	२१
कोटिशिला	३२३
कोप	९५
कोशा	२१३
कोशांबीनगरी	३२३
कोष्ठबुद्धिजिन	५१
कोसल	२८४
कोसला	३०१
कौशिक	२४५
क्रियमाण	२५
क्रिया	६, १२
क्रियाकलाप	२०६, २९४, २९५
क्रियावादी	६६, १६२
क्रियास्थान	१७६
क्रोध	१८, ८३, ९५, १०३
क्रोधकषायी	३५
क्षत्रिय	६४, ७९
क्षपक	३१
क्षपकश्रेणिस्वरूप	२६६
क्षपकश्रेणी	३९,९८,१३२,१७६, २६६
क्षपकसार	११०
क्षपणासार	१३४, १४१
क्षमाकल्याण	१६६, १८६
क्षय	१३, १५, २२
क्षायिकचारित्र	१४१
क्षायिकसम्यक्दृष्टि	३७
क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ	३१,३२, ३५
क्षीणस्थितिक	१०२
क्षीरस्रविजिन	५१
क्षुद्रकबंध	२९, ४८, ७६
क्षेत्र	१४, २९, ३०
क्षेत्रप्रमाण	३८, ७०
क्षेत्रविचारणा	१६९
क्षेत्रसंग्रहणी	१७१
क्षेत्रसमास	१६७, १६८, १७०
क्षेत्रानुगम	२९, ४३
क्षेत्रादिसंग्रहणी	१७१
क्षेमकीर्ति	२८५
क्षेमराज	२०१

ख

शब्द	पृष्ठ
खंड	१९४
खंडागम	८०
खंडसिद्धान्त	२७, २८
खंतिकुलय	२७६
खगोल	१६९, १७२
खटिकासर्पकौतुकविधान	३१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
खरतरगच्छ	१८२, १८६, १८८, १९०, १९१, १९२, २०१, २११, २१५, २२३, २४८, २६४, ३००, ३०१
खवग-सेढी	२६६
खुशालदास	२४३
खूबचंद्र	२०६
खेत्तसमास	१६८, १७०, १७३
खेलौषधिप्राप्तजिन	५१

ग

शब्द	पृष्ठ
गंगदेव	६४, ७९
गंगेश	१८६
गंध	१९, २४
गंधपुर	२५७
गंभीरविजयगणी	२५६, २५७, २६२
गउडवह	२२३
गजकुमार	२८४
गजसार	१७४
गजाधरलाल जैन	२८४
गणधर	१७५
गणधरदेव	६२
गणधरसार्धशतक	१८९, १९८, २०९, २९२
गणधरस्तवन	२०४
गणनकृति	५२
गणना	७०
गणनाकृति	३०
गणहरसद्धसयग	१८९, १९८, २९२
गणित-तिलक	३१०
गणितप्रधान	६९
गणितानुयोग	१४७
गति	१६, १९, २०, २६, ३०, १२८
गति-आगति	२९, ४७
गतिमार्गणा	१३५
गत्यनुवाद	३१
गत्यन्तर	२६
गद्यगोदावरी	२२६
गयासुद्दीन खिलजी	२१८
गर्गर्षि	१११, १२५
गर्भ	१७८
गर्भोपक्रांतिक	४८
गाथाकोश	२२४
गान्धार	२५७
गाहाकोस	२२४
गाहा-सत्तसई	२२३
गिरिनगर	२८, ८०
गिरिनार	३१९
गिरिनारकल्प	३२०
गीता	८
गीतार्थ	१७६
गुण	१४९, १५६
गुणकीर्तिसूरि	२२२
गुणट्ठाणकमारोह	२६५
गुणट्ठाणमग्गणट्ठाण	२६५
गुणदेवसूरि	१८७
गुणधर	८२, ८३, ८९, ९९, १००, १०४, १०९
गुणनिधानसूरि	२०९
गुणरत्नाकरसूरि	३०५, ३०७
गुप्ति	१५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
गुणभद्र	१५५, १६३, २०२	गृद्धि	९६
गुणरत्न	२११	गृध्रपिच्छ	१४८
गुणरत्नविजय	२६६	गृहकर्म	५२
गुणरत्नसूरि ११२, ११३, १२८, १३२		गृहस्थधर्म	२४३
गुणविजय	२२१	गृहस्थधर्मोपदेश	२०१
गुणशेखरसूरि	२०९	गेरिनो	१६७
गुणसुन्दरी	२१५	गोत्र १५, १६, २०, २१, २२, ४५, ८४	
गुणस्थान ३०, ६७, १२५, १२८, १३० १३१, १३५, १६२, १७७		गोपालदास पटेल	२४३
		गोपेन्द्र	२३१
गुणस्थानक	२६४	गोम्मटराय १३३, १३७, १३९, १४०	
गुणस्थानकनिरूपण	२६५	गोम्मटसंग्रह	१३४
गुणस्थानक्रमारोह	१७०, २५४, २६४	गोम्मटसंग्रहसूत्र	१३४
गुणस्थानद्वार	२६५	गोम्मटसार	१३३, १४०
गुणस्थानमार्गणास्थान	२६५	गोम्मटेश्वर	१३४
गुणस्थानरत्नराशि	२६४	गोयमपुच्छा	१८६
गुणस्थानवर्ती	३८	गोवर्धन	६४, ७९
गुणस्थानस्वरूप	२६५	गोविंदाचार्य	१११, १२७
गुणाकरसूरि	२१०, २२२, २२६	गोष्ठामाहिल	२७६
गुरु	२०	गौड़	८३
गुरुतत्त्वविनिश्चय	१२१	गौतम	६३, ७९, ८३
गुरुदत्त	२८४	गौतमदेव	६३
गुरुदास	२४१, २५९	गौतमपृच्छा	१८६
गुरुपारतंतथोत्त	२९२	गौतमस्वामी	२८, ३१८
गुरुपारतंत्र्यस्तोत्र	२९२	ग्रंथ	२८
गुरुवंदणभास	२७९, २८०	ग्रंथकृति	३०, ५२
गुरुवंदनभाष्य	२८०	ग्रंथसम	५२
गुर्जर	१०४	ग्रह	७१
गुर्वावली	२६०	ग्रहण	९६
गूहन	९६	ग्रासैषणा	१७६
गृद्धपिच्छाचार्य	७२	ग्रैवेयक	३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
घ	
घल्लू	१६६
घात	१६, १७
घाती	१५
घोरगुणजिन	५१
घोरतपोजिन	५१
घोरपराक्रमजिन	५१
घोष	८३
घोससम	५२
च	
चउट्ठाण	९०
चन्दनषष्ठयुद्यापन	२८४
चन्दनसागरजी	२००, २०१
चन्द्र	७१, ७२, १६९, २१५, ३१५
चन्द्रकांतमणि	११
चंद्रकीर्ति	१५५, ३१७
चन्द्रकीर्तिगणी	१८८
चन्द्रकुल	१९१, १९८, २०४, २५८
चन्द्रगुफा	२८, ८०
चन्द्रतिलक	१९०
चन्द्रनन्दी	२८३
चन्द्रप्रज्ञप्ति	७२
चन्द्रप्रभ	२८६
चन्द्रप्रभसूरि	१७९, १८३, २१०, २९८
चन्द्रमती	२४५
चन्द्रर्षि	१२५
चन्द्रर्षिमहत्तर	११०, ११२, ११५, १२४, १२८
चन्द्रवर्धनगणी	१६६
चन्द्रशेखर शास्त्री	३११
चन्द्रसागरगणी	२७४
चन्द्रसूरि	२९६, ३०३, ३२४
चन्द्रसेन	६१, ३०८
चन्द्रावतंसक	२४५
चन्द्रावती	२०५
चम्पापुरी	३२३
चक्र	९
चक्ररत्न	१३८
चक्रवर्ती	१७७, २४५
चक्रेश्वर	१९१, २१०
चक्रेश्वरसूरि	११२, ११३, १२७, १२८, १८८, २७६, ३०१
चक्रेश्वरीकल्प	३१०
चक्षुर्दर्शन	१६
चक्षुर्दर्शनावरण	१६
चशुर्दर्शनी	३६
चच्चरी	१८८, १९७
चतुरविजय	२७८
चतुरशीतिमहातीर्थ	३२३
चतुरिन्द्रिय	१९, ३२
चतुर्दश-पूर्वधर	६४
चतुर्दशपूर्विजिन	५१
चतुर्धागमवेदी	२४६
चतुर्मुख	१६२
चतुर्विंशतिजिनकल्याणक	३२३
चतुर्विंशतिपट्टक	१८४
चतुर्विंशतिप्रबंध	२२२
चतुर्विंशतिस्तव	६४
चतुस्थान	९०, ९५, १०३
चयनलब्धि	२७
चरणकरणानुयोग	१४७

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
चरणपाहुड़	१५९	चित्रकर्म	५२
चरणसप्तति	१७५	चित्रकूट	२१२
चरित्तमोहणीय-उवसामणा	९०	चिलातिपुत्र	२४५
चरित्तमोहणीयक्खवणा	९०	चिलातीपुत्र	२७६
चरित्रवर्धन	२२२	चूडामणि	६०, ९९
चर्चरी	१८८	चूर्णिसूत्र	८२, ९९
चर्परिन्	२६५	चूलिका	२७, २९, ६६, १५७
चर्म	१७५	चेइअवंदणभास	२७९
चामुण्डराज	२९१	चेइअपरिवाडी	३२४
चामुण्डराय	१०९, १३३, १३९, १४०	चेतन	१०, १२
चारणजिन	५१	चेतनतत्त्व	१२
चारित्त-पाहुड	१५८, १५९	चेल्लणपार्श्वनाथ	३२३
चारित्तभत्ति	२९४	चैतन्य	१०
चारित्र	१७, १४९, १७५	चैत्य	१७५
चारित्रप्राभृत	१५९	चैत्यगृह	१६०
चारित्रभक्ति	२९४, २९५	चैत्यपरिपाटी	३२४
चारित्रमुनि	१७३	चैत्यभक्ति	२९६
चारित्रमोह	१७	चैत्यवंदन	१७५, २७३
चारित्रमोहक्षपणा	९७	चैत्यवंदनभाष्य	२७९
चारित्रमोहनीय की उपशामना	९०, ९१	चैत्यविधि	१८९
		चैत्रगच्छ	२२६
चारित्रमोहनीय की क्षपणा	९०, ९१	चौदहपूर्व	२७
चारित्रमोहोपशामना	९७	**छ**	
चारित्ररत्नगणी	२०१, २१२	छन्द	९६, १६४
चारित्रलब्धि	९७, १४१	छट्ठाणपयरण	१८३
चारित्रसार	२९१	छन्न	९६
चारिसंजीवनी	२३२	छाजू	२१४
चारुदत्त	२१८	छासीइ	१९०, २७४
चार्वाक	५, १३	छाहड़	२०६
चितौड़	२१२, २९७	छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत	३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
ज	
जइजीवकप्प	२८७, २९८
जइसामायारी	२८७
जंघाचारण	१७५
जंबू	७९
जंबूदीवसंगहणी	१७०
जंबूद्वीप	७१, १६९
जंबूद्वीपसंग्रहणी	१७०
जंबूद्वीपसमास	१६७
जंबूस्वामिचरित	२६३
जंबूस्वामी	६३, २०५
जगच्चन्द्रविजय	२६६
जगच्चन्द्रसूरि	१२८, १८५, २७९, २८८, ३०७
जगतारिणी	१८६
जगत्	८, ११, १२
जगमंदरलाल जैनी	२०२
जगश्रेणी	३९
जघन्यस्थिति	२९, ४७
जटा	११
जड़	१०, १२
जड़तत्त्व	१२
जन्म	५
जमालि	२७६
जय	७९
जयंत	३५
जयंत पी० ठाकुर	१६७
जयकीर्ति	२१४, २५९
जयकुसुममाला	१९६
जयचन्द्र	१५३, २९०, ३२०

शब्द	पृष्ठ
जयचन्द्रसूरि	१८८, २१०, ३०३
जयतिलकसूरि	११३
जयदेव	२०८
जयधवला	६१, ६२, ६३, ६४, ९९, १०३
जयपाल	६४, ७९
जयबाहु	६४
जयवल्लभ	२२२
जयविजय	२१८
जयशेखर	२१०
जयशेखरसूरि	१९७, १९९, २०७, २२०, २२१, २२६, २६५
जयसागर	१९२
जयसागरगणी	२९२
जयसिंह	१८५, १८७, १९४, २८६
जयसिंहसूरि	२०५, २१४
जयसेन	६२, ९९, १५०, १५३, २५७
जयसोम	११३, २२१
जयसोमगणी	२११
जयाचार्य	६४
जरा	१२
जल	१०, २१, १७६
जल्प	१५५
जल्लौषधिप्राप्तजिन	५१
जाति	९, १२, १६, १९
जातिस्मरण	७५
जाबालिपुर	२१७
जाला	११
जावड़	२१८
जासड	१९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
जिणचेइयवंदणविहि	२२०
जिणवल्लहसूरिगुणवण्णण	२११
जित	५२
जिन	५१, ६२
जिनकल्पी	१७५, २१४
जिनचंद्रगणी	२७५
जिनचंद्रसूरि	१७४, २०८, ३०१
जिनतिलकसूरि	२२२
जिनदत्त	२१८, ३००
जिनदत्तसूरि	१८८, १९७, २१७, २५९, २९२, ३००, ३०१
जिनदास	२९३
जिनदासगणी	१२१
जिनदास पार्श्वनाथ	२८३
जिनदेवसूरि	१९१
जिनद्रव्य	१८४
जिननंदी	२८३
जिनपति	३००
जिनपतिसूरि	१८४, १८९, १९०, २११, २७७, २८६, २९७, ३०१
जिनपाल	१८४, १८८, १९०, १९८, २२६, २८६
जिनपालित	२८
जिनप्रतिमा	१६०, १७५, १८४
जिनप्रभसूरि	२२५, २८०, २९०, ३००, ३०१, ३०८, ३०९, ३२१, ३२४
जिनप्रवचनरहस्यकोश	१८०
जिनबिंब	१६०
जिनभद्र	१५०
जिनभद्रगणी	१६८, १७१, २१०, २८७
जिनभद्रसूरि	२२३. २६५
जिनभवन	२७३
जिनमंडनगणी	२२६, २७८
जिनमंदिर	१८५
जिनमाणिक्यसूरि	३०१
जिनमुद्रा	१६०
जिनमुनि	१५३
जिनयज्ञकल्प	२०६, ३०७
जिनराजसूरि	१९२
जिनवचन	८५
जिनवल्लभ	३००
जिनवल्लभगणी	१११, ११३, १२७, १२८, १९०, २९७, ३००
जिनवल्लभसूरि	१८८, १९०, १९१, २११, २२४, २२६, २८८, ३०१
जिनसागरसूरि	२१२
जिनसुंदर	३१९
जिनसुंदरसूरि	२१२
जिनसूरि	१८६
जिनसेन	६२, ९९, १०३, १०९, १९१, २४८, २८६, २९१, ३१०, ३११
जिनसेनाचार्य	२०२
जिनहर्ष	१८८
जिनहर्षगणी	२१०
जिनेंद्रचंद्र	१३९
जिनेश्वर	२७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
जिनेश्वरसूरि	१८३, १८४, १९०, २११, २८६
जिह्वा	९६
जीतकल्प	२८७
जीर्ण	२८९
जीर्णश्रेष्ठी	२१४
जीव	१३, १४९, १५२, १५४, १६१
जीवकांड	१३४
जीवत्स्वामिप्रतिमा	३१८
जीवदेवसूरि	२१७
जीवविचार	१६६
जीवविजय	११३, १६७, २६०
जीववियार	१६६
जीवसंख्याकुलक	१७८
जीवसंख्याकुलय	१७८
जीवसमास	२९, ३०, ७२, १३५, १६५
जीवस्थान	२९, ३०, ४८, १३१
जीवाजीवाभिगमसंगहणी	१६७
जीवाजीवाभिगमसंग्रहणी	१६७
जीवाणुसासण	१८४
जीवानुशासन	१८४
जुगलकिशोरजी मुख्तार	२४५, २७२
जुगुप्सा	१८, ८६
जुत्तिपबोहनाडय	१८०
जृंभिका	७८
जैतल्ल	१९८
जैन	१२, १४, २१, २३, २६
जैन आचार्य	५
जैन दर्शन	८, १४
जैनदृष्टिए योग	२३६
जैन-परंपरा	५

शब्द	पृष्ठ
जैनागम	९
जोइंदु	१६४, २३९, २४०
जोगविहाणपयरण	३०३
जोगविहाणवीसिया	२३८
जोगवीसिया	२३०
जोगसयग	२३३
जोगसार	२३९, २४०
जोगिचंद	२४०
जोहानिस हर्टल	२२१, २२२
ज्ञान	११, १२, १६, २१, ३०, ३५, ४१, ६८, १४९, १५३, १५५, १६०
ज्ञानगुण	१६
ज्ञानचंद्र	१५८, २७३
ज्ञानदीपिका	२०६
ज्ञानप्रकाश	२२५
ज्ञानप्रवाद	८८
ज्ञानमार्गणा	१३५
ज्ञानविजय	१६७
ज्ञानसार	२६२
ज्ञानार्णव	१५, १६, २४७, २८५
ज्ञानार्णवसारोद्धार	२४८
ज्ञानावरणीय	१६, २१, २२, ४५
ज्ञानी	१६२
ज्योतिष्क	३४
ज्वालामालिनीकल्प	३१०, ३१६
ज्वालिनीकल्प	३११, ३१६,
ज्वालिनीमत	३१६
ज्वालिनीमतवाद	३१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
झ	
झंझा	९५
झाणज्झयण	२५०
झाणसय	२५०
ट	
टोडरमल	१८१, २०३
टोडरमल्ल	११०, १४१, १४२
ठ	
ठिइ-बंध	२६६
ठिदि-अणुभागविहत्ति	९०
ड	
डार्विन	१०
ढ	
ढींपुरी	३२३
त	
तन्त्र	२९३
तंदुल-मत्स्य	१६२
तक्षक	३१४
तत	८३
तत्तपयासग	२२०
तत्त्व	१०
तत्त्वकौमुदी	२०९
तत्त्वचिंतामणि	१८७
तत्त्वत्रयप्रकाशिनी	२४८
तत्त्वदीपिका	१५७
तत्त्वप्रकाशक	२२०
तत्त्वप्रकाशिनी	१७९
तत्त्वार्थभाष्य	६६
तत्त्वार्थ-श्रद्धान	१७
तत्त्वार्थसार	१५०, १८१
तत्त्वार्थसूत्र	७२
तन	१४
तनु	२६
तप	१७८
तपश्चर्या	१६२
तपागच्छ	१८०, १८२, १८७, १८८, २०२, २१२, २४६, २७९
तपोरत्न	२११
तपोविधि	२७३
तप्ततपोजिन	५१
तरंग	२००
तात्पर्यवृत्ति	१५०, १५२, १५५, १५७
तारंगा	३२४
तारा	७१
ताराचन्द्र	२१३
तार्किकार्क	६०
तिक्त	१९
तित्थमालाथवण	३२४
तित्थयरभत्ति	२९४
तिर्यंच	१९, २६, ३१, ३४, ३७, ७३
तिर्यंचगति	३१
तिर्यंचानुपूर्वी	२०
तिर्यंचायु	१९
तिलक	२४५
तिलकसूरि	२१०
तिलकाचार्य	२९८, ३०१
तिलोयपण्णत्ति	१००
तीर्थंकर	२०, ५०, १४९, १६०, १७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
तीर्थंकर-नामकर्म	१६२	त्रिपिटक	९, १०
तीर्थंकरभक्ति	२९४, २९६	त्रिपुरभैरवी	३१२
तीर्थंकरातिशयविचार	३२३	त्रिपुरा	३१२
तीर्थ	१६०, २९३	त्रिलोकप्रज्ञप्ति	१००
तीर्थकल्प	३२१	त्रिलोकसार	१३४
तीर्थमालाप्रकरण	३२४	त्रिवचनयोगी	४०
तीर्थमालास्तवन	३२४	त्रिशला	७८
तीर्थोच्छेद	१७५	त्रिषष्टिमहापुराण	३११
तीर्थोत्पत्ति	७७	त्रिषष्टिशलाकापुराण	३११
तीव्रता	२२	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	२०६
तुंबुलूर	६०	त्रींद्रिय	१०, ३२
तुंबुलूराचार्य	९९, १०९	त्रैलोक्यदीपिका	१७३
तुलादंड	२७४	त्वरिता	३१२
तुषमाष	१६२	**थ**	
तुष्टि	१९	थयपरिण्णा	२७०
तूण	१७५	थारापद्र	१८४
तृतीयमहादण्डक	२९, ४६	थावच्चा	२८९
तृष्णा	९६	थोक	१४७
तेजपाल	३१९	थोकड़ा	१४६,१४७
तेजसिंह	१८२	**द**	
तेजस्कायिक	३२	दंड	१७५
तेजोलेश्या	३६	दंडक	१६२
तेरापंथी	१४६, २५७	दंडकप्रकरण	१७३
तैजस	१९, २६	दंडवीर्य	२१३, २९०
तोतला	३१२	दंतकर्म	५२
त्रस	२०, ३२	दंतपंक्ति	२८
त्रसकायिक	३२	दंसण-पाहुड	१५८
त्रसदशक	१९, २०	दंसणमोहणीय-उवसामणा	९०
त्रिकरणचूलिका	१३९	दंसणमोहणीयक्खवणा	९०
त्रिचूलिका	१३८	दंसणसार	२७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
दंसणसुद्धि	२०९, २८६
दक्षिण	७३
दक्षिणप्रतिपत्ति	७३
दक्षिणापथ	२८
दत्त	२३७, ३१८
दत्तदुहिता	२१५
दमदंत	२५३
दयालजी गंगाधर भणसाली	२२१, २२२
दयासिंहगणी	१७३
दरिसणसत्तरि	२०९
दरिसणसुद्धि	२०९
दर्प	९६
दर्पण	२८३
दर्पणनिमित्त	३१३
दर्शन	५, १२, १६, १७, ३०,-३६, ४२, ७४, १५५, १६०
दर्शनगुण	१६
दर्शनप्राभृत	१५८
दर्शनमार्गणा	१३५
दर्शनमोह	१७
दर्शनमोहक्षपणा	९६
दर्शनमोहनीय-उपशामना	९०
दर्शनमोहनीय-क्षपणा	९०
दर्शनलब्धि	१४१
दर्शनशुद्धि	२०९, २८६
दर्शनसप्तति	२०९
दर्शनसार	२७१
दर्शनसारदोहा	२७१
दर्शनावरण	१५, १६

शब्द	पृष्ठ
दर्शनावरणीय	२१, २२, ४५
दलसुखभाई मालवणिया	२५१
दलसुख मालवणिया	५
दलिक	१७
दवदन्ती	२१५, २१७
दव्वसंगह	२५१
दशपूर्विजिन	५१
दशभक्ति	२९३
दशभक्त्यादिसंग्रह	२९३
दशलक्षणव्रतोद्यापन	३०५
दशलक्षणोद्यापन	३०५
दशलाक्षणिकव्रतोद्यापन	३०४
दशवैकालिक	६४, ६५
दशार्णभद्र	२१४, २८९
दसभत्ति	१४८
दाणसीलतवभावणाकुलय	२१२
दाणाइकुलय	१८५, २७९
दाणुवएसमाला	२१२
दान	२०, १८४, २१२
दानप्रदीप	२१२
दानशीलतपभावनाकुलक	२१२
दानषट्त्रिंशिका	२९६
दानांतराय	२०
दानादिकुलक	१८५
दानोपदेशमाला	२१२
दामन्नक	२१९
दामोदर गोविन्दाचार्य	२१७, २१८
दिक्खापयरण	२२०
दिक्प्रदा	२७२
दिगम्बर	२७, १४८
दिगम्बर जैन-व्रतोद्यापनसंग्रह	३०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
दिट्ठिवाय	१४५
दिनचर्या	२१७
दीक्षा	२८, १७६, २७३
दीघनिकाय	९, १०
दीपचन्द	२४८, २६४
दीपसागर	३१९
दीपायन	१६२
दीपालिका	३१८
दीपालिकाकल्प	३१८
दीपावली	३१९
दीपिका	२८८
दीप्ततपोजिन	५१
दुःख	५, १२, १६, १७
दुःप्रसह	३०७
दुःशय्या	१७६
दुःस्वर	२०
दुरभिगंध	१९
दुर्गस्वामी	१९४
दुर्भग	२०
दुवालसकुलय	२२६
दुषमा	७८
दूष्य	१७५
दृढप्रहारी	२४५
दृष्टिवाद	२७, ६५, ६६, १४५
दृष्टिविषजिन	५१
देव	१९, २६, ३१, ३४, ३७, १६०, १७६, १७७, २९०
देवकुरु	१६८
देवगति	३१, ४०
देवगुप्तसूरि	२७५
देवचन्द्र	११४, २४८, २६४, २८२
देवचन्द्रसूरि	१७९
देवपाल	२१७
देवप्रभसूरि	१७९
देवभद्र	१६९, २१०, २५८, २८६, ३०१
देवप्रभसूरि	१७३, १७६, १९८, २८५
देवराज	२९७
देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण	११४
देवविजय	१८०
देवविजयगणी	२१२
देवसुन्दरसूरि	१८२, १८७, २४६, २८७
देवसूरि	१८३, १८४, १९४, २८७, २९२, २९६
देवसेन	२७१, २८४
देवानन्द	१६९, १७०, ३२०
देवानन्दगच्छ	१९८
देवानुपूर्वी	२०
देवायु	१९
देवी	३४, १७६
देवेन्द्र	१९२
देवेन्द्रकीर्ति	२४८
देवेन्द्रसूरि	११३, १२८, १३२, १८५, १९८, २१२, २७४, २७६, २७९, २८०, २८१, २८८
देशविरति	१८, ९०, ९१
देह	१४
देहड	२२३
दैव	११, १२, १३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
दोवट्टी	१९४
दोष	१५४
दोस	८८
दोहासार	२४०
दौलतरामजी	१८१
द्रमक	२९०
द्रमिलदेश	२८
द्रव्य	११, ३०, ८१, १४९, १५६
द्रव्यकर्म	१२
द्रव्यकृति	३०, ५२
द्रव्यनपुंसक	६७
द्रव्यप्रमाण	२९, ३८, ७०
द्रव्यप्रमाणानुगम	२८, २९, ३८
द्रव्यलिंग	१५२, १६१
द्रव्यसंग्रह	१३४, १५१
द्रव्यसप्तति	२७१
द्रव्यस्त्री	६७
द्रव्यानुयोग	६९, १४७, १४८
द्राविड़	२७१
द्रुमसेन	६४
द्रौपदी	२१५
द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका	२३६
द्वादशकुलक	२२६
द्वादशभावना	२५६
द्वादशभावनाकुलक	२५६
द्वादशानुप्रेक्षा	२५५, २५६
द्वादशारनयचक्र	२२९
द्वितीयमहादंडक	२९, ४६
द्विमुनिचरित	१९६
द्वींद्रिय	१९, ३२
द्वेष	१३, २८, ८३, ९५, ९६, १०१
द्वैपायन	२१५

ध

शब्द	पृष्ठ
धन	८३, २१४
धनद	२२३
धनदत्त	२१३
धनदत्रिशती	२२३
धनदराज	२२३
धनदशतक	२२३
धनदेव	२१३, २१९, २२४, २७६
धनपति	२१४
धनपाल	२१७
धनमित्र	२१९
धनविजयगणी	२६०
धनश्री	२१५
धनसारश्रेष्ठी	२१४
धनेश्वर	२०४, २७९, २९०
धनेश्वरसूरि	११३, १२८, १७९, १९१, १९८, २९८
धन्य	२९०
धम्मविहि	२०४
धम्माधम्मवियार	२२५
धम्मोवएसमाला	१९६
धयारोहणविहि	३०३
धरसेन	२९, ६२, ८०
धरसेनाचार्य	२८, ६४, ७६
धर्म	५, १२, १६, १४९, २१८
धर्मकल्पद्रुम	२१५
धर्मकीर्ति	२११, २२९
धर्मघोष	१७९, १८०, १९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
धर्मघोषसूरि	२१०,२८०,२८६, २८८, ३१९, ३२०, ३२३, ३२४
धर्मचंद्र	२२२, २२३
धर्मतिलक	२९२
धर्मदास	२९०
धर्मदासगणी	१९३, २११
धर्मदेव	१८८, २१२, २१५
धर्मनन्दनगणी	१७३
धर्मपरीक्षा	२७८
धर्मबिंदु	२०३, २७१
धर्मबुद्धि	२१३
धर्ममंडनगणी	२११
धर्मरत्नकरंडक	२०४, २७९
धर्मरत्नटीका	१८५
धर्मरसायन	१९७
धर्मरुचि	१९९, २१३
धर्मलाभसिद्धि	२९२
धर्मविजयजी	२४२
धर्मविधि	२०४
धर्मश्रवण	७५
धर्मसंग्रह	२७१
धर्मसंग्रहणी	२०३
धर्मसर्वस्वाधिकार	२०७
धर्मसार	२०३, २७४
धर्मसूरि	१९१
धर्मसेन	६४, ७९
धर्माधर्म	१२, १३
धर्माधर्मविचार	२२५
धर्मामृत	१८१, २०५, ३०७
धर्मोपदेश	१९३
धर्मोपदेशतरंगिणी	२०२
धर्मोपदेशप्रकरण	२०७
धर्मोपदेशमाला	१९६
धवल	६२, २५६
धवलचंद्र	१७३
धवला	२७, २८, ६०, ६२, ९९
धवलाकार	२९
धातकीखंड	७१, १६८, १६९
धान्य	१७६
धारणा	६९
धृतिषेण	७९
धृतिसेन	६४
धृष्टक	२१९
ध्यानचतुष्टयविचार	२५५
ध्यानदंडकस्तुति	२५४, २६५
ध्यानदीपिका	२४८, २५५, २६४
ध्यानमाला	२५५
ध्यानविचार	२५२
ध्यानशत	२५०
ध्यानशतक	२५०
ध्यानसार	२५५
ध्यानस्तव	२५५
ध्यानस्वरूप	२५५
ध्यानाध्ययन	२५०
ध्रुव	२७
ध्रुवसेन	६४, ७९
ध्वजभुजंग	२१४
ध्वजारोपणविधि	३०३
न	
नंद	२१५, २४५
नंदमणिकार	२०५
नंदि	७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
नंदिमित्र	६४
नंदिरत्नगणी	२०२
नंदिवर्धन	३१८
नंदिषेण	२१५
नंदीगुरु	२५९
नंदीश्वर	१६८, १७८
नंदीश्वरदीप	३२३
नंदीश्वरभक्ति	२९६
नक्षत्र	२८, ७१, १६९
नक्षत्राचार्य	६४, ७९
नग्नत्व	२६१
नपुंसक	६८
नपुंसकवेद	१८, ३५
नपुंसकवेदी	४१
नमस्कारस्वाध्याय	२५२
नमिसाधु	१७२
नमुचि	३१९
नय	३०, ८०, १७६
नयकीर्ति	१५३
नयधनद	२२३
नयविधि	९३
नयविलास	२४८
नयविश्वचक्षु	२०६
नरक	१९, ७५, १७७
नरकगति	३१
नरकानुपूर्वी	२०
नरकायु	१९
नरक्षेत्रप्रकरण	१६९
नरखित्तपयरण	१६९
नरसिंह	१८७, २७७

शब्द	पृष्ठ
नर्मदासुंदरी	२१५, २१७
नलकच्छपुर	२०६
नवतत्तपयरण	१८२, २७५
नवतत्त्वप्रकरण	१८२
नवपदप्रकरण	२७५
नवपयपयरण	२७४, २७५
नवांगीवृत्तिकार	२६९
नाग	७९, ३१४
नागकुमारचरित्र	३११
नागदत्त	३०४
नागपुर	२२४
नागहस्ती	८३, ९१, ९९, १००, १०५
नागाकर्षण	३१४
नागाचार्य	६४
नागेन्द्रगच्छ	१८६, १८७, १९४
नागौर	१९६, २२४
नाणप्पयास	३२५
नाणाग्राम	३२४
नाथ	२६
नाथधर्मकथा	६५, ६६
नाथवंशी	७८
नाथुलाल	२५७
नाना-जीव-अंतर	२९
नाना-जीव-काल	२९
नाम	१५, २६, १९, २१, २२, ३०, ४५, ६३
नामकृति	३०, ५२
नामसम	५२
नारक	१६, २६, १७७
नारकावास	१७७
नारकी	३१, ३५, ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
नारद	२१५	नियमसार	१५४
नाराच	१९	नियामक	९
नाली	१५६	निरयावलीसुयक्खंध	१९२
नासा	२६	निर्गम	९३
नासिक्यपुर	३२३	निर्ग्रंथ	१७६
नास्तित्वगमन	७३	निर्जरा	१५, २३
निकाचन	२२, २६, ३५	निर्माण	२०
निकाचना	११६	निर्यामक	१७५
निकाचनाकरण	११५, १२०	निर्वाण	१३
निक्षेप	३०, ९३	निर्वाणभक्ति	१५५, २९५, २९६
निजात्माष्टक	२४०	निवृत्ति	१९
नित्यमहोद्योत	२०६	निव्वाणभत्ति	२९५
नित्या	३१२	निशीथिका	६४, ६५
निदान	९६	निश्चयनय	१५१, १५२, १८१
निद्रा	१६, १७	निषध	१६८
निद्रानिद्रा	१६, १७	निषेक	११८
निधत्ति	२२, २५, ११६	नीच	२०
निधत्तिकरण	११५, १२०	नीचगोत्र	८४
निधिदेव	२१४	नीचैर्गोत्र	२०
निबंधन	८५	नीतिधनद	२२३
निमित्त	६३	नीतिशतक	२२३
निमित्तभूत	११	नील	१९
निमेष	१५६	नीलगिरि	१६८
नियंत्रक	९	नीललेश्या	३६
नियतविपाकी	२६	नूपुरपंडिता	२१५
नियति	७, ९, ११	नृसमुद्र	१९९
नियतिवाद	६, ७, ९	नेमिचंद्र	१०९, ११०, १३३, १४१, १९८, २०४, २११, २२६, २६५, २७९
नियतिवादी	९		
नियप्पठ्ठग	२४०		
नियम	१२	नेमिचंद्रसूरि	१७४, १८५, २९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
नेमिचन्द्राचार्य	१४०	पंचपरमेष्ठीमंत्रराजध्यानमाला	२५०
नेमिदास	२५०, २५५	पंचमनोयोगी	४०
नेमिनाथ	२०८, २१५, २२४, ३२०	पंचलिंगी	२८६
नेमिनाथचरित	१९६	पंचवत्थुग	२७०, २९७
नैयायिक	१४	पंचवस्तुक	२७०
नोकषायमोहनीय	१८	पंचसंग्रह	१०७, ११०, १२४, १३४, १४१, २०३, २७४
न्यग्रोधपरिमंडल	१९		
न्याय	१३	पंचसुत्तय	२६८
न्यायप्रवेशकव्याख्या	१९२	पंचसूत्रक	३६८
न्यायविजयजी	२३६	पंचसूत्र याने उच्चप्रकाशना पंथे	२६९
न्यायशास्त्र	१२, १६४	पंचसूत्री	२६८
न्यायसूत्र	१०	पंचाध्यायी	२६३
न्यायसूत्रकार	१०	पंचाशक	२७३, २९७
न्यायावतार	१५०	पंचासग	२७१, २७३
प		पंचास्तिकायप्राभृत	७२
पइट्ठाकप्प	३०५	पंचास्तिकायसंग्रहसूत्र	१५६
पइण्णग	१४५	पंचास्तिकायसार	१५६
पउमप्पहचरिय	१७९	पंचेन्द्रिय	१९, ३१, ३७
पंचकल्याणकस्तवन	३२३	पंजिका	६०
पंचगुरुभक्ति	२९४, २९६	पकुधकात्यायन	१०
पंचगुरुभत्ति	२९४	पक्खिसूत्र	२७३
पंचत्थिकायसंगह	१५०	पक्षी	८
पंचत्थिकायसंगहसुत्त	१५६	पच्चक्खाणभास	२७९, २८१
पंचत्थिकायसार	१५६	पच्चक्खाणसरूव	२९६
पंचनियंठी	२६९	पटमंजरी	१८९
पंचनिर्ग्रंथी	२६९	पठन	१६
पंचनिर्ग्रंथीविचारसंग्रहणी	२६९	पडिक्कमणसामायारी	३००
पंचपरमेट्ठिभत्ति	२९४	पडिक्कमणसुत्त	१५५
पंचपरमेष्ठिनमस्कार	३२३	पणवत्थु	२९७
पंचपरमेष्ठी	१५४	पण्णवणा	१४५

शब्द	पृष्ठ
पण्णवणातइयपयसंगहणी	१६७
पतंजलि	२२८, २३७
पद	७४
पदसमास	७४
पदानुसारिजिन	५१
पदार्थ	१६
पदार्थसार	१८७, २७७
पद्धटिका	१८९
पद्धति	६०, ९९
पद्धतिटीका	९९
पद्म	३१४
पद्मचन्द्र	१९८
पद्मदेवसूरि	१७०
पद्मनंदिमुनि	६०
पद्मनंदी	१६८, २४०
पद्मनाभ	१९९
पद्मप्रभ	१५५, २४६
पद्ममंदिरगणी	१५१, १७९
पद्मविजयगणी	१८६
पद्मलेश्या	३६
पद्मानंद	२२२, २२४
पद्मानंदशतक	२२४
पद्मालय	२२२
पद्मावती	३१२
पद्मासन	१६१
परभव	५
परमप्पयास	२३९, २४०
परमभक्ति	१५५
परमयोगीश्वर	२४६
परमागम	२७
परमाणु	१५०, १५७
परमात्म	१५४
परमात्मप्रकाश	२३९, २४०, २८५
परमात्मा	१६२, १६३
परमाधार्मिक	१७७
परमानंद	२५९
परमानंद शास्त्री	२६९
परमानंदसूरि	१११, १२७, १८२, १९८, ३२०
परमावधिजिन	५१
परमेष्ठी	१६२
परलोक	२६
परशुराम	२४५
पराघात	२०
परिकर्म	२७, ६०, ६६
परिग्रहत्याग	१५०
परिग्रहपरिमाण	२१९
परिजित	५२
परिणमन	२५
परिणामान्तरगमन	७३
परिभव	९६
परिमल	२१६
परिमाण	३०, ६३, ७०
परिवर्तन	२२, २५
परिहारविशुद्धि	१७५
परिहारशुद्धिसंयत	३६
परीषह	१६२, १७६
परोक्ष	६८, १५०
परोदय	३०
पर्याप्त	२०, ३२
पर्याप्ति	३३, १३४, १७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
पर्याय	७४, ८१, १४९, १५६	पार्श्वनाथचरित्र	२८५, २८७
पर्यायसमास	७४	पार्श्वर्षि	१२५, १२६
पर्यु षणाविचार	३०४	पार्श्वस्थ	१६१, १८४
पर्यु षणास्थिति	३०४	पार्श्वकिपुर	१८२
पर्व	२९३	पार्श्विलगणी	१९५
पर्वतधर्म	२५७, २५८	पालनकर्ता	११
पल्योपम	१७६	पावा	७८
पवज्जविहाण	३२०	पासत्थ	१६१
पवयणसार	१४९, १५३	पासनाहथोत्त	२११
पवयणसारुद्धार	१७४	पाहुड	१०१, १४५, १५८
पवोलिनी	२२२	पिंड	१७६
पांडव	२८४	पिंडनिज्जुत्ति	२८५
पांडु	७९	पिंडप्रकृति	१९, २०
पांडुस्वामी	६४	पिंडविधि	२७३
पाक्षिक-सप्तति	२९६	पिंडविशुद्धि	२८८
पाखंडी	१७७	पिंड विसुद्धि	२८८
पाटलिपुत्रनगर	३२३	पिंडविसोहि	२८८
पाठक रत्नाकर	१६६	पिंडैषणा	१७६
पाणिपात्रता	१६०	पुंडरीक	६४, ६५
पातालकलश	१७८	पुण्य	१३
पादलिप्तसूरि	३१९	पुण्यकर्म	२२
पानैषणा	१७६	पुण्यकीर्ति	२१५
पाप	१३	पुण्यपाल	२१५, ३१८
पापकर्म	२२	पुण्यविजयजी	२३७
पापस्थान	१७७	पुद्गल	१२, १४, १४९, १५७
पारलौकिक	१०	पुद्गल-परमाणु	१४
पारसिक	८३	पुद्गलपरावर्त	१७६
पार्श्वचंद्र	१७०, २०४, २७९	पुनर्जन्म	२६
पार्श्वदेवगणी	१९२, ३२३	पुरुष	८, ९, १२, १८, ६८, १५२, १७८
पार्श्वनाथ	३२३		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
पुरुषवाद	११
पुरुषवादी	११
पुरुषविशेष	११
पुरुषवेद	१८, ३५, ४६
पुरुषवेदी	४१
पुरुषार्थ	११
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	१५०, १८०
पुव्व	१४५
पुव्वगय	१४५
पुष्कर	७१
पुष्करवर	१६९
पुष्करार्ध	१६८
पुष्पदंत	२८, २९, ६२, ६४, ८०, १०९
पुष्पदंताचार्य	७६
पुष्पभूति	२५४
पुष्पमाला	१९६
पुष्पावली	२८
पुस्तक	१७५
पूजा	२८, २७३
पूजाविधि-प्रकरण	२९३
पूज्यपाद	८१, १५५, १६४, २०५, २३९, २५७, २९४
पूयापंचासग	२२०
पूरणकश्यप	१०
पूर्णभद्र	१७२
पूर्णभद्रगणी	१९०
पूर्णिमागच्छ	२०८, २१५
पूर्व	६३, ७४, १४५, १७६, १७८
पूर्वकृत	११
पूर्वगत	२७, ६६, १४५
पूर्वभव	२६
पूर्वसमास	७४
पूर्वांग	१७८
पूर्वांत	२७
पृथिवी	७२
पृथिवीकाय	७०
पृथिवीकायिक	७१
पृथ्वी	७, ८, १०, ३४, ३७
पृथ्वीकायिक	३२
पृथ्वीदेवी	१९८
पृथ्वीपाल	२९१
पेज्ज	८८
पेज्जदोष	८८
पेज्जदोषप्राभृति	८८
पेज्जदोस	८०, ९०
पेज्जदोसपाहुड	८८, १००
पोतकर्म	५२
पोसटविहिपयरण	३००, ३०१
पोसहियपायच्छित्तसामायारी	३०१
पौद्गलिक	१६
पौराणिक	१२
पौषधविधिप्रकरण	३००
पौषधिकप्रायश्चित्तसामाचारी	३०१
प्रकरण	१४५
प्रकरणसमुच्चय	१८८
प्रकर्ष	९६
प्रकीर्णक	१४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
प्रकृति	१२, १४, १७, १९, ३०, ५६, १२८, १३०, १३१, १५२
प्रकृति-अनुयोगद्वार	५७
प्रकृतिबंध	२२, ३०, ५८, ७६, ११७, १२८, १३२
प्रकृतिविभक्ति	९०, १०१
प्रकृतिसमुत्कीर्तन	२९, ४५, १३७
प्रकृतिस्थान	१२८
प्रचला	१६, १७
प्रचलाप्रचला	१६, १७
प्रजापति	८
प्रज्ञा	८
प्रज्ञापना	८२, १४५
प्रज्ञापनातृतीयपदसंग्रहणी	१६७
प्रज्ञापुंज	२०६
प्रज्ञाश्रवणजिन	५१
प्रणिधिकल्प	२७
प्रणेता	२८
प्रतिक्रमक्रमविधि	३०३
प्रतिक्रमण	६४, ६५, १५२, १५४, १७५, १८४
प्रतिक्रमणगर्भहेतु	३०३
प्रतिक्रमणसामाचारी	३००
प्रतिक्रमणहेतु	३०३
प्रतिग्रहस्थान	९४
प्रतिपत्ति	७४
प्रतिपत्तिसमास	७४
प्रतिमा	१७६
प्रतिमास्तुति	३२४
प्रतिवासुदेव	१७७

शब्द	पृष्ठ
प्रतिष्ठा	२७३
प्रतिष्ठाकल्प	३०५, ३०६
प्रतिष्ठानपुराधिपति सातवाहन	३२३
प्रतिष्ठानपत्तन	३२३
प्रतिष्ठासंग्रहकाव्य	३०३
प्रतिष्ठासारसंग्रह	३०७
प्रतिष्ठासारोद्धार	३०७
प्रत्यक्ष	१०, ६८, ६९, १५०
प्रत्यय	३०, १३९
प्रत्याख्यानकल्पविचार	१७३
प्रत्याख्यानभाष्य	२८१
प्रत्याख्यानसिद्धि	२९०
प्रत्याख्यानावरण	१७८
प्रत्येक	२०
प्रत्येकप्रकृति	१९, २०
प्रत्येकशरीर	३२
प्रथममहादण्डक	२९, ४६
प्रथमानुयोग	२७, ६६
प्रदीपिका	१६७
प्रदेश	१४, २२, १३०, १५०
प्रदेश-बंध	१४, २२, ३०, ५९, ११७, १३२
प्रदेशविभक्ति	१०२
प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीणप्रदेशस्थित्यन्तिकप्रदेश	९०
प्रदेशी	२०५, २१५, २८९
प्रद्युम्न	१९८
प्रद्युम्नसूरि	१७४, २८१, ३२०
प्रबोधचिन्तामणि	१९९
प्रभाचन्द्र	८१, १५१, १५३, १५८, २०३, २४०, २५७, २५८, २७२, २७३, २९४, २९५

२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
प्रभानन्दसूरि	१७१	प्राकृतमूल	२०७
प्रमत्तसंयत	३१	प्राच्यतट	२००
प्रमाण	१०, ७०, ८०, १७८	प्राण	१३४, १७७
प्रमाणप्रकाश	१७९	प्राभृत	७४, १०१, १४५
प्रमाद	१७७	प्राभृतत्रय	१४९
प्रमेय	१५०	प्राभृतप्राभृत	७४
प्रमेयकमलमार्तंड	११	प्राभृतप्राभृतसमास	७४
प्रमेयरत्नाकर	२०६	प्राभृतसमास	७४
प्रमोदकुशलगणी	२२२	प्रायश्चित्त	१५४, १७६, २७३
प्ररोह	११	प्रारब्ध	२५
प्रलय	११	प्रार्थना	९६
प्रवचनसरोजभास्कर	१५१	प्रीतिविजय	३०८
प्रवचनसार	१४८, १४९, १७४	प्रेम	८३
प्रवर्तिनी	१७५	प्रेमविजयगणी	११४
प्रवृत्ति	१२, १४	प्रेय	९६, १०१
प्रवेश	३९	प्रेयोद्वेष	९०
प्रव्रज्या	१६०, १६१	प्रेयोद्वेषप्राभृत	८८, १००
प्रव्रज्याकुलक	३२०	प्रेयोद्वेषविभक्ति	९३
प्रवज्याविधान	३२०	प्रोष्ठिल	६४, ७९
प्रशमरति	२६७	**फ**	
प्रशस्तविहायोगति	४६	फल	२१
प्रश्नव्याकरण	६५	फलवर्द्धिपार्श्वनाथ	३२३
प्रश्नव्याकरणांग	६६	फूलचन्द्र	२७
प्रश्नोत्तररत्नमाला	१९१		
प्रश्नोत्तरशत	२९९	**ब**	
प्रसन्नचंद्र	२५३	बंध	३०, ५६, ५७, ७६, ९०, १२८, १३०, १५०
प्रसन्नचन्द्रसूरि	२८५		
प्रसारण	१२	बंधक	४८, ५७, ७६, ९०, ९३, १०२, १२५
प्रस्थानत्रय	१४९		
प्राकृत	२९	बंधग	९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
बंधन	६, १९, २२, २३, २५, ५६, ७६, ११६, १२५	बारह-भावना	३०५
बंधन-अनुयोगद्वार	५७	बालचंद्र	१५३, २१६
बंधनकरण	११५, ११६	बालचंद्रसूरि	१९८
बंधनीय	३०, ५६, ५७, ७६	बाहु	१६२
बंधविधान	५७, ७६	बाहुबली	१३४, १६१, २१६
बंधविधि	१२५	बाहुमा	२१७
बंधव्य	१२५	बिंदुसार	३१८
बंधशतक	१२७	बीजबुद्धिजिन	५१
बंधस्थान	४५	बुद्ध	१६२
बंधस्वामित्व	१११, १२७, १३०	बुद्धचरित	८
बंधस्वामित्व-अवचूरि	११३	बुद्धर्षि	५१
बंधस्वामित्वविचय	२९, ३०, ५०,७६	बुद्धिल	६४
बंधहेतु	१२५	बुद्धिल्ल	७९
बंधहेतूदयत्रिभंगी	११४, १३३	बुद्धिसागरसूरि	१८३
बंधषेण	३१५	बृहट्टिप्पनिका	१९७
बंधोदयसत्ताप्रकरण	११४, १३७	बृहत्संग्रहणी	१७१
बंधोदयसत्त्व	१३७	बृहत्ह्रींकारकल्प	३०९
बंधोदयसद्युक्तस्तव	१२७	बृहद्गच्छ	१९१, १९८
बंभनपाड	३२४	बृहन्मिथ्यात्वमथन	२०९
बप्पदेव	६१	बोधपाहुड़	१४८, १५८, १६०
बप्पदेवगुरु	९९	बोधप्राभृत	१६०
बप्पदेवाचार्य	१०५	बौद्ध	९, १२, २६,
बल	९	ब्रह्म	११, १२
बलदेव	१७७, २८३	ब्रह्मचर्य	१७७
बहिरात्मा	१५५	ब्रह्मदत्त	२४५
बहुकथासंग्रह	२०७	ब्रह्मदेव	१५७, २४०
बादर	२०, ३१, ३२	ब्रह्मवाद	११
बादरकायिक	३२	ब्रह्मशान्ति	१८४
बारसाणुवेक्खा	२५५	ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय	२३०, २३३
बारसानुवेक्खा	२५६	ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय	२३७
		ब्रह्मा	२१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
भ	
भक्ति	१५५
भक्ष्य	१७८
भगवई आराहणा	२८२
भगवती आराधना	२५६, २८२
भगवतीसूत्र	९
भगवद्गीता	९, २३५
भगवानदास म० महेता	२३५
भट्टारक	२८
भडोंच	३२४
भत्तपरिण्णा	२८५
भद्र	२१३
भद्रबाहु	६४, ७९, १४८, १६१, २५१
भद्रबाहुस्वामी	३०५
भद्रेश्वर	१९८
भद्रेश्वरसूरि	१७९, ३२०
भय	१८, ४६
भयस्थान	१७७
भरत	१३८, १६८, २४५
भरतक्षेत्र	७९, ८०, १७५
भरतेश्वर	२५३
भरतेश्वराभ्युदय	२०६
भव	६, १६
भवनवासी	३४
भवभावणा	२०७
भवभावना	२०७
भवस्मरण	७४
भविष्य	९
भव्यकुमुदचन्द्रिका	२०६
भव्यत्व	३०, ३७, ४२
भव्यमार्गणा	१३५
भव्यसिद्धिक	३६
भव्यसेन	१६२
भाईदूज	३१८
भागचंद्र	२७६
भागप्रमाण	३८
भागाभागानुगम	२९, ३०
भाग्य	११, १२, १३
भानुचन्द्रगणी	२१८
भानुविजयजी	२६९
भारत	५, १३८
भारत-भूषण	२१६
भारतीयकल्प	३१६
भालचन्द्र	२९०
भाव	२९, ३०, ८१, १५६
भावकर्म	१२
भावकृति	३०, ५२
भावचरित्र	२२२
भावचूलिका	१३९
भावड	२८९
भावदेवसूरि	२८७
भावना	१२, १७५, २५५
भावनाद्वात्रिंशिका	२८५
भावनासंधि	२०८
भावनासार	२०८
भावनासारसंग्रह	२९१
भावपाहुड	१५८, १६१
भावप्रकरण	१५८, १६१
भावप्रमाण	३८, ७०
भावप्राभृत	१६१

शब्द	पृष्ठ
भावलिंग	१६१
भावविजय	२५५
भाववेद	६७
भावसंयम	६७
भावसुंदर	१६६
भावस्त्री	६७
भावानुगम	४४
भावाभाव	१५६
भाषा	८३, १७६, १७७
भास्करनंदी	२५५
भास्करबंधु	२३७
भास्करविजय	२८९
भिक्षाचर्या	१७६
भित्तिकर्म	५२
भिन्नमाल	१९८, ३२४
भिल्लय	२७१
भीम	२१४, २१९
भुवनभानु	२०८
भुवनसुंदरसूरि	२९०
भूगोल	१६९, १७२
भूत	७, ८, ९
भूतचतुष्टय	१०
भूतबलि	२८, २९, ६२, ६४, ८०, ८५, १०९
भूतवाद	१०
भूतवादी	१०
भूतार्थ	१५२
भूधर	१८१
भूपालचतुर्विंशतिका	२०६

शब्द	पृष्ठ
भूयस्कार	१३२
भूयस्कारादिविचारप्रकरण	११४
भेंडकर्म	५२
भेरंडविद्या	३१४
भैरवपद्मावतीकल्प	३१०, ३११
भोक्ता	६
भोग	६, २०
भोगदेव	२१४
भोगांतराय	२०
भोगीलाल अमृतलाल झवेरी	२२१, २२२
भोग्य	२१
भोजन	१७६
भोजप्रबंध	२०२
भौतिक	१६
भौतिकवाद	१०
भौम	२७
भ्रातृद्वितीया	३१८
म	
मंखली गोशालक	९
मंगरस	२११
मंगल	६३
मंगलमंत्र	३०, ५९
मंडपदुर्ग	२२३
मंडली	१७६
मंडिक	२४५
मंत्र	२९३
मंथर	२९०
मंदता	२२
मंदप्रबोधिनी	१४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
मकड़ी	११
म० कि० मेहता	२५६
मणिलाल दोशी	२०४
मणिलाल न० द्विवेदी	२३३, २५७
मति-अज्ञान	६९
मनिचंद्र	११३
मतिज्ञान	१६, ६८, ७४
मतिज्ञानावरण	१६
मतिवर्धन	१८६
मतिसागरसूरि	२८७
मत्यज्ञान	३६
मत्यज्ञानी	३५
मथुरा	२७६, ३२४
मथुरापुरी	३२३
मथुरासंघ	२२१
मद	९६, १७७
मदन	२१४
मदनकीर्ति	२०६
मदनचंद्रसूरि	१९६
मदनरेखा	२१५
मदनसूरि	३२१
मदिरावती	२१८
मधुपिंग	१६१
मधुर	१९
मधुस्रविजिन	५१
मध्यमवाद	७
मन	१३, १४, १६
मनःपर्यय	१६
मनःपर्ययज्ञान	६९
मनःपर्ययज्ञानी	३५
मनःपर्यव	१६
मनःपर्यायज्ञान	१६
मनःपर्यायज्ञानावरण	१६
मनःस्थिरीकरण-प्रकरण	११३
मनुष्य	१९, २६, ३१, ३४, ३७, ७३, १५४
मनुष्यगति	३१, ३९
मनुष्य-जीवन	१०
मनुष्यानुपूर्वी	२०
मनुष्यायु	१९
मनोज्ञमार्गण	९६
मनोबलिजिन	५१
मनोयोग	३२
मनोयोगी	३२
मन्तव्य	११
मयरहियथोत्त	२९२
मरण	५, १२
मरणकरंडिका	२८३
मरणसमाहि	२५५
मरहट्ठ	८३
मरुदेवा	२५४
मरुदेवी	२४५
मरोट	२११
मलधारीदेव	१५५
मलधारी हेमचन्द्र	१२७
मलधारी हेमचन्द्रसूरि	११२, १६४, १९३, १९६, २०७
मलयगिरि	११०, १११, ११२, १२१, १२४, १२६, १२७, १२८, १७२

शब्द	पृष्ठ
मलयगिरिसूरि	१९९, १९१, २०३, २७४
मलयसुंदरीरास	२१५
मलयेंदुसूरि	३२१
मल्लिनाथ	२१५
मल्लिभूषण	१५९, २११, ३१६
मल्लिषेण	१५१, १५८, ३१०, ३११
महण सिंह	२९०
महबंध	२९
महाकम्मपयडिपाहुड	२८, ८०
महाकर्मप्रकृतिप्राभृत	२७, २८, ७६, १०६, १०९
महाकर्मप्रकृतिप्राभृतकार	८९
महाकल्प	९
महाकल्पिक	६४, ६५
महातपोजिन	५१
महादण्डक	४६
महाधवल	३०
महापुंडरीय	६४, ६५, ३१४
महापुराण	३११
महाबंध	२७, ३०, ५८, ८६
महाभारत	८, ९
महाभिषेक	३०४
महावीर	६३, २०६, २१३, २४५
महावीरगणधर	३२३
महावीर-चरित	७७
महावीरस्वामी	३१८
महाव्रत	१५४, १७५
महासेन	२१८
महाहिमवत्	१६८
महिमानगरी	२८
महीना	१७६
महेन्द्रकुमार जैन	८, ११
महेन्द्रप्रभसूरि	१९९, ३२४
महेन्द्रसिंहसूरि	३२४
महेन्द्रसूरि	११३, ३२१, ३२४
महेश्वरसूरि	१९१, २९६
माइल्लधवल	२७१, २८५
मांडवगढ़	२०६
मागध	८३
माघनन्दी	१८७, २७७, ३०५
माघमाला	१८४
माणिक्यप्रभ	२८८
माणिक्यशेखर	१८२
माणिक्यसुंदर	२०८
माथुर	२८५
माथुरा	२७१
माधवचन्द्र	११०, १४२
माधवसेन	१५५, २२१, २७६, २८५
माधवाचार्य	२१७
मान	१८, ८३, ९५, ९६, १०३, १७८
मानकषायी	३५
मानकीर्तिगणी	२२०
मानखेड	३१६
मानदेवसूरि	२७५, ३०३
मानविजयगणी	१८२
मानुषोत्तर	७१
मान्यता	७

शब्द	पृष्ठ
माया	१२, १८, ८३, ९५, ९६, १०३
मायाकषायी	३५
मार्गणा	१३०, १३५, १७७
मार्गणास्थान	३०, १३१
मार्गप्रकाश	१५५
मार्गविशुद्धि	२७०
मालव	८३
मास	१५६
मित्रनंदी	२८३
मिथिलातीर्थ	३२३
मिथ्याज्ञान	१४
मिथ्यात्व	१४
मिथ्यात्वमोहनीय	१७
मिथ्यादृष्टि	३१, ३७
मिथ्याधारणा	११
मिश्रमोहनीय	१७
मुंज	२०८
मुकुटसप्तमी	२९८, ३०२
मुक्ति	१२
मुखवस्त्रिका	२४२
मुणिसुव्वयचरिय	१७३
मुनि	१५०
मुनिचंद्रसूरि	११०, ११३, १२८, १८३, १८७, १९१, १९५, २०४, २२४, २२५, २६९, २७१, २९६, ३२४
मुनिदेव	१९६
मुनिपतिचरित	२७२
मुनिभद्र	१९२
मुनिवर	२८
मुनिशिक्षास्वाध्याय	३०५
मुनिशेखरसूरि	११३, १३२
मुनिसागर	२१५
मुनिसुंदर	३१९
मुनिसुंदरसूरि	२००, २०९, २५९, २९०, ३२४
मुनिसुव्रत	२१३
मुनिसुव्रतचरित	१७३
मुनिसुव्रतस्वामीचरित	२९८
मूर्च्छा	९६
मूल	१५, २१
मूलग्रन्थकर्ता	२८
मूलदेव	२०५
मूलवृत्ति	१६६
मूलशुद्धि	२८१
मूलसंघ	२५६
मूलसुद्धि	२८१
मूलाचार	७२, १५५, २५६, २६९
मूलायार	२६९
मूलाराधना	२०६, २८२
मूलाराधनादर्पण	२८३
मूलाराहणा	२८२
मृगावती-आख्यान	३०५
मृत्यु	५, १७६
मृदु	२०
मृषामनोयोग	३२
मृषावचनयोग	३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
मेघचंद्र	२५८, २६९
मेघनन्दन	१६६
मेघविजयगणी	१८०
मेतार्य	२१३
मेरु	१६८
मेरुतुंग	१९९
मेरुतुंगसूरि	११२, १२८, १८२
मेरुवाचक	११२, १९१
मेरुविजयगणी	२२०
मेरुसुंदर	१९७, २१२, २१५, २२१
मेरुसुंदरगणी	२४७
मोक्खपाहुड	१५७, १५८, १६३
मोक्ष	१३, १६२
मोक्षप्राभृत	१६३
मोक्षस्थान	१४१
मोक्षोपदेशपंचाशत	२२४
मो० गि० कापड़िया	२६०
मोतीचंद्र गि० कापड़िया	२३६
मोतीचन्द्र गिरधरलाल कापड़िया	२५६
मोह	२८, ८३
मोहनलाल शास्त्री	२०५
मोहनीय	१५, १७, २१, २२, ४५
मोहराजपराजय	२४३
मौर्यवंश	३१८

य

शब्द	पृष्ठ
यंत्रराज	३२१
यंत्रराजरचनाप्रकार	३२१
यंत्रराजागम	३२१
यक्ष	१२, १७५, २१४
यज्ञयाग	८
यतिजीतकल्प	२८७, २९८
यतिदिनकृत्य	२८६
यतिदिनचर्या	२८७
यतिवृषभ	८२, ९९, १००, १०४, १०९
यतिसामाचारी	२७३, २८७
यथाख्यातचारित्र	१८
यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत	३६
यथाजात	१७६
यथालंदिक	१७५
यदृच्छा	७
यदृच्छावाद	१०
यदृच्छावादी	१०
यमकस्तुति	१८७
यमदंड	१९०
यल्लाचार्य	३१६
यशःकीर्ति	२०, २११, २५५
यशःश्रेष्ठी	२९०
यशश्चंद्र	२५८
यशस्सेन	२११
यशोघोष	२९२
यशोदहन	२६२
यशोदेव	२०७, २७३, २७५, २८८
यशोदेवसूरि	१७४, २९६, ३१०
यशोबाहु	६४, ८०
यशोभद्र	६४, ८०, १७९, २२६, ३१५
यशोभद्रसूरि	११२, १८३, १९१
यशोविजय	११०, २७०
यशोविजय गणी	१२१, २३६, २४८, २६१, २६२, २६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
यशोविजयजी	१५१, २२१, २२८, २५८
यशोविजयजी गणी	२३९
याकुडी	३२०
याग	८
यात्रा	२७३
यादवसूरि	२५९
यापनीय	२७१
युगपत्	१६
योग	१३, १४, ३०, ३२, ४०, ११६, १२५, १३१, १७७, २२७
योगकल्पद्रुम	२५९
योगतरंगिणी	२५९
योगदर्शन	२२८
योगदीपिका	२५९
योगदृष्टिसमुच्चय	२२९, २३०, २३५
योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र	२५८
योगनिर्णय	२२९
योगप्रकाश	२४५
योगप्रदीप	२४७, २४९
योगबिंदु	२३०
योगभक्ति	१५५, २५८, २९४, २९५
योगभेदद्वात्रिंशिका	२५९
योगमार्ग	२५९
योगमार्गणा	१३५
योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका	२५८
योगरत्नसमुच्चय	२५८
योगरत्नाकर	२५९
योगलक्षणद्वात्रिंशिका	२५९
योगविधानविंशिका	२३८
योगविवरण	२५९
योगविवेकद्वात्रिंशिका	२५८
योगशतक	२३०, २३३
योगशास्त्र	२४२, २७८
योगसंकथा	२५८
योगसंग्रह	२५८
योगसंग्रहसार	२५८, २५९
योगसंग्रहसारप्रक्रिया	२५९
योगसार	२४०, २४१, २४५, २५९
योगांग	२५९
योगाचार	२३०
योगानुशासन	२५८
योगामृत	२५९
योगार्णव	२४७
योगावतारद्वात्रिंशिका	२५८
योगिचंद्र	३४०
योगिरमा	२४५
योगींद्र	२३९, २४०
योगींद्रदेव	२४०
योगोपयोग-मार्गणा	१२५
योनि	३४, १७६
योनिप्राभृत	८४

र

शब्द	पृष्ठ
रआनलदेवी	१९८
रंक	२९०
रंगविलास	२६०, २६१
रक्तपद्मावती	३१५
रक्षा-विधान	३१४
रज्जु	२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
रणयत्तयकुलक	२२४	रथनेमि	२१५
रणरंगसिंह	२९१	रम्यक	१६८
रणशूर	२१८	रविप्रभ	१७९
रणसिंह	१९४	रविव्रतोद्यापन	३०४
रतन	३२०	रस	१९, २४, १३०
रति	१८, ४६	रसबंध	२२, ११७
रतिसुन्दरी	२१५	रसाउल	२२४
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	२७२	रसाउलगाहाकोस	२२४
रत्नकीर्ति	२८५	राग	१३, २८, ८३, ९६, १५७
रत्नचंद्र	१८२	रागद्वेष	१४
रत्नचंद्रगणी	२०९, २६०	राजकन्याओनी गणितनी परीक्षा	२९१
रत्नत्रय	१६२	राजकन्याओनी परीक्षा	२९१
रत्नत्रयकुलक	२२४	राजकीर्तिगणी	२१९
रत्नत्रयविधान	२०६	राजकुमार शास्त्री	२६८
रत्नत्रयविधि	३०७	राजमल्ल	२६३
रत्नदेवगणी	२२३	राजविजयगणी	२१२
रत्नपाल	१८२	राजहंस	२४९
रत्नप्रभसूरि	१९४	राजीमतीविप्रलंभ	२०६
रत्नमंदिरगणि	२०२	रात्रि-जागरण	१७६
रत्नमहोदधि	२१०	रात्रिभोजन	५३
रत्नमालिका	१९१	रात्रिभोजनविरमण	२१८
रत्नमूर्ति	२१५	रामचन्द्रगणी	१९५, २८९
रत्नलाभगणी	२१९	रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री	२९१
रत्नवाहपुर	३२३	रामदेव	११२, १२८
रत्नशेखरसूरि	१६९, २२०, २५४, २६४, २६५, २८८, २८९, २९०, ३१७	रामदेवगणी	१९०, १९१
		रामविजयगणी	१८०, १९३
		रायमल्ल	१५३
		रिखबदास जैन	२३९
रत्नसार	२१९, २८९	रिपुमर्दन	२१५
रत्नसिंहसूरि	३१८	रुक्मिन्	१६८
रत्नसूरि	२६०	रुद्रपल्लीय	१८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
रुद्रपल्लीयगच्छ	२१४
रूक्ष	२०
रूपचन्द्र	१७४
रूपी	१६
रैवतकगिरि	३२३
रोष	९५
रोहिणी	२१५
रौरव	१६२
ल	
लक्ष्मण	२९०
लक्ष्मीतिलकगणी	२७७
लक्ष्मीपुंज	२१८
लक्ष्मीविजय	११४
लक्ष्मीसागरसूरि	२१८
लक्ष्मीसेन	२९७
लघु	२०
लघुक्षेत्रसमास	१६९
लघुप्रकरणसंग्रह	१८२
लघुप्रवचनसारोद्धार-प्रकरण	१७३
लघुशालिभद्र	२१८
लघुसंग्रहणी	१७३
लब्धि	१७८
लब्धिसार	११०, १३४, १४१
ललितकीर्ति	२१५
ललितविस्तरा	२३०
लवणशिखा	१७८
लवणसमुद्र	७१, १६८, १६९
लाट	१७३
लाटी-संहिता	२६३
लाढ	८३
लाभकुशलगणी	२१२
लाभांतराय	२०
लालसा	९६
लालसाधु	२१४
लालाराम	२०६
लावण्यसूरि	२७१
लिंगपाहुड़	१५८, १६४
लिंगप्राभृत	१६४
लीलावती	३१०
लुप्त	२७
लेप्यकर्म	५२
लेश्या	३०, ३६, ४२, ६९, १३१
लेश्यामार्गणा	१३५
लोक	१९, ३०, १७६
लोकनाल	२६५
लोकविभाग	१५५
लोभ	१८, ८३, ९५, ९६, १०३
लोभकषायी	३५
लोयविभाग	१५५
लोहाचार्य	६४, ८०
लोहार्य	६३, ७९
लोहार्याचार्य	६३, ७९
लोहित	१९
व	
वंकचूल	२०५, २१५
वंकचूलि	१९६, २१३
वंचना	९६
वंजण	९०
वंदनकत्रय	१९४
वंदना	६४, ६५, १५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
वंदारुवृत्ति	१२९	वर्धमान ५१, ६३, ८३, १५१, २०४	
वंशीधर शास्त्र	२०३	वर्धमानदेशना	२१८
वक्रगीव	१४८	वर्धमानभट्टारक	२८
वक्रगति	२६	वर्धमानविद्याकल्प	३०९, ३१०
वक्षस्कार	१६८	वर्धमानविद्याकल्पोद्धार	३०८
वघेरवाल	२०६	वर्धमानविद्यापट	३०९
वचन	१४, १७६	वर्धमानसूरि १७९, १८३, १९४, १९५	
वचनबलिजिन	५१		२७९
वचनयोग	३२	वर्वरिक	८३
वचनयोगी	३२	वर्ष	१७६
वज्जालग्ग	२२२	वर्षावास	२८
वज्रऋषभनाराच	१९	वलभी	१६५
वज्रसेनगणी	२९६	वसंतविलास	२०२
वज्रसेनसूरि १७०, २२०, २५४, २६४,		वसति	१७६
	३१७	वसिष्ठ	१६१
वज्रस्वामी	१९३, २१५, २१६	वसुदेवसूरि	२७६
वज्रालय	२२२	वसुनंदी	२६९, २८३, ३०७
वट	११	वस्तु	७४
वट्टकेर	२५६, २६९	वस्तुपाल	३२०
वत्सराज	२३१	वस्तुपाल-तेजपाल	३२३
वद्धमाणदेसणा	२१८	वस्तुसमास	७४
वद्धमाणविज्जाथवण	३०८	वस्त्र	१५, २१, १७६
वनस्पतिकायिक	३२	वस्त्रसहित	६७
वनस्पतिसप्ततिका	१८७	वागड	१८८
वप्पनंदी	३१६	वाग्जड	१८८
वराटक	५२	वाचनोपगत	५२
वर्गणा	३०, ५६, ५७, ११६	वाटग्रामपुर	१०४
वर्ण	१९, २४	वाणी	१३
वर्तमान	१६	वाद	७
वर्तितभाद्रपदपर्युषणाविचार	३०४	वादमहार्णव	१७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
वादिभूषण	२११	विजयकीर्ति	२५६, ३१७
वादिराज	२६४	विजयचंद्रसूरि	१८५
वानव्यंतर	३४	विजयदानसूरि	३०७
वामदेव	१११	विजयधर्मसूरि	२४२
वामन	१९	विजयपाल	२१५, २९०
वायड़गच्छ	२१७	विजयप्रेमसूरि	२६६
वायु	१०	विजयविमलगणी	११४, १३३
वायुकायिक	३२	विजयसिंहसूरि	१९८, १९९, १९६, २२२, २५८
वाराणसी	३२३		
वार्ताली	३१३		
वासना	१२, १४	विजयसेन	१९४
वासुकि	३१४	विजया	१९४
वासुदेव	१७७	विजयाचार्य	६४
वासुपूज्यजिन-पुण्यप्रकाशरास	३०६	विजयोदयसूरि	२२०
विंशतिस्थानकविचारामृतसंग्रह	१८८	विजयोदया	२८३
विंशिका	१८९, २९६	विजयप्पवाय	३१७
विकलादेश	८०	विज्जापाहुड	३१९
विकलेंद्रिय	४८	विज्जाहण	२२२
विकासवाद	१०	विज्ञान	५
विक्रमविजय	२८९	वितत	८३
विक्रियाप्राप्तजिन	५१	विद्या	९६
विग्रहगतिसमापन्न	३८	विद्याचरण	१७५
विचार	१०	विद्यातिलक	२१४
विचारछत्तीसियासुत्त	१७३	विद्याधरजिन	५१
विचारषट्त्रिंशिकासूत्र	१७३	विद्यानन्द-व्याकरण	१९०
विचारसंग्रह	१८७	विद्यानन्दी	१५९, २४८
विचारसार	१७४	विद्यानुवाद	३१०
विचारामृतसंग्रह	१८२, १८७	विद्यानुशासन	३१०
विच्छेद	२८	विद्यालय	२२२
विजय	३५, ७९, १६८, २१३	विद्यासागर	२६०
		विद्यासागरश्रेष्ठिकथा	२२६

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
विद्वद्विशिष्ठ	२४६	विविधतीर्थंकल्प	३२१
विधिकौमुदी	२८९	विविधप्रतिष्ठाकल्प	२९८
विधिचैत्य	१८४	विवेकमंजरी	१९८, २१६
विधिपक्षप्रतिक्रमण	३२४	विवेकरत्नसूरि	१८२, २९७
विधिमार्ग	३०१	विवेकविलास	२१७
विधिमार्गप्रपा	३००, ३०१	विवेकसमुद्रगणी	२८६
विधिविधान	२९३	विवेगविलास	२१७
विनय	१७५	विशाखाचार्य	६४, ७९
विनयचन्द्रसूरि	३०२, ३१८	विशालकीर्ति	१५३
विनयवादी	६६	विशुद्धावस्था	१३
विनयविजयगणी	२३१, २५६	विशेष	३१
विपाक	१५	विशेषणवती	२९६
विपाकसूत्र	६५	विश्राम	१९४
विपाकसूत्रांग	६५	विश्रेणी	२६
विपुलमतिजिन	५१	विश्व	७, ११
विबुधचन्द्र	३१०	विश्वमित्र	२१५
विभंगज्ञान	३६, ६९	विषकुंभ	१५२
विभंगज्ञानी	३५	विषमपद	१७९
विभंगदर्शन	८४	विषमपद-पर्याय	१७९
विभाव-पर्याय	१५४	विषयनिग्रहकुलक	२९०
विमलगच्छ	२२१	विषापहार	३१४
विमलगणी	२१०, २८६	विष्टौषधिप्राप्तजिन	५१
विमलसूरि	१८८, १९१, २२२, २६५	विष्णु	६४, ७९, १६२
विमलसेन	२७१, २८४	विष्णुकुमार	२०५, ३१९
विमानवासी	३५	विसेसणवई	२९६
वियाहपण्णत्ति	२६९	विस्तार	८
विरह	७३, २७४	विहार	१७६
विरोध	६७	विहिमग्गप्पवा	३००, ३०१
विलासवती	२१७	वीतरागस्तोत्र	२४३, २६२
विवाद	९६	वीर	२४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
वीरगणी	२७३, २९६
वीरचन्द्रसूरि	१८४
वीरजिन-हमचडी	३०६
वीरनंदि	१३९, १४१
वीरनंदी	१५५
वीर-निर्वाण	२९
वीरप्रभ	२०८
वीरभद्र	२८५
वीरविजय	२६२
वीरशेखरविजय	२६६
वीरसेन	६१, ७९, ८७, १०३, १०९
वीरसेनगुरु	९९
वीरसेनदेव	२५९
वीरसेनाचार्य	६०
वीरहुंडीस्तवन	३०६
वीर्य	९, १६, २१, ११६
वीर्यांतराय	२०, २१
वीसिया	१८९
वृद्धि	९५
वेद	३०, ३५, ४१
वेदअ	९०
वेदक	९०, ९५, १०२
वेदकसम्यक्दृष्टि	३७
वेदनअन्तरविधान	५४
वेदनअल्पबहुत्व	५६
वेदनकालविधान	५३
वेदनक्षेत्रविधान	५३
वेदनगतिविधान	५४
वेदनद्रव्यविधान	५३
वेदननयविभाषणता	५३
वेदननामविधान	५३
वेदननिक्षेप	५३
वेदनपरिणामविधान	५५
वेदनप्रत्ययविधान	५३
वेदनभागाभागविधान	५६
वेदनभावविधान	५३
वेदनवेदनविधान	५३
वेदनसन्निकर्ष	५५
वेदनस्वामित्वविधान	५४
वेदना	२९, ३०, ५१, ७५
वेदनासमुद्धात	५५
वेदनीय	१५, १६, १७, २१, २२, ४५
वेदमार्गणा	१३५
वेदानुभवन	७४
वेदांत	१२, १४
वेद्य	१७
वेन्नातट	२८
वैक्रिय	१९, २६
वैक्रियिककाययोग	३३
वैक्रियिकमिश्रकाययोग	३३
वैजयंत	३५
वैदिक	२६
वैनयिक	६४, ६५, १६२
वैभारगिरि	३२३
वैयावृत्य	१६२
वैराग्यकल्पलता	२५८, २६२
वैराग्यधनद	२२३
वैराग्यशतक	२२३, २२४
वैशिष्ट्य	९
वैशेषिक	१३, १४, १६४
व्यंजन	९०, ९१, ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
व्यंजनपर्याय	८१	शब्द	१६, ८३, १५७
व्यवहार	१६४, १७६	शम	१४९
व्यवहारनय	१५१, १५२, १८१	शमशतक	२२३
व्याकरण	१६४	शरीर	१०, १३, १६, १९
व्याकरणशास्त्र	१२	शांतरस	२५९
व्याख्यान	२८	शांतसुधारस	२५६
व्याख्याप्रज्ञप्ति	९, ६१, ६५, ६६ ८२, १००, १०६	शांतिचंद्र	२०९
		शांतिनाथ	२१३
व्याघ्रपुर	१८८	शांतिनाथचरित्र	२०८, २८२
व्याघ्रशिशुक	१८७	शांतिभक्ति	२९६
व्याघ्री	३२३	शांतिभद्रसूरि	२८६
व्यापार	१२	शांतिविजयगणी	१८२
व्यास	२२८	शांतिसूरि	१६६, १८४, १८६
व्युच्छित्ति	३०	शामकुंड	६०, ९९
व्रत	१२	शामकुंडाचार्य	१०९
व्रतादिक	२७	शाम्ब	२३०
श		शालिभद्र	२१३, २१६
शंखपाल	३१४	शालिसिक्थ	१६२
शंखपुरपार्श्व	३२३	शाश्वत	९६
शक	८०	शासनदेवी	१७५
शककाल	८०	शास्त्र	१६, २८
शक्ति	९, १६, २१	शास्त्रवार्तासमुच्चय	११, १२१
शतक	१०७, ११५, १२४, १२७, १३१	शास्त्रसारसमुच्चय	१८७, २७७
		शाहजहाँ	१५१
		शिखरिन्	१६८
शत्रुंजय	२०२, ३२४	शिव	१६२
शत्रुंजयकल्प	३१९	शिवकुमार	१६२, २८९
शत्रुंजयकल्पकथा	३१९	शिवकोटि	२५६, २८३
शत्रुंजयकल्पकोश	३१९	शिवदेवसूरि	२०८
शत्रुंजयतीर्थ	३२३	शिवनिधानगणी	१७३
शत्रुंजयबृहत्कल्प	३१९	शिवप्रभ	२९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
शिवभूति	१४८, १६२, २८४
शिवमंडनगणी	२०९
शिवशर्म	१२३
शिवशर्मसूरि	११०, ११२, ११४, १२७
शिवार्य	२५६, २६९, २८३
शिष्यहिता	२७०
शीत	२०
शीततरंगिणी	२१४
शीलप्राभृत	१६४
शीलभद्र	१७२, १९१
शीलभद्रसूरि	१९२
शीलवती	२१५
शीलांग	१७६, २७३
शीलोपदेशमाला	२१४
शुक्ल	२८
शुक्ललेश्या	३६
शुद्धदंतिपार्श्वनाथ	३२३
शुभंकरविजय	२७४
शुभकर्म	२२
शुभचंद्र	१५३, २४७, २५६, २८५
शुभवर्धनगणी	२१८
शुभविहायोगति	२०
शुभशील	३१९
शृंगारशतक	२२३
शैलकर्म	५२
शोक	१८
शौरसेनी	२९, ६२
श्यामाचार्य	३०५, ३०७

शब्द	पृष्ठ
श्रमण	१५०, १६४, १७६
श्रमणधर्म	१८, २४३
श्रवण	१६
श्रवणबेलगुल	१३४
श्राद्धगुणविवरण	२७८
श्राद्धगुणश्रेणिसंग्रह	२७८
श्राद्धगुणसंग्रह	२७८
श्राद्धजीतकल्प	२८८
श्राद्धदिनकृत्य	१८५, २८८
श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति	१२९
श्राद्धप्रतिक्रमण	१७५
श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति	२९०
श्राद्धविधि	२८९, २९०
श्राद्धविधिविनिश्चय	३०४
श्राद्धविधिवृत्ति	२९१
श्रावक	१७६, १७७, १८४
श्रावकधर्म	१८, २७३, २७७
श्रावकधर्मतंत्र	२७४
श्रावकधर्मप्रकरण	२०९, २७४
श्रावकधर्मविधान	२७४
श्रावकधर्मविधि	२७७
श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्	२७४
श्रावकप्रज्ञप्ति	२७१
श्रावकप्रतिमा	२७३
श्रावकवक्तव्यता	१८३
श्रावकविधि	२८०
श्रावकाचार	१८०, १८७, २७६, २७७
श्रावकाचारसार	२७७
श्रावकानंदकारिणी	२७५
श्रावस्तीनगरी	३२३
श्रीचंद्र	१७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
श्रीचंद्रसूरि	१७०, १७८, १९२, २७३, २८८, २९८
श्रीतिलक	१८६
श्रीदत्त	२८४
श्रीपालराजानो रास	२३१
श्रीपालसुत डड्ढ	११०
श्रीपुरांतरिक्षपार्श्वनाथ	३२३
श्रीप्रभ	२८८
श्रीप्रभसूरि	२०४
श्रीमाल	२२३
श्रीरत्नी	२०६
श्रीसार	२६५
श्रुत	२८, ६४
श्रुत-अज्ञान	६९
श्रुतकर्ता	६३
श्रुतकेवली	७९, १४९
श्रुतज्ञान	१६, ३६, ६८, ६९, ७४
श्रुतज्ञानावरण	१६
श्रुतज्ञानी	३५
श्रुतदेवता	६२
श्रुतपंचमीकथा	३११
श्रुतबंधु	१५५
श्रुतभक्ति	२९४, २९५
श्रुतसागर	१५९, १६०, १६१, १६३, १६४, २११, २४८
श्रुतावतार	६०, ६३, ६४, ९९
श्रेयांसकुमार	२१३
श्वेताम्बर	२७, १४८
श्वेताश्वरोपनिषद्	८

शब्द	पृष्ठ
ष	
षट्कर्मग्रन्थ	१११
षट्कर्मग्रन्थ-बालावबोध	११३
षट्खण्डशास्त्र	१०९
षट्खण्डसिद्धांत	२७, २८
षट्खण्डागम	२७, २९, १०७, १३८
षट्स्थानकप्रकरण	१८३
षडरचक्रबन्ध	२९७
षडशीति	१११, १२७, १३१, १९०
षष्ठ	१८१
षष्ठितन्त्र	२३५
षष्ठिशत	२११
षोडशक	२३०, २३९
षोडशकारणव्रतोद्यापन	३०४
स	
संकम	९०
संकोच	८
संक्रम	९०, ९३, १०२, ११८
संक्रमकरण	११४, ११५, ११८
संक्रमण	२२, २५, २६, ११६, ११९, १४१
संक्रमणस्थान	९४
संक्षिप्तसंग्रहणी	१७२
संखित्तसंगहणी	१७२
संख्या	२९
संख्याप्ररूपणा	२९
संख्येय	३८, ७०
संगहणिरयण	१७२
संगहणी	१७१
संग्रह	१५७, ३१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
संग्रहणिरत्न	१७२
संग्रहणी	१७१
संघतिलक	१९२
संघतिलकसूरि	२०९, २१२, २१४, २७६
संघपट्टक	२९७
संघाचारविधि	२७९
संघात	७४
संघातन	१९, २३
संघातसमास	७४
संचित	२५
संजम-उवसामणा	९०
संजमक्खवणा	९०
संज्ञा	३०, ३८, ४३, १३५, १७६
संज्ञिमार्गणा	१३५
संज्ञी	२६, ३२, ३८
संज्वलन	१८
संप्रति	२०५
संप्रदाय	२७
संबोधतत्त्व	२२०
संबोधप्रकरण	२२०
संबोधसप्तति	२२०
संबोहपयरण	२२०
संबोहसत्तरि	२२०
संभोग	१८
संभिन्नश्रोतृजिन	५१
संयतासंयत	३१, ३६
संयम	३०, ३६, ४२, ९१
संयममार्गणा	१३५
संयमविषयक उपशामना	९०

शब्द	पृष्ठ
संयमविषयक-क्षपणा	९०
संयमासंयमलब्धि	९७
संलेखना	१७६
संवत्सर	१५६
संवर	१५२
संवेगदेवगणी	२८८
संवेगरंगशाला	२८५
संदेहदोलावली	१९२
संसार	११
संस्कार	१२, १३, १४. २०
संस्थान	१९
संहनन	१९
संहार	११, १२
सकलचंद्र	१८२, २५५
सकलचंद्रगणी	३०५
सकलादेश	८०
सक्यंत्रराजागम	३२१
सचेलक	१६०, २१४
सचेलकता	१४८
सचोद्य	३१४
सज्जन	३२०
सट्ठिसय	२११
सड्ढजीयकप्प	२८८
सड्ढदिणकिच्च	१८५, २७९, २८८
सड्ढविहि	२८९, २९०
सतीशचंद्र विद्याभूषण	१८७
सत्	२९
सत्कर्म	८६, १२४
सत्कर्मपंजिकाकार	८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत	८६	समत्त	९०
सत्कर्मप्राभृत	६७, ८६	समनस्क	१६
सत्तरभेदीपूजा	३०६	समन्वय	११
सत्तरिसयठाणपयरण	१८०	समय	१५६
सत्ता ९, २२, २३, २५, १२१, १२५, १२८, १३०		समयक्षेत्रसमास	१६८
		समयखित्तसमास	१६८
सत्तावस्था	१२१	समयव्याख्या	१५७
सत्त्वस्थान भंग	१३८	समयसार	१५१, २८५
सत्प्ररूपणा	२८, २९, ३१	समयसुन्दर	१६६, १७४, १८२
सत्यपुर	३२४	समयसुन्दरगणी	२९२
सत्यपुरतीर्थ	३२३	समरादित्यसंक्षेप	३२०
सत्यमनोयोग	३२	समवसरणरचना	३२३
सत्यमृषामनोयोग	३२	समवाय	६५
सत्यमृषावचनयोग	३२	समस्तसिद्धांतविषमपदपर्याय	१९२
सत्यवचनयोग	३२	समाधि	१५४
सदाचारी	२०	समाधितन्त्र	२५७
सदासुख	२८२	समाधिद्वात्रिंशिका	२५८
सनत्कुमार	२१६	समाधिभक्ति	२९६
सन्निकर्ष	३०	समाधिराज	२३२
सन्मतिप्रकरण	१५०,२६९	समाधिशतक	१६४, २५७
सन्मतिसूत्र	८१	समिति	१५४
सप्ततिका १०७, ११२, ११५, १२४, १२८		समुत्कर्ष	९६
		समुद्घातगत	३८, १४१, १७७
सप्ततिशतस्थानप्रकरण	१८०	सम्प्रति	३१८
सप्तभंगी	१४९	सम्मत्तपयरण	२०९
सप्तस्मरणस्तव	२९२	सम्मत्तुपायणविहि	२९६
समंतभद्र ६१, ८१, १०९, १५०, १५५, २७२		सम्मूर्च्छिम	४८
		सम्यक्	११
समचतुरस्र	१९	सम्यक्त्व १७, ३०, ३७, ४२, ७५, ९०, ९१, १५४, १७६	
समताकुलक	२५८		
समताशतक	२५८	सम्यक्त्वकौमुदी	२१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
सम्यक्त्वप्रकरण	२०९, २८६
सम्यक्त्वमार्गणा	१३५
सम्यक्त्वमोहनीय	१७
सम्यक्त्व-सप्ततिका	२०९
सम्यक्त्वालंकार	२८६
सम्यक्त्वोत्पत्ति	२९, ४७
सम्यक्त्वोत्पादनविधि	२९६
सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय	१८
सम्यक्मिथ्यादृष्टि	३१, ३७
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका	१४१
सम्यग्दर्शन	१४९
सम्यग्दृष्टि	३७
सम्यग्धारणा	११
सयोगकेवली	३१
सयोगिकेवली	३१, ३५
सरस्वती	२०६
सरस्वतीकल्प	३१६
सरस्वतीमन्त्रकल्प	३११, ३१६
सरोजभास्कर	१५१
सर्पिस्रविजिन	५१
सर्वगुप्त	२८३
सर्वज्ञ	१६२
सर्वज्ञता	१५५
सर्वज्ञत्व	७७
सर्वदर्शनसंग्रह	१०, २१७
सर्वदेवसूरि	२०४
सर्वराज	२८६
सर्वविजय	२१९
सर्वविरति	१८
सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय	१९२
सर्वार्थ	२७
सर्वार्थसिद्धि	३५
सर्वावधिजिन	५१
सर्वौषधिप्राप्तजिन	५१
सलेमसाह	१६६
सल्लक्षण	२०६
सवाईजयसिंह	३२१
सहजमंडनगणी	२११
सहस्रनामस्तवन	२०६
सहस्रमल्ल	२१९
सहस्रावधानी	२५९
सांख्य	१३, १४, १५२
सांपरायिक	१५
सागरचंद्र	२१९
सागरोपम	२१, १७६
सागार	२६७
सागारधर्मामृत	२०५
साचोर	३२४
साता	१७
सातावेदनीय	१७
सातियोग	९६
सात्यकिपुत्र	१६४
सादि	१९
सादि-सांत	४३
साधारण	२०
साधारणशरीर	३२
साधु	२८, ३०, १७६
साधुकल्पलता	३०६
साधुकीर्ति	२९७
साधुधर्म	२७३
साधुप्रतिमा	२७३

शब्द	पृष्ठ
साधुरत्न	१८२, २८७
साधुरत्नसूरि	२९०, २९८
साधुराजगणी	२३७
साधुविजय	२१८
साधुसोमगणी	१९७
साध्वी	१७५
सामञ्ञफल सुत्त	९, १०
सामण्णगुणोवएसकुलय	२२५
सामाआरी	१७९
सामाचारी	१७६, ३००, ३०१
सामाचारीशतक	२९९
सामान्य	३१
सामान्यगुणोपदेशकुलक	२२५
सामायारी	३००, ३०१
सामायिक	६४, १५४, १७६
सामायिकपाठ	२८५
सामायिकशुद्धिसंयत	३६
साम्यशतक	२५८
सारसंग्रह	८१
सारस्वतविभ्रम	२९६
सार्द्धशतक	११३, १२८, १९१
सावगविहि	२८०
सावयधम्मतंत	२७४
सावयधम्मपयरण	२०९
सावयपण्णत्ति	२७१, २७४
सासादनसम्यग्दृष्टि	३१, ३५, ३७
सिंदूरप्रकर	२२२
सिंहतिलकसूरि	३१०
सिंहदत्तसूरि	२१०
सिंहनन्दी	२४८, २५६
सिंहल	८३

शब्द	पृष्ठ
सिंहव्याघ्रलक्षण	१८७
सिंहशिशुक	१८७
सिंहसूरिगणी	२०८
सित	१९
सिद्ध	१४९, १७५, १७८, १८५
सिद्धगति	३१
सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार-पूजनविधि	३१७
सिद्धदण्डिका	१२९
सिद्धपञ्चाशिका	१८५
सिद्धपञ्चाशिकासूत्रवृत्ति	१२९
सिद्धपञ्चासिया	१८५
सिद्धपाहुड़	१८५
सिद्धभक्ति	२९४, २९५
सिद्धयन्त्रचक्रोद्धार	३१७
सिद्धराज	१८५, १८७
सिद्धराज जयसिंह	१७३
सिद्धर्षि	१२५, १९४
सिद्धसूरि	१६९, २७५
सिद्धसेन	१५०, १५५
सिद्धसेनगणी	२२९, २६७
सिद्धसेनसूरि	१७९
सिद्धान्त	५, ७, १०
सिद्धान्तचक्रवर्ती	१३४
सिद्धान्तसार	१८७, २७७, २८१
सिद्धान्तसारोद्धार	१८८
सिद्धान्तसूत्र	१५६
सिद्धान्तार्णव	१८६
सिद्धान्तालापकोद्धार	१८७
सिद्धान्तोद्धार	१८८
सिद्धायतन	५१
सिद्धार्थ	७८, ७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
सिद्धार्थदेव	६४
सिद्धावस्था	३२
सिद्धि	१३, ३०
सिद्धिविनिश्चय	८४
सिरिवालकहा	३१७
सीता	२१५, २१६
सीताचरित	२१६
सीलपाहुड़	१५८, १६४
सीलोवएसमाला	२१४
सुआली	२०४
सुन्दरी	२१५
सुकुमारसेन	३१०
सुकुमाल	२८४
सुख	५, १२, १६, १७
सुखप्रबोधिनी	२९६
सुखबोधसामाचारी	२९८
सुखलालजी	१३
सुखलालजी संघवी	२२८
सुखसागर	३१९
सुखसंबोधनी	१९५
सुखासन	१६१
सुत्तपाहुड़	१५८, १६८
सुगुरुपारतंत्र्यस्तोत्र	२९२
सुदंसणचरिय	२७९
सुदभत्ति	२९४
सुदर्शन	२१५, २४५
सुदर्शना	३१८
सुदर्शनाचरित्र	१२९, १८५
सुधन	२१४
सुधर्मस्वामी	२९२
सुधर्माचार्य	६३
सुधाभूषण	१८६
सुपार्श्वनाथ	३२४
सुबोधप्रकरण	२२५
सुबोधा	२८८
सुभग	२०
सुभद्र	६४
सुभद्रा	२०५, २१५
सुभद्राचार्य	७९
सुभाषितरत्नसन्दोह	२२१, २७६
सुभूम	२४५
सुमति	२९२
सुमतिगणी	१८९, १९०, १९८, २०९
सुमतिवाचक	२८५
सुमतिसुन्दरसूरि	३२४
सुमतिसागर	३०४
सुमतिहंस	१८६
सुमित्र	२१८
सुमेरुचन्द्र	२७
सुरत्तपुत्त	१६४
सुरदत्त	२०५
सुरभिगंध	१९
सुरसुन्दरकुमार	२८९
सुरसेन	२१८
सुलोचना-चरित्र	२८४
सुवर्णभद्र	२८४
सुषिर	८३
सुस्वर	२०
सुहबोहसामायारी	२९८
सुहस्तिसूरि	३१८
सूक्तावली	२२२
सूक्तिमुक्तावली	२२२

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
सूक्ष्म	२०, ३१, ३२
सूक्ष्मसांपरायिकशुद्धिसंयत	३५, ३६
सूक्ष्मार्थ-विचार	१३१
सूक्ष्मार्थ-विचार-सार	१९१
सूत्र	२७, २८, ६६
सूत्रकृत	६५
सूत्रकृतांग	९
सूत्रकृतांगवृत्ति	८
सूत्रप्राभृत	१६०
सूत्रसम	५२
सूरप्रभ	१९०
सूरिमंत्र	३०७
सूरिमंत्रकल्प	३०८
सूरिमंत्रबृहत्कल्पविवरण	३०८
सूरिविद्याकल्प	३०८
सूर्य	७१, १६९, २१५
सूर्यप्रज्ञप्ति	७२
सृष्टि	११
सेत्तुंजकप्प	३१९
सेवार्त	१९
सोगहर-उवएसकुलय	२२५
सोम	२९०
सोमजय	३२४
सोमतिलकसूरि	१७०, १८०, २१४, २८७, २८८
सोमदेव	१५५, २५६, २५९, २६४
सोमदेवसूरि	२१०
सोमधर्मगणी	२०१
सोमप्रभसूरि	१८०, २२२, २८७
सोमशतक	२२२
सोमसुन्दर	३१९
सोमसुन्दरगणी	२११, २९९
सोमसुन्दरसूरि	१८६, २००, २०१, २०२, २१२, २२६, २३७, २४६, २७८, २८९, २९०, ३०३
सोमसूरि	३२३
सौधर्म	३४
सौराष्ट्र	२८
स्कंध	१५०
स्तंभ	९६
स्तंभतीर्थनगर	१९०
स्तंभन	३२३
स्तंभनपुर	३२४
स्तंभनविधान	३१४
स्तबक	१४६
स्तवन	२७३
स्तवपरिज्ञा	२७०
स्तुति	१५५, १७९
स्त्री	१८, २१, ३४, ३९, ६८, १७८
स्त्री-मुक्ति	६७, १४८
स्त्रीवेद	१८, ३५, ६७
स्त्रीवेदी	४१
स्त्यानगृद्धि	१६
स्त्यानर्द्धि	१६
स्थंडिल	१७६
स्थविरकल्पी	१७५
स्थान	६५
स्थानक	१७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
स्थानकवासी	१४६
स्थानकसूत्र	२८१
स्थानसमुत्कीर्तन	२९, ४५, १३८
स्थापत्या	२८९
स्थापनाकृति	३०, ५२
स्थावर	२०
स्थावरदशक	१९, २०
स्थितकल्प	१७५
स्थिति	११, १२, २१, २४, ५२, १३०
स्थिति-अनुभागविभक्ति	९०
स्थितिक	१०२
स्थितिबंध	१५, २२, ३०, ५८, ११७, १३२, २६६
स्थितिविभक्ति	९०, १०१
स्थिर	२०
स्थूलभद्र	२१५, २४५
स्थूलिभद्र	२०५, २१६
स्निग्ध	२०
स्नेह	९६, ११७
स्पर्श	२०, २४, ३०, ५६
स्पर्श-अनुयोगद्वार	५६
स्पर्शनानुगम	२९, ४३
स्पिनोजा	९
स्मरण	२९२
स्याद्वाद	८१, १५३
स्वत	९६
स्वतंत्रतावाद	७
स्वभाव	७, ९

शब्द	पृष्ठ
स्वभावपर्याय	१५४
स्वभाववाद	८, ९
स्वभाववादी	८
स्वयंभू	१४९, १५०
स्वयंभूरमण	७१
स्वरूपावस्थान	१३
स्वाध्याय	१५०
स्वामित्व	२९, ३०, ४८
स्वोदय	३०
ह	
हंस	२१८
हंसरत्न	२६०
हंसराजगणी	२९७
हम्मीर	२९७
हरगोविन्ददास त्रिकमलाल सेठ	२४१
हरि	१७७
हरिकंबिनगर	३२३
हरिबल	२१८
हरिभद्र	११, १११, १२७, १६८, १६९, १७०, १७२, १९१, १९५, १९८, २०२, २०३, २०९, २२०, २२३, २२५, २२९, २३०, २३३, २३५, २५०, २५१, २५२, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७३, २७४, २८६, २९२, ३०५, ३०७
हरिवंशपुराण	२५६
हरिवर्ष	१६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
हरिशंकर कालिदास शास्त्री	१९९, २१९
हर्ता	११
हर्ष	१८२
हर्षकीर्ति	२२२
हर्षकुलगणी	११४, १३३
हर्षपुरीयगच्छ	१९६
हर्षवर्धन	१८२, २६३, २६५
हर्षसेनगणी	३०४
हलधर	१७७, ३२३
हस्तिनापुरस्थ पार्श्वनाथ	३२३
हस्तिमल्ल	३०५
हारिद्र	१९
हास्य	१८, ४६
हिंसा	१७७
हितोपदेशकुलक	२२५
हितोपदेशमाला-प्रकरण	१९८
हितोपदेशमालावृत्ति	१९८
हिमवत्	१६८
हियोवएसकुलय	२२५
हीरविजयसूरि	३०५
हीरविजयसूरिदेशनासुरवेलि	३०६
हीरालाल जैन	२७
हीरालाल हंसराज	२०२, २०७, २४२
हुंड	१९
हेतु	९, ६३
हेतुभूत	११
हेतुहेतुमद्भाव	१०
हेमचंद्रसूरि	२४२, २७८, ३०५, ३०७
हेमतिलकसूरि	१७०, ३१७
हेमप्रभ	१९२
हेमराज पाण्डे	१५१, १५८
हेयोपादेया	१९४
हेलाक	२९०
हैमवत	१६८
हैरण्यवत	१६८
होयल	१८७, २७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक ग्रंथों की सूची

अनेकान्त—वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली ६।

अनेकान्तजयपताका—हरिभद्रसूरि—ओरियन्टल इन्स्टिटयूट, बड़ौदा, सन् १९४०।

आत्ममीमांसा—दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस, सन् १९५३।

आत्मानन्द प्रकाश—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।

आदिपुराण—पुष्पदन्त—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३७।

आप्तमीमांसा—समन्तभद्र—वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, सन् १९६७।

कर्मसिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य—हीरालाल रसिकदास कापड़िया—मोहनलाल जैन ज्ञानभंडार, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९६५।

गणधरवाद—दलसुख मालवणिया—गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९५२।

जिनरत्नकोश—हरि दामोदर वेलणकर—भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, सन् १९४४।

जैन दर्शन—महेन्द्रकुमार जैन—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९५५।

जैनधर्म प्रकाश—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास—हीरालाल र० कापड़िया—मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९५६।

जैन सत्यप्रकाश—अहमदाबाद।

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचंद देसाई—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३३।

दीघनिकाय—राइस डेविड्स—पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन, १८८९-१९११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र—आरा, सन् १९१७।
नमस्कार स्वाध्याय—जैन साहित्य विकास-मंडल, विले पारले, बम्बई।

न्यायसूत्र—

प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४१।

प्राकृत साहित्य का इतिहास—जगदीशचन्द्र जैन—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६१।

बुद्धचरित—धर्मानन्द कोसंबी—नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३७।

भगवद्गीता—

योगदर्शन तथा योगविंशिका—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२।

शास्त्रवार्तासमुच्चय—हरिभद्रसूरि—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९।

श्रमण—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

सन्मति-प्रकरण—सिद्धसेन दिवाकर—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३२।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र—सुखलालजी संघवी, बंबई युनिवर्सिटी सन् १९६१।

सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य—भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टिटयूट, पूना, सन् १९२४।

स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्र—वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, सन् १९५१।

हरिभद्रसूरि—हीरालाल र० कापड़िया—सूरत, सन् १९६३।

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute—Poona.

Descriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

History of Indian Literature, Vol. II—M. Winternitz—Calcutta, 1933.

Jaina Psychology—Mohan Lal Mahta—Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti, Amritsar, 1957.

Journal of the Indian Society of Oriental Arts.

Journal of the Italian Asiatic Society.

Outlines of Indian Philosophy—P. T. Srinivasa Iyengar—Banaras, 1909.

Outlines of Jaina Philosophy—Mohan Lal Mehta—Jain Mission Society, Bangalore, 1954.

Outlines of Karma in Jainism—Mohan Lal Mehta—Bangalore, 1954.

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org